सौन्दर्य शास्त्र के तत्व

पटना विश्वविद्यालय द्वारा 'डी. लिट्.' की उपाधि के लिये स्वीकृत शोध-प्रबन्ध का प्रथम खंड

कुमार विमल

एम० ए०, डी० लिट्०

सौन्दर्य शास्त्र के तत्व

आदरणीय डॉ० नगेन्द्र को

प्रस्तुत प्रवन्ध मे सौन्दर्यशास्त्र की परिधि मे आनेवाले चार प्रमुख कला-तत्त्वो का अध्ययन छायावादी कविता के विशेष सन्दर्भ मे उपस्थित किया गया है। इसमे प्रमुख कला-तत्त्वो के अन्तर्गत सौन्दर्य, कल्पना, बिम्ब और प्रतीक की गणना की गई है। यो विषय, विधान, प्रेषणीयता इत्यादि को भी काव्य एव अन्य ललित कलाओ के प्रमुख तत्त्वो के बीच रखा जा सकता है, किन्तु, मेरी आकाक्षा इस प्रवन्ध को विस्तार की अपेक्षा गहराई देने की ओर अधिक थी। फलस्वरूप विषय-सीमा का निर्धारण करते समय प्रमुख कला-तत्त्वो के अन्तर्गत इन चार तत्त्वो—सौन्दर्य, कल्पना, बिम्ब और प्रतीक को ही विवेच्य विषय के रूप मे स्वीकार किया गया। अत· इस प्रवन्ध मे प्रमुख कला-तत्वो के सौन्दर्यशास्त्रीय अध्ययन या सौन्दर्यशास्त्र के प्रमुख अध्येतव्य तत्वो के विवेचन का आशय ललित कलाओ के उपर्युक्त चार तत्वो का, विशेषकर, काव्य-कला की दृष्टि से किया गया अध्ययन है।

सम्पूर्ण प्रवन्ध मे 'सौन्दर्यशास्त्र' शब्द का प्रयोग ललित कलाओ के प्रमुख तत्त्वो के सैद्धान्तिक निरूपण के अर्थ मे किया गया है। मेरी दृष्टि मे काव्यशास्त्रीय या साहित्यशास्त्रीय अध्ययन तभी परिपूर्ण होता है, जब वह सौन्दर्यशास्त्र के अधीत तत्त्वो और निर्धारित मान्यताओ से आलोक ग्रहण कर निष्पन्न होता है। अत: इस प्रवन्ध मे कविता के उन चार प्रमुख तत्त्वो का, जो मात्रा-भेद से काव्येतर ललित कलाओ के भी प्रमुख तत्त्व हैं, मात्र काव्यशास्त्रीय अध्ययन नही, वल्कि सौन्दर्यशास्त्रीय अध्ययन उपस्थित किया गया है, जिससे दृष्टिकोण की व्यापकता के साथ ही काव्य के अन्तर्गत समाहित कला-तत्त्वो की अधिकार-पूर्ण मीमांसा हो सके।

इस प्रवन्ध को सुनियोजित स्थापत्य देने के लिए इसे दो खण्डो मे बाँट दिया गया है। प्रस्तुत खण्ड मे चार प्रमुख कला-तत्त्वो (सौन्दर्य, कल्पना, बिम्ब और प्रतीक) का सैद्धान्तिक आधार पर सौन्दर्यशास्त्रीय अध्ययन किया गया है। इस सैद्धान्तिक अध्ययन मे किसी विशेष युग की कविता या कला को ध्यान मे नही रखा गया है, वल्कि अध्येतव्य तत्वो को युग-विशेष की सीमा से ऊपर रखकर ललित कलाओ की व्यापक पृष्ठभूमि मे देखा-परखा गया है। दूसरे खण्ड मे (जो प्रकाशनाधीन है) इस खण्ड के सैद्धान्तिक निरूपणो का छायावादी कविता के विशेष सन्दर्भ मे व्यावहारिक अध्ययन-परीक्षण किया गया है।

प्रबन्ध की मूल प्रतिज्ञा को स्पष्ट करने के लिए सबसे पहले 'पूर्वपीठिका' शीर्षक अध्याय के अन्तर्गत काव्यशास्त्रीय अध्ययन और सौन्दर्यशास्त्रीय अध्ययन के पार्थक्य को स्पष्ट करते हुए यह निरूपित किया गया है कि काव्य के प्रमुख तत्त्वो का सौन्दर्यशास्त्रीय अध्ययन (काव्यशास्त्रीय अध्ययन के अलावा) क्यो अपेक्षित है। तदनन्तर इसी अध्याय मे यह प्रतिपादित किया गया है कि काव्य एव अन्य ललित कलाओ के बीच शिल्प-शैली अथवा अभिव्यक्ति के माध्यम की दृष्टि से चाहे जितनी भिन्नता हो, लेकिन तात्त्विक दृष्टि से इन सभी ललित कलाओ मे एक सुदृढ अन्त सबध है और प्रत्येक ललित कला अपने चरम विकास के क्षणो मे अन्य सबद्ध कलाओ का अधिक से अधिक आश्रय ग्रहण करती है। ललित कलाओ के इसी तात्त्विक अन्त सबध और पारस्परिकता की परख के लिए सौन्दर्यशास्त्रीय अध्ययन की आवश्यकता पडती है, क्योकि काव्य या कविता को अन्य ललित कलाओ की व्यापक पृष्ठभूमि से विच्छिन्न कर देखने के अभ्यास के कारण काव्यशास्त्र इस कार्य के लिए अपर्याप्त सिद्ध होता है।

इस प्रबन्ध के सैद्धान्तिक विवेचन मे सौन्दर्यशास्त्र पर किए गए पाश्चात्य चिन्तन का उद्धरणो और पादटिप्पणियो से युक्त विशेष उल्लेख है। इसका औचित्य दो कारणो पर निर्भर है। पहला कारण यह है कि दर्शन की एक स्वतत्र शाखा के रूप मे सौन्दर्यशास्त्र पाश्चात्य चिन्तन से अधिकाशत: सबद्ध रहा है और उसका वह रूप सस्कृत काव्यशास्त्र या भारतीय साहित्य मे नही मिलता है। अत अद्यतन सौन्दर्यशास्त्रीय विवेचन मे पाश्चात्य सौन्दर्य-चिन्तन और कलानुशीलन का प्रचुर, किन्तु, प्रसगानुसार उल्लेख स्वाभाविक है।

इस प्रबन्ध-लेखन मे मेरा दृष्टिकोण जितना तत्त्वपरक एव सैद्धान्तिक रहा है, उतना ऐतिहासिक एव तथ्यपरक नही। फलस्वरूप कई ऐसे प्रसग हैं, जिनमे तात्त्विक विवेचन के तारतम्य को सुरक्षित रखने के लिए हीगेल से पहले क्रोचे का और बाउमगार्तेन से पहले लैंगर का उल्लेख हुआ है। इस प्रसंग मे यह कह देना आवश्यक है कि कला-तत्त्वों का सौन्दर्यशास्त्रीय अनुशीलन एक प्रकार का तत्त्वानुसन्धान है, जिसमे तिथिपरकता या इतिवृत्तात्मक तथ्य-सग्रह का गौण स्थान रहता है।

हिन्दी साहित्य मे इस विषय पर, जहाँ तक मेरी जानकारी है, अबतक कोई सुसम्बद्ध और व्यापक कार्य नही हुआ है। काव्य के प्रमुख तत्त्वो—जैसे, सौन्दर्य, कल्पना, बिम्ब अथवा प्रतीक—पर अलग-अलग विवरणात्मक कार्य हुए हैं, किन्तु, काव्य-कला के इन सभी तत्त्वो का किसी एक प्रबन्ध मे पूर्ण और सागोपाग सौन्दर्यशास्त्रीय अध्ययन अब तक प्रकाश मे नही आया है। तथापि काव्य-रचना के अलग-अलग तत्त्वों के विवेचन-क्रम मे मैंने हिन्दी साहित्य मे किए

गए इस प्रकार के पूर्ववर्ती या समकालीन छिटपुट कार्यों और तत्तत् विषय
प्रबन्धो का उल्लेख अपनी विवेचना के अन्तर्गत यथास्थान, विशेषकर, पाद
टिप्पणियो मे कर दिया है।

इस प्रबन्ध की पहली विशेषता यह है कि इसमे सौन्दर्यशास्त्रीय अध्ययन को एक नई दिशा दी गई है। अब तक हीगेल और क्रोचे जैसे प्रमुख पाश्चात्य विचारको से लेकर सुरेन्द्रनाथ दासगुप्त, कान्तिचन्द्र पाण्डेय, मर्ढेकर और सुरेन्द्र बारलिंगे जैसे भारतीय अध्येताओ तक ने सौन्दर्यशास्त्र को केवल सैद्धान्तिक निरूपण की सीमा मे उपस्थित किया और उसे एक दार्शनिक परिधि मे बाँध रखा। किन्तु, इस 'प्रस्थान ग्रन्थ' मे सौन्दर्यशास्त्र को व्यावहारिक आलोचना के धरातल पर उतारा गया है, जिसका प्रमाण द्वितीय खण्ड के अन्तर्गत छायावादी कविता का सौन्दर्यशास्त्रीय अध्ययन उपस्थित करता है। इस प्रबन्ध की दूसरी विशेषता है—सौन्दर्यशास्त्र या कलाशास्त्र की अधीत और अंगीकृत तात्त्विक मान्यताओ के आधार पर काव्यशास्त्र की एक नई दिशा का सकेत। इस दृष्टि से प्रस्तुत प्रबन्ध मे कल्पना और बिम्बो का सोदाहरण प्रकार निर्धारण शास्त्रीय मनीषा के नवीन गवाक्षो का उद्घाटन करता है। अत: विनत गर्व के साथ कहा जा सकता है कि यह प्रबन्ध कई दृष्टियो से ज्ञान की परिधि का विस्तार करता है और हिन्दी साहित्य मे सौन्दर्यशास्त्रीय या कला-शास्त्रीय मान्यताओं के साहाय्य से निष्पन्न एक ऐसे अद्यतन काव्यशास्त्र का रूप उपस्थित करता है, जिसमे परम्परागत प्रणालियो मे अनुशीलन से आगे बढ कर नवीन चिन्तन और अत्याधुनिक वैज्ञानिक उद्भावनाओ का भी उपयोग किया गया है। इस प्रकार यह शोध-कार्य उन नवीन कलात्मक प्रदेयो के मूल्या-कन का सैद्धान्तिक निकष प्रस्तुत करता है, जिनके गुणावगुणों की समीक्षा के लिए प्रचलित काव्यशास्त्र या आलोचनाशास्त्र मे वाछित व्यवस्था नही है। इस प्रसग मे पुन: यह कह देना अपेक्षित है कि प्रस्तुत प्रबन्ध विशुद्ध वैचारिक और कलाशास्त्रीय तत्त्वो के सैद्धान्तिक एव व्यावहारिक अनुशीलन से निर्मित हुआ है। अत: इसमे किसी इतिवृत्तात्मक तथ्य, तिथिक्रम या हस्तलिखित पाण्डुलिपि की नई खोज नही है। इसकी नवीनता विभिन्न कला-तत्त्वो के सैद्धान्तिक निरूपण को नए संबधो और विचक्षण सन्दर्भों के बीच उपस्थित करने मे है। इस दृष्टि से प्रबन्ध के ये स्थल विशेष ध्यातव्य हैं—ललित कलाओ का तात्त्विक अन्त सबध, शब्द-बोध और वर्ण-बोध अथवा शब्द-तन्मात्रा और वर्णात्मक प्रत्यक्ष की सवेगात्मक पर्युत्सुकता (रिस्पॉन्स), चाक्षुष सौन्दर्य-भावन और नेत्र-मस्तिष्क-सबध, नूतन अन्वेषणो के आलोक मे कल्पना-विवेचन, कल्पना मे स्मृति, प्रत्यभिज्ञा और अनुमान का योग, कल्पना का प्रकार-निर्धारण, सहस वेदनात्मक या मिस्र बिम्ब और ज्ञानलक्षण-प्रत्यक्ष, बिम्बो का वर्गीकरण तथा

कला और विज्ञान के प्रतीको मे पार्थक्य-निरूपण ।

मेरे शोध-कार्य को इस स्थिति तक पहुँचाने मे आचार्य श्री देवेन्द्र नाथ शर्मा के स्नेह और प्रोत्साहन का अविस्मरणीय योग रहा है । इस सिलसिले मे मुझे डा० हरि मोहन मिश्र जी से भी प्रेरणाएं मिलती रही हैं । प्रबन्ध के मुद्रणाधीन होने पर राजकमल प्रकाशन के साहित्य-सलाहकार डा० नामवर सिंह जी ने इसे अधिक से अधिक व्यवस्थित और सुन्दर रूप मे प्रस्तुत करने के लिए जो कई अच्छे सुझाव दिए, उनके लिए मैं उनका आभारी हूँ ।

प्रबन्ध-लेखन की अवधि मे हर प्रसाद दास जैन कालेज (आरा), श्री जैन-सिद्धान्त भवन (आरा), आर० डी० एण्ड डी० जे० कालेज (मुगेर), श्रीकृष्ण सेवासदन (मुगेर), काशी नागरी-प्रचारिणी सभा, बनारस हिन्दू विश्वविद्यालय, प्रयाग विश्वविद्यालय, आगरा विश्वविद्यालय, राजस्थान विश्वविद्यालय, पटना कालेज, पटना विश्वविद्यालय, बिहार राष्ट्रभाषा-परिषद् (पटना) और राम-कृष्ण मिसन-आश्रम (पटना) के पुस्तकालयो तथा ब्रिटिश काउन्सिल लाइब्रेरी (पटना) और सिनहा लाइब्रेरी (पटना) से मुझे पुस्तको की जो सहायता मिली है, उसके लिए मैं इन सस्थाओ के अधिकारियो को हार्दिक धन्यवाद देता हूँ ।

धन्यवाद-ज्ञापन के प्रसग मे सगिनी सुमित्रा जी के सहयोग को भूलना अनुचित होगा, जिन्होंने स्वास्थ्य-सबधी उलझनो के बावजूद इस शोध-प्रबन्ध को बहुत सुरुचि और उत्साह के साथ समय पर टकित कर दिया ।

—कुमार विमल

विषय-सूची

प्रस्तावना

हिन्दी के कुछ प्रमुख विचारको के द्वारा इस मत का अनुसरण—जयशकर प्रसाद और आचार्य शुक्ल—सौन्दर्यशास्त्र काव्यशास्त्र का विकसित रूप—कविता के सौन्दर्यशास्त्रीय अध्ययन की आवश्यकता—कविता का काव्येतर ललित कलाओ के साथ घनिष्ठ सबध—कविता मे अन्य कलाओ के सर्वोत्तम गुणो का समावेश—सभी कलाओ के व्यापक निकष पर कविता के गुणावगुणो का परीक्षण—भारतीय दृष्टि से कविता के कला-पक्ष मे काव्येतर कलाओ का तात्त्विक समावेश—कविता पर अन्य कलाओ का प्रभूत प्रभाव—हिन्दी साहित्य मे कविता के सौन्दर्यशास्त्रीय अध्ययन का अभाव—कविता के सौन्दर्यशास्त्रीय अध्ययन की आवश्यकता पर हिन्दी के वरिष्ठ विद्वानो के विचार—हिन्दी-जगत मे कविता और काव्येतर कला के समन्वय का व्यावहारिक प्रयास—निष्कर्ष ।

ख ललित कलाओ का तात्त्विक अन्तःसबध—तात्त्विक दृष्टि से सभी कलाओ की समानता—सौन्दर्यशास्त्रीय अध्ययन कलाओ के इसी तात्त्विक अन्त सबध पर निर्भर—श्रव्य और दृश्य कलाओ का तात्त्विक अन्त सबध—उस तात्त्विक अन्त सबद्धता का व्यावहारिक अध्ययन—कलाओ के तात्त्विक अन्त सबध का सैद्धान्तिक पक्ष—श्रव्य कला और दृश्य कला स्वर-बोध और वर्ण-बोध की पारस्परिकता—पाश्चात्य मनोविज्ञान की साइनेस्थेसिया—वैज्ञानिक दृष्टि से भी स्वर-बोध और वर्ण-बोध की पारस्परिकता का समर्थन—अर्ल आव लिस्टोवेल और ह्विटर स्मुकरकाण्ड्ल के मन्तव्य—शब्दतन्मात्रा और वर्णात्मक प्रत्यक्ष—स्वर-बोध और वर्णात्म प्रत्यक्ष मे समान सवेगात्मक प्रत्ययंता—स्वर-बोध से वर्ण-बिम्ब की प्राप्ति और वर्णात्मक प्रत्यक्ष से ध्वनि-बिम्ब की प्राप्ति—इस बोध-विपर्यय के तीन प्रकार प्रत्यक्षणात्मक, धारणात्मक और मानसिक—भरत, जे० एल० हॉफमन, बॉदलेयर, अर्थर साइमन्स इत्यादि के विचार—ललित कलाओ का तात्त्विक अन्त सबध और 'कॉरेस्पाण्डेन्स' का सिद्धान्त—स्वेडेनबर्ग और बॉदलेयर की मान्यता—बॉदलेयर की 'कारेसपाण्डेन्स' शीर्षक कविता—जे० चेपगे के विस्तार—'कॉरेस्पाण्डेन्स' का सिद्धान्त और 'श्लोक वार्तिक' मे निरूपित 'ज्ञान लक्षण-प्रत्यक्ष'—ऐन्द्रिय प्रतीतियो का विनिमय और भारतीय प्रमाणवाद या ज्ञान-मीमासा—बोध-विपर्यय और पूर्वसचित सस्कार—ऐन्द्रिय बोधो की पारस्परिक सबद्धता—वर्ण-बोध, दृष्टि-बोध और शरीरविज्ञान—चित्रकला और सगीत कला मे तात्त्विक साम्य—आर० एन० मेन्डूज की मान्यता—दोननबोक के द्वारा रागो के रेखाचित्र का पानयन-भारतीय साहित्य मे 'रागमाला' के चित्र—एडवर्ड हॉवर्ड ग्रिग्स, लैंगर और जॉन डेवी के विचार—लेसिंग, के० एस० रामस्वामी शास्त्री और महादेवी वर्मा के विचार—कलाओ का तात्त्विक अन्त सबध और विंची का 'पैरेगन' —

क्षेमेन्द्र की मान्यता—काव्य और चित्रकला के तात्त्विक साम्य पर... विचार—शास्त्रीय परम्परा के अनुसार काव्य और चित्र—काव्य की... लेखन और चित्रकला—काव्य और चित्र की विषय-वस्तु मे साम्य—चित्रकल.. के छह अगों मे तीन अंग (भाव, लावण्य-योजना और सादृश्य) काव्य मे भी विद्यमान —अवनीन्द्रनाथ ठाकुर के विचार—भारतीय कला-साहित्य मे काव्य और चित्र-कला का समन्वय—डब्ल्यू० जी० आर्थर का मन्तव्य—कृष्ण-काव्य से चित्रकला का विशेष संबंध—पाश्चात्य कला-साहित्य मे काव्य और चित्रकला का समन्वय—बॉदलेयर और कुर्बे, रोजेटी और दान्ते, हल्मन हंट और मिलेस—काव्य और चित्रकला के सगम की दृष्टि से विलियम ब्लैक—यीट्स, एन्थोनी ब्लक और डी० एच० लॉरेन्स के विचार—कला-सगम स्वच्छन्दतावाद (रोमाण्टिसिज्म) की एक विशिष्ट प्रवृत्ति—चित्रकला और सगीत कला मे तात्त्विक साम्य—लय और अनुपात—कलाओ का सयोजन-सिद्धान्त और अनुपात—भारतीय कला-साहित्य मे सगीत कला और चित्रकला की अन्त सबद्धता—रागमाला चित्रो की कल्पना—हीगेल, गित्सन, काण्डिन्स्की प्रभृति पाश्चात्य विचारो के मन्तव्य—नाद और वर्ण का समीकरण—चित्रकला और मूर्तिकला का तात्त्विक अन्त सबध—चित्र कला और स्थापत्य कला का अन्त सबन्ध—स्थापत्य कला सभी कलाओं की जननी—आर० एच० विलेन्स्की के विचार—घनवाद (क्यूबिज्म) चित्र कला पर स्थापत्य के प्रभाव की स्वीकृति—काव्य और स्थापत्य कला का सबध—सगीत कला और स्थापत्य कला का सबध—स्थापत्य कला . 'फ्रोज़ेन म्युज़िक'—सगीत कला : 'फ्लोइग आर्किटैक्चर'—सगीत और स्थापत्य मे सगति, सन्तुलन और सयोजन—विक्टर त्सुकरकाण्ड्ल का मन्तव्य—हीगेल की धारणा—काव्य और संगीत कला का तात्त्विक अन्त सबध—कविता मे लय—आधुनिक कविता मे संगीत का आभ्यन्तरीकरण—कविता मे सगीत . शब्द-सगीत, भाव सगीत और अर्थ-सगीत—कविता मे छन्द और लय की स्वीकृति—काव्य और सगीत की तात्त्विक निकटता का प्रमाण—लय। सभी ललित कलाओ का अनिवार्य तत्त्व—क्रम-संगत लय और क्रमहीन लय—कवियो और संगीतकारो मे साम्य—आर० एस० मेण्ड्ल की मान्यता—पाश्चात्य 'रोमाण्टिक' सगीत और काव्य—लनार्द जी० रैट्नर की धारणा—रोमाण्टिक युग मे संगीत, काव्य और चित्र का गाढ अन्तर्ग्रंथन—प्रभाववादी सगीत, प्रभाववादी चित्रकला और प्रतीकवादी कविता का घनिष्ठ सबंध—भारतीय साहित्य मे काव्य और सगीत की निकटता—हिन्दी के सगीतज्ञ कवि—प्रभाव-वृद्धि मे काव्य और संगीत के पारस्परिक सम्प्लवन का योग—आचार्य शुक्ल के विचार—पन्त, प्रसाद, निराला प्रभृति के विचार—रवीन्द्र नाथ ठाकुर की मान्यतायें और उनके काव्य मे

अभिव्यक्ति मे अविनाभाव संबंध—अभिव्यक्ति की पूर्णता और अपूर्णता से ही 'सुन्दर' और 'कुरूप' का निर्णय—क्रोचे के अनुसार मनुष्य की चार वृत्तियाँ : वीक्षामूलक, तर्कमूलक, व्यवहारात्मक और योगक्षेममूलक—क्रोचे के मत की आलोचना—सहजज्ञान : अन्तर्मुख भावन और अभिव्यक्ति : वहिर्मुख क्रिया—अभिव्यक्ति का गुण कलाकार की विशेषता—सहजज्ञान मे विचार-तत्त्व—सहजज्ञान की सभी अभिव्यक्तियाँ अनिवार्यतः कलात्मक नहीं—नन्दतिक सहजज्ञान मे भी विचार-तत्त्व का समावेश—सामान्य सहजज्ञान और कलात्मक (नन्दतिक) सहजज्ञान मे अन्तर—जाक मारितँ के विचार—सहजज्ञान मे प्रभाव और सवेदन—क्रोचे और काण्ट का सहजज्ञान अभिव्यक्ति की पूर्णता और सौन्दर्य—सौन्दर्य के निर्णय मे बहुमत का प्रश्न—पाश्चात्य रूप-विधानवादियो के विचार—नेत्र-रचना की भिन्नता तथा शारीरिक प्रत्यर्थता के अन्तर की उपेक्षा—व्यक्तिगत रुचि-संस्कारो और आमगो की उपेक्षा—'डिनेमिक सिमेट्री' का सिद्धान्त—समानुभूति का सिद्धान्त, इस सिद्धान्त की आलोचना—तटस्थ भावना का सिद्धान्त—तटस्थता का प्रयोजन—तटस्थता : एक आंशिक अनासक्ति—तटस्थता का सिद्धान्त और भारतीय काव्यशास्त्र—प्रायोगिक सौन्दर्यशास्त्र की सीमाये और उपलब्धिया—सौन्दर्य-बोध और द्रष्टा की रुचि—सौन्दर्य-और प्रत्यर्थता की प्रणाली—भावात्मक सवेग और अभावात्मक सवेग—भावात्मक (पाजिटिव) सवेग और सौन्दर्यानुभूति—सौन्दर्य-भावना और चेता नाडी-सस्थान—प्रायोगिक सौन्दर्यशास्त्र और जीवविज्ञान—सौन्दर्य-भावन और नेत्र-मस्तिष्क-सबध—मानवेतर प्राणियो मे सौन्दर्य-चेतना—सौन्दर्य-चेतना : एक सामाजिक सस्कार—बहुकोपी प्राणियो मे सौन्दर्यप्रियता—चार्ल्स डार्विन का मन्तव्य—सौन्दर्य के प्रति भारतीय दृष्टिकोण—सौन्दर्य और आनन्द—सौन्दर्य-प्रतीति मे सात प्रकार के विघ्न—वीत-विघ्ना प्रतीति और आचार्य शुक्ल की 'अन्तस्सत्ता की तदाकार परिणति'—सौन्दर्यानुभूति और विकलता ; कालिदास तथा रस्किन की दृष्टि—प्राकृतिनेय सौन्दर्य और सार्वकालिक मनोज्ञता—भारतीय सौन्दर्य-चिन्तन मे अत्याधुनिक पाश्चात्य विचारणाओ के बीज—दासगुप्त का मन्तव्य—भारतीय सौन्दर्य-चेतना और धार्मिक आग्रह—भारतीय दृष्टि और अन्तरग सौन्दर्य—शाकर अद्वैतवाद और सौन्दर्य—सौन्दर्यानुभूति और सप्रज्ञात समाधि—सौन्दर्याभिव्यक्ति और अस्मितायोग—सौन्दर्य-बोध और ऋतम्भरा प्रज्ञा—भारतीय कला मे रहस्यमय सौन्दर्य—सौन्दर्य-विवेचन मे 'कुरूप' का सौन्दर्य-चेतना से सबध—सौन्दर्य-बोध और उदात्त-भावन—उदात्त-भावन मे घात और आह्लादन—उदात्त मे विशालता और लोकातिशयता—उदात्त में आकृति-विधान का वैकल्पिक महत्त्व—आत्म-निष्ठता और मानस-चाप की अधिकता—उदात्त . सौन्दर्य का विस्तार-उदात्त

गव-कल्पना—गाणितिक कल्पना—कल्पना का अनिश्चित प्रकार-निर्धारण—निष्कर्ष।

ललित कला के प्रमुख तत्त्वो मे बिम्ब का स्थान—कला का मूर्त्तपक्ष और बिम्ब-विधान—बिम्बो के महत्त्व पर एजरा पाउण्ड और टी० एस० इलियट के विचार—कल्पना से बिम्ब का आविर्भाव—बिम्ब . कल्पना और प्रतीक का मध्यस्थ—बिम्ब और विचार-चित्र मे अन्तर—बिम्ब और रूपक—बिम्ब विधान और चित्रात्मक पुन.प्रत्यक्ष—बिम्ब-विधान मे इन्द्रियानुभूति-निर्भर मानसिक सवेदनो का इन्द्रिय-ग्राह्य रूप—इन्द्रियानुभूति और तन्मात्रायें—इन्द्रियानुभूति की वस्तुनिष्ठता और बिम्बो की मूर्त्तता—बिम्ब-विधान मे सादृश्य तथा तुलना का तत्त्व—उत्कृष्ट बिम्बो मे सवेगो की घनता—बिम्बों की मूर्त्तता और सहृदय की स्मृति—बिम्बो मे दृश्य कला के तत्त्व—बिम्बो के सबंध मे कॉलरिज की धारणा—बिम्ब और प्रत्यक्षोपलब्ध अनुभूतियाँ—बिम्ब-विधान मे स्मृति का योग—बिम्ब-विधान की विविध पद्धतियाँ—चाक्षुष, श्रवण और गतिबोधक बिम्बो की सृजन-सुलभता—बिम्बो के सबध मे युग की धारणा—युग का आद्य बिम्ब-सिद्धान्त (थ्योरी आव आर्कटाइप इमेज)—आद्य बिम्ब और जातीय अनुभूति—बिम्ब-विधान मे आसग और अनुपात-निर्वाह का महत्त्व—उत्कृष्ट बिम्ब-विधान मे सयोजनसूत्रता और सग्रथन-कौशल, बिम्बो मे ताजगी, तीव्रता और उद्बोधनशीलता के गुण पारम्परीण बिम्ब (कन्सैक्रेटेड इमेज) और उद्बोधनशीलता—बिम्बो के प्रकार—लक्षित बिम्ब और उपलक्षित बिम्ब—काव्य के क्षेत्र मे उपलक्षित बिम्ब का महत्त्व—सक्षिप्त बिम्ब और प्रसृत बिम्ब—प्राथमिक बिम्ब विकसित बिम्ब—और व्युत्पन्न बिम्ब—प्राथमिक बिम्ब की रचना मे चेतन मन का योग—मूर्त्तता और सूक्ष्मता के आधार पर बिम्बो का वर्गीकरण . मूर्त्त बिम्ब और अमूर्त्त बिम्ब—इस वर्गीकरण की निरर्थकता—बिम्बो के वर्गीकरण मतैक्य का अभाव—बिम्बो को केवल शब्दाश्रित मानकर किया गया विवेचन—काव्येतर ललित कलाओ की दृष्टि से बिम्बो के सौन्दर्यशास्त्रीय विवेचन की आवश्यकता—ऐन्द्रिय बोध के अनुसार बिम्बो का विभाजन—सकुल अथवा मिश्र बिम्ब और ऐन्द्रिय प्रतीतियो का मिश्रण—चाक्षुष, श्रावण, स्पार्शिक, घ्राणिक, रासनिक, आंगिक अथवा जैव, वेगोद्भेदक (किनेस्थेटिक) और गत्वर बिम्ब—संश्लेषणात्मक चाक्षुष बिम्ब और विश्लेषणात्मक चाक्षुष बिम्ब—कला-जगत् मे चाक्षुष बिम्बो का महत्त्व—चित्रकला के क्षेत्र मे चाक्षुष बिम्बो के प्रधान उपकरण—श्रावण बिम्ब और ध्वनि-कल्पना—स्पार्शिक बिम्ब और शारीरिक

पूर्व पीठिका

क. सौन्दर्यशास्त्रीय अध्ययन का स्वरूप
ख ललित कलाओं का तान्त्रिक अन्तःसंबंध

क—सौन्दर्यशास्त्रीय अध्ययन का स्वरूप

सौंदर्यशास्त्र हिन्दी में 'एस्थेटिक्स' का पर्याय बनकर प्रचलित हुआ है। कुछ लोग इसे नन्दनशास्त्र भी कहते हैं। किन्तु सौन्दर्यशास्त्र के सच्चे स्वरूप और व्यपदेश को अच्छी तरह समझने के लिए 'एस्थेटिक्स' शब्द पर ही विचार करना आवश्यक है। कहा जाता है कि 'एस्थेटिक्स' शब्द ग्रीक भाषा से लिया गया है, जिसका मूल रूप है—'atotiko's'। यही ग्रीक शब्द बाद मे 'Aesthesis' बनकर उपस्थित हुआ, जिसका अर्थ होता है—ऐन्द्रिय सुख की चेतना। तदनन्तर, इस 'Aesthesis' से 'एस्थेटिक' शब्द बना। पाश्चात्य साहित्य मे पहले 'एस्थेटिक' शब्द ही प्रचलित था, 'एस्थेटिक्स' नही। **बाउमगार्तेन** ने भी 'एस्थेटिक' शब्द का प्रयोग किया था। बहुत बाद मे इस शब्द का बहुवचन रूप 'एस्थेटिक्स' प्रचलित हुआ। इस अभिधान का अर्थ-विकास क्रमश. इस प्रकार हुआ है—

१. सर्वप्रथम **बाउमगार्तेन** ने इसका प्रयोग सवेदनशील ऐन्द्रियबोध के शास्त्र के अर्थ मे किया।

२ तत्पश्चात्, **हीगेल** ने इसका प्रयोग ललितकलाओं के दर्शन के अर्थ मे किया।

३. तदनन्तर, इसका सामान्य प्रयोग सौन्दर्य (काव्य का सौन्दर्य अथवा प्रकृति का सौन्दर्य) के विश्लेषणात्मक निरूपण के अर्थ मे होने लगा।

४. अब इस शब्द के अर्थ का सुनिर्णीत व्यपदेश-निर्धारण हो गया है। इसका अर्थ है—ललित कलाओ के तत्त्वो का सैद्धान्तिक निरूपण और उसके आधार पर कलाकृतियों का मूल्याकन। (प्रस्तुत शोध-प्रबन्ध मे 'सौन्दर्यशास्त्र' का प्रयोग इसी अर्थ मे किया गया है।)

इस प्रकार यह आशय निकला कि 'एस्थेटिक्स' का शाब्दिक अर्थ (साथ ही प्रारम्भ में प्रचलित अर्थ) है ऐन्द्रिय प्रत्यक्षो का ज्ञान के माध्यम की दृष्टि से किया गया अध्ययन। किन्तु, बाद मे 'एस्थेटिक्स' उस शास्त्र को कहा जाने लगा, जो ऐन्द्रियबोध से प्राप्त सौन्दर्य-भावन के मनोमय आनन्द का विश्लेषण करता है।[1]

---

१. Encyclopaedia Britanica, eleventh edition, 1910, page 216.

इस प्रसग मे दो बातें ध्यातव्य है। पहली बात यह है कि सौन्दर्यशास्त्र के अन्तर्गत विचारणीय ऐन्द्रिय बोधो या प्रत्यक्षो में प्राय चाक्षुप और श्रावण प्रत्यक्षो की प्रमुखता रहती आई है। दूसरी बात यह है कि सौन्दर्यशास्त्र के अन्तर्गत प्रधानत तीन प्रकार के सौन्दर्य पर विचार किया जाता है—ऐन्द्रिय सौन्दर्य, विधानगत सौन्दर्य और अभिव्यक्तिगत सौन्दर्य। सौन्दर्य के शेष प्रकार भी 'एस्थेटिक्स' के अन्तर्गत विवेचित होते रहे हैं, किन्तु, प्रधानता उक्त तीन प्रकारो को ही मिलती रही है। यहाँ यह धारणा समीचीन मालूम पडती है कि प्रथम अर्थ-विकास के अनुसार 'एस्थेटिक्स' वह शास्त्र है, जिसका सम्बन्ध कला और प्रकृति मे व्याप्त समग्र 'सुन्दर' और 'उदात्त' से है। कहा जाता है कि इसी अर्थ मे 'एस्थेटिक्स' शब्द का प्रचार जर्मनी, फ्रास, इगलैण्ड, इटली और हालैण्ड मे हुआ। इस अर्थारोहण के पश्चात् 'एस्थेटिक्स' का विषय सौन्दर्यानुभूति का सम्पूर्ण क्षेत्र बन गया है।[१] किन्तु, इसके बाद भी 'एस्थेटिक्स' का उचित अर्थ-निर्धारण या व्यपदेश-परिसीमन पूर्णरूपेण नही हो सका।[२] इस अनिर्णीत व्यपदेश या अनिश्चित अर्थ-प्रतिपत्ति का एक प्रमुख कारण यह है कि दर्शनशास्त्र[३] और मनोविज्ञान ने सौन्दर्यशास्त्र के स्वतत्र व्यक्तित्व को अपहृत करने की सर्वाधिक चेष्टा की है। एक ओर पचपगेश शास्त्री ऐसे लेखक हैं, जिन्होंने सौन्दर्यशास्त्र को दर्शनशास्त्र का अनुचर बनाकर यह लिख दिया कि सौन्दर्यशास्त्र रसानुभूति से प्राप्त आनन्द का दार्शनिक विवेचन है[४] और दूसरी ओर चार्ल्स मोरो जैसे मनोविज्ञान-प्रेमी विचारक है, जिन्होंने औचित्य की अवहेलना कर सौन्दर्यशास्त्र को मनोविज्ञान की एक शाखा के रूप मे स्वीकार

---

१. *The Earl of Listowel* A Critical History of Modern Aesthetics George Allen and Unwin, London, 1933, Introduction, page 12

२ "The word 'aesthetic' is not a particularly happy one It is often vaguely used in philosophy as well as in ordinary speech, and, in some quarters, it has become a byword of opprobrium—a sort of symbol of intellectual weakness "—*William Knight*, The Philosophy of The Beautiful · John Murray, London, 1891, Preface, pages 6-7

३ "Aesthetic theory is a branch of philosophy.. .."—*Bernard Bosanquet*, A History of Aesthetic George Allen and Unwin, London, 1949, Preface, page 11.

४ The Philosophy of Aesthetic Pleasure, *P. Panchpagesa Sastri*, Annamalai University, Annamalainagar, 1940

किया है ।[1] किन्तु, हमे यह ध्यान मे रखना है कि दर्शनशास्त्र और मनोविज्ञान की तुलना मे अनेक व्यावर्त्तक गुणो को रखने के कारण सौन्दर्यशास्त्र का स्वतत्र व्यक्तित्व है, जिसका समर्थन आगामी विवेचन से होगा ।

सौन्दर्यशास्त्र के व्यपदेश-निर्धारण की समर्थ चेष्टा हीगेल ने की है। इन्होने अपने प्रसिद्ध ग्रन्थ 'द फिलासफी ऑव फाइन आर्ट' की भूमिका मे सौन्दर्यशास्त्र पर विचार करते हुए यह मन्तव्य व्यक्त किया है कि सौन्दर्यशास्त्र का सम्बन्ध सौन्दर्य के सम्पूर्ण क्षेत्र से माना जा सकता है, किन्तु, सही अर्थ मे सौन्दर्यशास्त्र का सम्बन्ध ललित कलाओ के माध्यम से अभिव्यक्त सौन्दर्य के साथ है, अन्य माध्यमो से अभिव्यक्त सौन्दर्य के साथ नही । हीगेल से पूर्व एक ऐसी धारणा प्रचलित थी, जिसके अनुसार सौन्दर्यशास्त्र को सवेग या ऐन्द्रिय अनुभूतियो का विज्ञान माना जाता था । अत हीगेल ने सौन्दर्यशास्त्र के व्यपदेश-निर्धारण की समस्या को हल करते हुए अपनी दार्शनिक दृष्टि के अनुसार यह लिखा है कि सौन्दर्यशास्त्र ललित कलाओ का दर्शन है ।[2]

तदनन्तर, क्रोचे ने 'एस्थेटिक्स' को अभिव्यक्ति की पुनःप्रत्यक्षात्मक तथा कल्पनात्मक क्रियाओं का विज्ञान माना है ।[3] मतलब यह कि क्रोचे के अनुसार सौन्दर्यशास्त्र का विषय मनुष्य की कल्पना, पुन प्रत्यक्ष और अभिव्यक्ति से सम्बद्ध है । काल की दृष्टि से क्रोचे ने सौन्दर्यशास्त्र को प्राचीन नही, नवीन माना है ।[4] कारण, इनकी दृष्टि मे भी सौन्दर्यशास्त्र का पहला ग्रन्थकार बाउमगार्तेन ही है, जिसने १७५० ई० मे सर्वप्रथम 'एस्थेटिक' नामक एक ग्रन्थ प्रकाशित किया था ।[5] क्रोचे ने बाउमगार्तेन के बाद सौन्दर्यशास्त्र का दूसरा महत्त्वपूर्ण उद्भावक विचो को माना है और क्रोचे का कहना है कि विचो के काल से ही सौन्दर्यशास्त्रीय चिन्तन की एक निश्चित परम्परा प्रारम्भ हुई है । इसी ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य मे क्रोचे ने सौन्दर्यशास्त्र को 'द साइन्स ऑव एक्सप्रेसन'

---

१. Aesthetics and Psychology by *Charles Mauron*, Hogarth Press, London, 1935.

२. G. W. F. Hegel: The Philosophy of Fine Art, Volume I, translated by F. P B. Osmaston, G. Bell and Sons, London, 1920, page 2.

३. " Aesthetics is the science of the expressive (representative or imaginative) activity. "—*Bendetto Croce*, Aesthetic. translated by Douglas Ainslie, Vison Press, Peter Owen, London, 1953, page 155.

४. वही, पृष्ठ १५६ ।

५. वही, पृष्ठ २१२ ।

की व्याख्या देकर स्थापित किया है।

अत्याधुनिक विचारकों में लैंगर ने सौन्दर्यशास्त्र के व्यपदेश और सीमा-विस्तार पर बहुत मौलिक ढंग से विचार किया है। लैंगर का कहना है कि विंकेलमान और हेर्डेर के काल से अब तक कलाओं की प्रवृत्ति और अर्थवत्ता पर चिन्तन-मनन किया जाता रहा है, जिस चिन्तन-मनन के संग्रह-स्वरूप 'एस्थेटिक्स' के नाम से दर्शनशास्त्र का एक अलग निकाय ही बन गया है। इस निकाय (अर्थात् सौन्दर्यशास्त्र) को तभी से भिन्न-भिन्न ढंग से परिभाषित करने की चेष्टा की गई है। इसे 'सुन्दर' का विज्ञान, आस्वादन का दर्शन, ललित कलाओं का विज्ञान या अभिव्यक्ति का विज्ञान कहकर व्यपदिष्ट किया गया है। किन्तु, लैंगर की दृष्टि में ये सभी परिभाषाएँ भ्रामक हैं। कारण आस्वाद, सौन्दर्य या अभिव्यक्ति की दार्शनिक खोजबीन को हम विज्ञान नहीं कह सकते। दूसरी ओर यदि आस्वाद, सौन्दर्य या अभिव्यक्ति को सौन्दर्यशास्त्र का विषय माना जाए, तो इनका क्षेत्र ललित कलाओं के बाद भी फैला हुआ है। अतः इन्हें केवल ललित कलाओं तक सीमित मान लेने में अव्याप्ति दोष है। फलस्वरूप, लैंगर का मत है कि सौन्दर्यशास्त्र ललितकलाओं के दार्शनिक विकल्पों और समस्याओं का सैद्धान्तिक निरूपण है।[1] कला-जगत् की ये दार्शनिक समस्याएँ प्रायः आस्वाद, सौन्दर्य, संवेग, विधान, पुनः प्रत्यक्ष इत्यादि से सबद्ध हैं, जिनका स्पष्ट संकेत लैंगर ने किया है।[2] तदनन्तर, लैंगर ने सौन्दर्यशास्त्र के व्यपदेश की चर्चा करते हुए एक महत्त्वपूर्ण प्रश्न उठाया है कि सौन्दर्यशास्त्र का सम्बन्ध अभिव्यक्ति ('एक्सप्रेशन') से है अथवा प्रभाव (इम्प्रेशन) से? कलाकार की दृष्टि से, रचना-पक्ष की दृष्टि से कला का अध्ययन अभिव्यक्ति का अध्ययन है और पाठक या सहृदय की दृष्टि से अथवा भावन की दृष्टि से कला का अध्ययन प्रभाव का अध्ययन है।[3] अतः लैंगर ने कलादर्शन की दृष्टि से भावन अर्थात् प्रभाव वाले पक्ष को महत्त्व दिया है तथा प्रभाव-पक्ष के विवेचन-विश्लेषण को ही सौन्दर्यशास्त्र का प्रधान विवेच्य विषय माना है,[4] न

---

१. *Susanne K Langer*, Feeling And Form · Routledge and Kegan Paul, London, 1953, page 12

२. "In broadest outline these ideas, which occur again and again in different guises and combinations, are : Taste, Emotion, Form, Representation, Immediacy and Illusion. Each of them is a strong 'Leitmotiv' in philosophy of art"— *Susanne K Langer*, Feeling and Form, page 13

३. *Susanne K Langer*, Feeling And Form, page 13-14

४. वही, पृष्ठ १८।

कि क्रोचे की तरह अभिव्यक्ति के विवेचन को। इस तरह क्रोचे और लैंगर विषय की दृष्टि से सौन्दर्यशास्त्र के दो कोटिवादो का प्रतिनिधित्व करते हैं।

आधुनिक युग के भारतीय विचारको मे सौन्दर्यशास्त्र पर काम करने वालो की सख्या बहुत ही नगण्य है। डॉ० के० सी० पाण्डेय, मर्ढेकर, के० एस० रामस्वामी शास्त्री इत्यादि जैसे कुछ लेखक हैं ('ललित कलाओ का तात्त्विक अन्तःसम्बन्ध' शीर्षक उपखण्ड मे निर्दिष्ट), जिन्होंने सौन्दर्यशास्त्र के व्यपदेश और विषय-सीमा पर विचार किया है। किन्तु, इन विचारणाओ मे कोई मौलिकता नही है, केवल पाश्चात्य सौन्दर्यशास्त्रियो का ऋजु अथवा तिरश्चीन अनुकरण है। जैसे, के० एस० रामस्वामी शास्त्री ने क्रोचे के अनुकरण पर यह लिख दिया है कि सौन्दर्यशास्त्र कला मे अभिव्यक्त सौन्दर्य का विज्ञान है।[1] इसी तरह डॉ० के० सी० पाण्डेय ने क्रोचे और हीगेल के विचारो का समन्वय स्थापित कर यह धारणा व्यक्त की है कि सौन्दर्यशास्त्र ललित कलाओ का विज्ञान (क्रोचे का मत) और दर्शन (हीगेल का मत) है।[2]

वस्तुत: सौन्दर्यशास्त्र के व्यपदेश और अर्थ को समझने मे तभी भ्रान्ति होती है, जबकि सौन्दर्यशास्त्र को तत्त्वदर्शन 'मेटाफिजिक्स' और मनोविज्ञान के साथ मिला दिया जाता है। अत सौन्दर्यशास्त्र को तत्त्वदर्शन के साथ तिल-तैलवत् नही मिला देना चाहिए। कारण, सौन्दर्यशास्त्र का तत्त्वदर्शन से उतना ही सम्बन्ध है, जितना कि मानविकी के एतादृश अन्य विषयो का तत्त्वदर्शन के साथ है। इसी तरह सौन्दर्यशास्त्र को मनोविज्ञान से मिलाकर आच्छन्न कर देना एक भारी भूल है, क्योकि सौन्दर्यशास्त्र मनोविज्ञान से उतना ही सबद्ध और भिन्न है, जितना कि मनोविज्ञान से काव्यशास्त्र। यह निश्चित है कि सौन्दर्यशास्त्र के कुछ सूत्रो की विवेचना मे मनोविज्ञान की सहायता आवश्यक है, किन्तु, मनोविज्ञान सौन्दर्यशास्त्र की सीमा नही है और न सौन्दर्यशास्त्र मनोविज्ञान की स्वायत्त सम्पत्ति है। अत: मैंने कविता के प्रमुख तत्त्वो की सौन्दर्यशास्त्रीय विवेचना करते समय तत्तद्विषयक प्रत्येक अध्याय के प्रारम्भ मे उन तत्त्वो का मनोवैज्ञानिक, जीववैज्ञानिक और दार्शनिक विवेचन भी संक्षेप

---

१. "Aesthetics is the science of beauty as expressed in Art."—*K S. Ramswami Sastri*, Indian Aesthetics, Srirangam, Sri Vani Vilas Press, 1928, page 1.

२. "...the word 'Aesthetics' stands for Science and Philosophy of Fine Art."—Dr. *K. C. Pandey*, Comparative Aesthetics, Volume I, The Chowkhamba Sanskrit Series, Banaras, 1950, page XV.

में कर दिया है ताकि उन तत्त्वों के सौन्दर्यशास्त्रीय स्वरूप के वैशिष्ट्य को समझने में कोई भूल-भ्रान्ति न रहे।

सौन्दर्यशास्त्र के स्वरूप और व्यपदेश को अच्छी तरह हृदयगम करने के लिए सौन्दर्यशास्त्र तथा काव्यशास्त्र के अन्तर को समझ लेना आवश्यक है। इन दोनों शास्त्रों के अन्तर या पार्थक्य को अनेक विचारकों ने विभिन्न मात्रा में और विभिन्न प्रकार से उपस्थित किया है। जैसे, जार्ज सन्तायना ने काव्य-शास्त्र और सौन्दर्यशास्त्र के अन्तर को निर्दिष्ट करते हुए लिखा है कि काव्य-शास्त्रीय आलोचना में निर्णय की प्रधानता रहती है, जबकि सौन्दर्यशास्त्रीय अध्ययन में प्रतिबोधन या प्रत्यक्षीकरण (पर्सेप्शन) को प्राथमिकता दी जाती है[१], क्योंकि सन्तायना की दृष्टि में सौन्दर्यशास्त्र का सर्वाधिक सम्बन्ध मूल्य-बोध के साथ है।[२] सौन्दर्यशास्त्र के सन्दर्भ में मूल्य-बोध को इस प्रकार अत्यधिक महत्त्व देने का कारण यह है कि सन्तायना ने सौन्दर्य को मूल्य का ही एक प्रकार माना है।[३] यहां स्पष्ट है कि सन्तायना की उपर्युक्त मान्यता का मूल्य-दर्शन (एक्जियॉलॉजी) की दृष्टि से जो भी महत्त्व हो, किन्तु यह मान्यता व्यावहारिक दृष्टि से सौन्दर्यशास्त्र और काव्यशास्त्र के अन्तर को निर्दिष्ट करने में असमर्थ है।[४] दूसरी ओर सौन्दर्यशास्त्र और काव्यशास्त्र के स्वरूप तथा पार्थक्य पर एकदम व्यावहारिक दृष्टि से सोचनेवाले ऐसे विचारक हैं, जिन्हें किसी प्रकार से दार्शनिक चिन्तन के लिए धैर्य धारण करना स्वीकार नहीं है। उदाहरणार्थ, सैंट्सबरी ने काव्यशास्त्रीय आलोचना को सौन्दर्यशास्त्र से नितान्त पृथक् रखने की वकालत की है। सैंट्सबरी ने आलोचना का इतिहास लिखते समय पहले ही अध्याय में यह धारणा व्यक्त की है कि सौन्दर्य-शास्त्र के महत्त्वाकांक्षी सिद्धान्तों और हृदयावर्जक नन्दतिक रचनाओं को आलोचना के साथ मिला देने पर आलोचनाशास्त्र की अपेक्षित 'निर्णय-भावना'

---

१ *George Santayana*, The Sense of Beauty, Dover Publication Inc, New York, 1955, page 16.

२ " aesthetics is concerned with the perception of values "—*George Santayana*, The Sense of Beauty, Dover Publication, Inc, New York, 1955, page 16

३. " beauty is a species of value."—*George Santayana*, The Sense of Beauty, Dover Publication, New York, Inc., 1955, page 20

४. *Willard E. Arnett*, Santayana and the Sense of Beauty, Indiana University Press, Bloomington, 1957, page 135.

धूमिल और खण्डित हो जाती है।[1]

मेरी दृष्टि मे भारतीय काव्यशास्त्र और पाश्चात्य सौन्दर्यशास्त्र का तुलनात्मक अध्ययन करने से काव्यशास्त्र और सौन्दर्यशास्त्र का स्वरूपभेद या साम्य अधिक सटीकता के साथ निर्दिष्ट किया जा सकता है। इस प्रश्न पर भारतीय विचारक प्राय दो खेमो मे बँट गए हैं। एक खेमे मे वे विचारक आते है, जिन्हे 'पुरातन-प्रतिपादन' बहुत ही प्रिय है और जिनके लिए ज्ञान-विज्ञान की अच्छी या बुरी सभी नव्यतम उपलब्धियो को भारत के प्राचीन वाङ्मय मे ढूंढ लेना अभीष्ट है। ऐसे विचारको मे **श्री के० एस० रामस्वामी** का नाम उल्लेखनीय है। इन्होने इस धारणा का खण्डन किया है कि सौन्दर्यशास्त्र एक पाश्चात्य शास्त्र है और भारत मे काव्यशास्त्र रहा है, किन्तु सौन्दर्यशास्त्र कदापि नही। इस सामान्य धारणा के विपरीत इन्होने अपनी पुस्तक 'इण्डियन एस्थेटिक्स' में यह मत बहुत बल के साथ प्रतिपादित किया है कि सौन्दर्यशास्त्र केवल पाश्चात्य देशो मे ही विकसित नही हुआ है, बल्कि भारतवर्ष मे भी इसकी स्पष्ट परम्परा है।[2] इस परम्परा को ध्यान मे रखते हुए इन्होने भारतीय सौन्दर्यशास्त्र की कुछ अनन्वय विशेषताओ का निर्देश किया है। जैसे—भारतीय सौन्दर्यशास्त्र मे आनन्द और रस की धारणा[3] अथवा **अभिनवगुप्त** द्वारा निरूपित काव्य-तत्त्वो के बीच 'चारुत्वप्रतीति' की धारणा। ऐसे लचीले दृष्टिकोण से देखने पर हम तथाकथित भारतीय सौन्दर्यशास्त्र के अन्तर्गत **क्षेमेन्द्र** के 'औचित्य-सिद्धान्त' को विशेष महत्त्वपूर्ण मान सकते हैं, क्योकि यह औचित्य-सिद्धान्त काव्य की तरह अन्य ललित कलाओ पर भी सामान्य रूप से लागू होता है। इस दृष्टि से **क्षेमेन्द्र** की **'औचित्य-विचार-चर्चा'** विचारणीय है। **क्षेमेन्द्र** के अलावा अन्य विचारको ने भी औचित्य के रूप और प्रकार का विश्लेषण किया है। जैसे, **भोज** ने औचित्य के निम्नलिखित प्रकारो का निरूपण

---

१. George Saintsbury A History of Criticism, Volume I, William Blackwood and Sons, London, 4th edition, Chapter I, page 3

२. " . not only is outer India a home of beauty and romance but...inner India is even more truly such a home Indian art and Aesthetics have a history extending over thousands of years..."—*K S R. Sastri*, Indian Aesthetics, 1938, page 1.

३. रस और आनन्द की धारणा का समन्वय उपस्थित करते हुए मम्मट ने लिखा है—"सकल प्रयोजन मौलिभूतं समनन्तरमेव रसास्वादनसमुद्भूत विगलित वेद्यान्तरमानन्दम्।" —काव्यप्रकाश, चौखम्बा विद्याभवन, बनारस-१, १९५५, प्रथम उल्लास, पृष्ठ ५।

किया है[1]—१ विषयौचित्य, २ वाच्यौचित्य, ३. देशौचित्य, ४. समयौचित्य, ५ वस्तुविषयौचित्य और ६ अर्थौचित्य।[2] आशय यह है कि रस-सिद्धान्त से भी बढ़कर औचित्य-विचार ही भारतीय सौन्दर्यशास्त्र का वह आधार-सूत्र है, जो सभी ललित कलाओं पर समान रूप से लागू हो सकता है। सचमुच, औचित्य की भावना रस, ध्वनि इत्यादि सभी काव्य-तत्त्वों की मूल भावना है। क्षेमेन्द्र ने उस तत्त्व का 'औचित्य-विचार-चर्चा' में मुख्य निरूपण किया है। उन्होंने बार-बार इसे कहना चाहा है कि औचित्य ही रस का प्राण है—

औचित्यस्य चमत्कारकारिणश्चारु चर्वणे।
रसजीवितभूतस्य विचारं कुरुतेऽधुना॥

अतः भारतीय आलोचनाशास्त्र के तीन प्रमुख सिद्धान्तों—रस-सिद्धान्त, ध्वनि-सिद्धान्त और औचित्य-सिद्धान्त—में अन्तिम सिद्धान्त ही वह व्यापकतम सिद्धान्त है, जो सभी ललित कलाओं के लिए एक सर्वमान्य निकष प्रस्तुत कर सकता है।

इस प्रकार भारतवर्ष के विचारकों का एक वर्ग सौन्दर्यशास्त्र को काव्यशास्त्र, अलंकारशास्त्र, साहित्यशास्त्र या साहित्यविद्या का पर्याय मानता है। किन्तु, ऐसा मानना दूसरे वर्ग के विचारकों की दृष्टि में अनुचित है, क्योंकि काव्यशास्त्र केवल काव्य का शास्त्र है और उसके अध्ययन की सीमा केवल काव्य तक सीमित है, जबकि सौन्दर्यशास्त्र सभी ललितकलाओं का शास्त्र है और उसकी सीमा काव्य के साथ सभी काव्येतर कलाओं—स्थापत्य, मूर्ति, चित्र और संगीत तक फैली हुई है।[3] इसलिए सौन्दर्यशास्त्र मात्र काव्यशास्त्र नहीं, बल्कि कलाशास्त्र है। इस तथ्य को हम दूसरे ढंग से भी उपस्थित कर सकते हैं कि काव्यशास्त्र सौन्दर्यशास्त्र की एक अंगीभूत शाखा है, कारण, काव्यशास्त्र जहाँ केवल काव्य को प्रधानतः दृष्टि में रखकर उसकी आलोचना या अभिशंसन

---

१ Dr. Suryakant Ksemendra Studies, Poona, 1954, page 74.

२. भोज ने 'शृंगार प्रकाश' के ग्यारहवें खण्ड में अपने ग्रन्थ के महत्त्व को निर्दिष्ट करते हुए लिखा है कि इस ग्रन्थ में उस औचित्य का भी निरूपण है, जो अखिल कला-काव्य के मूल में सन्निविष्ट है—"अस्मिन् शृंगारप्रकाशे सुप्रकाशमेव अशेषशास्त्रार्थं सपदुपनिषदाम् अखिल कला-काव्य—औचित्य—कल्पना—रहस्याना च सन्निवेशो दृश्यते।" भोज की इस उक्ति से औचित्य-सिद्धान्त की विश्वव्यापकता और कलाशास्त्रीय महत्त्व पर प्रकाश मिलता है। वस्तुतः, औचित्य ही रस की भी परा उपनिषद् (परम रहस्य) है।

३. *V. Raghavan*, Some Concepts of the Alankar Sastra, page 263

प्रस्तुत करता है, वहाँ सौन्दर्यशास्त्र सभी ललित कलाओ के सर्वसामान्य, किन्तु, प्रधान तत्त्वो का आलोचन और विश्लेषण प्रस्तुत करता है। अत सौन्दर्यशास्त्र के निष्कर्ष प्राय सभी ललित कलाओ को दृष्टि मे रखकर निकाले जाते हैं, जबकि काव्यशास्त्र के निष्कर्ष केवल काव्य को लक्ष्यकर निकाले जाते हैं, यद्यपि काव्यशास्त्र अपनी मान्यताओ के स्थापन मे सौन्दर्यशास्त्रीय अध्ययन और उसके निष्कर्षों का साहाय्य लेता है। ततोऽप्यधिक, काव्यशास्त्रीय अध्ययन भी तभी परिपूर्ण और उत्तम होता है, जबकि वह सौन्दर्यशास्त्र के अधीत तत्त्वो और निर्धारित मान्यताओ से आलोक ग्रहण कर निष्पन्न होता है। इसलिए प्रस्तुत प्रबन्ध मे चार प्रमुख काव्य-तत्त्वो का मात्र काव्यशास्त्रीय अध्ययन नही, बल्कि सौन्दर्यशास्त्रीय अध्ययन उपस्थित किया गया है ताकि दृष्टिकोण की व्यापकता के साथ ही काव्य के अन्तर्गत समाहित सामान्य कला-तत्त्व की अधिकारपूर्ण समीक्षा हो सके।

तदनन्तर, काव्यशास्त्र और सौन्दर्यशास्त्र मे एक ध्यातव्य अन्तर यह है कि सौन्दर्यशास्त्र मे कलाओ के सूक्ष्म तात्त्विक सिद्धान्त-परिकल्पन पर विशेष बल दिया जाता है, जबकि काव्यशास्त्र मे रस-विवेचन, शब्द-शक्ति-विश्लेषण जैसे कुछ ही स्थलो पर सूक्ष्म-तात्त्विक सिद्धान्त-परिकल्पन की प्रसगवश आवश्यकता पडती है। इसीलिए **एस० कुप्पूस्वामी शास्त्री** ने जहाँ **वामन** के **'काव्यालंकार-सूत्र'** के 'सौन्दर्यमलकार' को ध्यान मे रखते हुए अलकारशास्त्र (काव्यशास्त्र) को सौन्दर्यशास्त्र कहना चाहा है, वहाँ उन्हे इसका खटका बना रहा है कि अलकारशास्त्र या काव्यशास्त्र मे सौन्दर्यशास्त्र की सर्वोपरि विशेषता—सूक्ष्म तात्त्विक सिद्धान्त-परिकल्पन—का समावेश कर लेना कठिन है।[१] इस तरह अलकारशास्त्र या काव्यशास्त्र और सौन्दर्यशास्त्र का एक ध्यातव्य अन्तर स्पष्ट हो जाता है। **शास्त्री** की तरह **एस० के० डे** ने भी सस्कृत काव्यशास्त्र को आधुनिक सौन्दर्यशास्त्र का समीपी माना है,[२] किन्तु वे भी इसके प्रति सचेत हैं कि सौन्दर्यशास्त्र मे जिस दार्शनिक निरूपण की प्रधानता रहती है, वह काव्यशास्त्र मे नही रहता।[३] इसी मान्यता को तूल देते हुए श्री डे ने संस्कृत काव्यशास्त्र पर आधुनिक सौन्दर्यशास्त्र की दृष्टि से अपने दो निबन्धो मे विचार किया

---

१. *S Kuppuswami Sastri*, Highways And Byways of Literary Criticism In Sanskrit, Madras, 1945, page 4.

२. *S K De*, History of Sanskrit Poetics, Calcutta, 1960, Preface, page 2

३. *S K De*, History of Sanskrit Poetics, Calcutta, 1960, Preface, page 3

है, जो निबन्ध 'सम प्राब्लेम्स ऑव संस्कृत पोयटिक्स' नामक पुस्तक में संगृहीत हैं।[१] इस प्रसंग में श्री डे ने संस्कृत काव्यशास्त्र और आधुनिक सौन्दर्यशास्त्र के पार्थक्य को निरूपित करते हुए दो प्रमुख बातों की ओर विचारकों का ध्यान आकृष्ट किया है। उनकी दृष्टि में पहली बात यह है कि संस्कृत काव्यशास्त्र का व्याकरण से घनिष्ठ सम्बन्ध रहा है,[२] जबकि आधुनिक सौन्दर्यशास्त्र का व्याकरण से कोई सीधा सम्बन्ध नहीं है।[३] विशेषकर, भामह और वामन की कृतियाँ संस्कृत काव्यशास्त्र पर व्याकरण के आधिपत्य की घोषणा करती हैं। दूसरी बात यह है कि संस्कृत काव्यशास्त्र में उस कल्पना-तत्त्व की विचारणाओं को उचित महत्त्व नहीं मिल सका, जिसे आधुनिक सौन्दर्यशास्त्रीय अध्ययन में सर्वोच्च स्थान दिया जाता है। कवि के कल्पना-विधान में ही वह शक्ति रहती है, जिसके चलते उसकी कृति को एक पृथक् व्यक्तित्व और स्वतन्त्र महत्त्व की उपलब्धि हो पाती है। किन्तु संस्कृत काव्यशास्त्र प्रतिभा-विवेचन को छोड़कर अन्य प्रसंगों में कल्पना-तत्त्व की अवहेलना कर परम्परा और निर्धारित नियमों के उस आलोक में काव्य-कृतियों का अध्ययन करता रह गया, जो कवि तथा उसकी कृति के स्वतन्त्र व्यक्तित्व को अनालोचित छोड़ देता है। फलस्वरूप, संस्कृत काव्यशास्त्र का विकास पूर्णांग सौन्दर्यशास्त्र के रूप में नहीं हो सका।[४]

पाश्चात्य सौन्दर्यशास्त्र और भारतीय काव्यशास्त्र के अन्तर को स्पष्ट करते हुए डॉ० के० सी० पाण्डेय ने लिखा है कि भारतीय काव्यशास्त्र में पाश्चात्य सौन्दर्यशास्त्र की तरह काव्येतर कलाओं के विवेचन की प्रवृत्ति नहीं है। किन्तु, काव्य के क्षेत्र में भारतीय काव्यशास्त्र को नाटक अधिक प्रिय है, जिसके चलते भारतीय काव्यशास्त्र में अन्य कलाओं का प्रसंगवश उल्लेख हो

---

१. *S K De*, Some Problems of Sanskrit Poetics, Calcutta, 1959, pages 1—53.

२. जैसे, भामह के 'काव्यालंकार' और वामन के 'काव्यालंकार सूत्र' ऐसे काव्यशास्त्रीय ग्रन्थों में व्याकरण का समावेश। भामह ने तो काव्यशास्त्र को ध्यान में रखते हुए व्याकरण की प्रशंसा में यहाँ तक कह दिया है कि व्याकरण के दुरवगाह समुद्र को पार किये बिना कोई व्यक्ति शब्द-रत्न तक पहुँचने में समर्थ नहीं हो सकता—

नापारयित्वा दुर्गाधममुं व्याकरणार्णवम् ।
शब्दरत्नं स्वयंगम्यमलं कर्तुमयं जनः ॥

—भामह, काव्यालंकार, षष्ठ परिच्छेद, ३.

३. *S. K De*, Some Problems of Sanskrit Poetics, Firma K L. Mukhopadhyay, Calcutta, 1959, page 2.

४. *S K De*, Some Problems of Sanskrit Poetics, Calcutta, 1959, page 45.

गया है, क्योकि नाटक तो काव्य, सगीत, चित्र और स्थापत्य—सभी कलाओ का समुच्चय है। भरत की यह उक्ति प्रसिद्ध है—

न तज्ज्ञानं न तच्छिल्पं न सा विद्या न सा कला।
न स योगो न तत्कर्म यन्नाट्येऽस्मिन्न दृश्यते॥[1]

अत भारतीय सौन्दर्यशास्त्र की प्रारम्भिक सीमा नाट्यशास्त्र है।[2] इस प्रकार भारतीय सौन्दर्यशास्त्र की विकास-रेखा को निर्दिष्ट करते हुए यह कहा जा सकता है कि यहाँ सबसे पहले नाट्यशास्त्र का विकास हुआ, दूसरी दशा मे काव्यशास्त्र (जिसमे नाट्यशास्त्र भी गतार्थ है) का और अन्त मे इन विकास-दशाओ के समीकरण से सौन्दर्यशास्त्र का अवतरण हुआ। तदनन्तर, डॉ० के० सी० पाण्डेय ने भारतीय सौन्दर्यशास्त्र और पाश्चात्य सौन्दर्यशास्त्र मे एक प्रमुख अन्तर बतलाया है कि भारतीय विचारक मूर्तिकला और चित्रकला को उस रूप मे स्वतन्त्र महत्त्व नही देते, जिस रूप मे हीगेल या अन्य पाश्चात्य सौन्दर्य-शास्त्रियो ने दिया है। भारतीय विचारको ने प्राय मूर्त्तिकला और चित्रकला को स्थापत्य की अगीभूत कला के रूप मे स्वीकार किया है। अत के० सी० पाण्डेय का मत है कि भारतीय सौन्दर्यशास्त्र मे पाँच नही, तीन ही कलाओ (स्थापत्य, सगीत और काव्य) को महत्त्व दिया गया है।[3]

मेरे विचार से भारतीय काव्यशास्त्र मे पाश्चात्य सौन्दर्यशास्त्र की तरह सभी ललित कलाओ पर इसलिए विचार नही किया जा सका कि संस्कृत काव्य-शास्त्र मे काव्य की गणना विद्या मे की जाती रही और कलाओ की गणना उपविद्या मे। निश्चय ही, काव्य और कला के इस वर्ग-भेद ने सस्कृत काव्य-शास्त्र के आचार्यों को समग्र ललित कलाओ के विवेचन से पृथक् रखा। इसी कारण काव्यालंकारसूत्र, ध्वन्यालोक, वक्रोक्तिजीवित, काव्यमीमांसा, काव्य-प्रकाश, साहित्य-दर्पण, रसगंगाधर इत्यादि ग्रन्थो मे काव्येतर कलाओ पर विचार नही किया गया है। भारतीय काव्यशास्त्र मे यह सिद्धान्ततः कहा गया है कि कलाएँ क्रियात्मक हैं और विद्याएँ ज्ञानात्मक। किन्तु, विद्याओ की सूची देखने मे वास्तविकता कुछ भिन्न मालूम पडती है। यो तो विद्याएँ चौदह मानी गई हैं, जिनमे चार वेद, छह वेदाग (शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, छन्द और ज्योतिष) तथा चार शास्त्र (पुराण, आन्वीक्षिकी, मीमासा

---

१. नाट्यशास्त्र, भरत, १-११६।

२. *Dr. K. C. Pandey*, Comparative Aesthetics, Volume I, Banaras, 1950, page 1

३. *Dr. K. C. Pandey*, Comparative Aesthetics, Volume II, Banaras 1956, pages 3–4.

और स्मृति) स्वीकृत हैं, किन्तु, कुछ आचार्य काव्य (जो अब ललित कलाओं में एक है) को भी उसमें पन्द्रहवाँ स्थान देते हैं। जैसे, यायावरीय राजशेखर का मत है कि चौदह विद्याएँ भू, भुवर् और स्वर—तीनों लोकों में व्याप्त हैं, किन्तु, इन चौदह विद्याओं के अतिरिक्त काव्य पन्द्रहवाँ विद्या-स्थान है, क्योंकि यह सभी विद्याओं का एकमात्र आधार है। काव्य के गद्य-पद्यमय होने और हितोपदेशपरक रहने के कारण सभी शास्त्र इस काव्य-विद्या का अनुसरण करते हैं। अतः राजशेखर का कथन है—"सकल विद्या स्थानैकायतन पंचदश काव्य विद्यास्थानम्।"[1] किन्तु, कला और विद्या के क्षेत्रीय अन्तर को स्पष्ट रखने के लिए विद्याओं की चतुर्दश संख्या ही मान्य होनी चाहिए। यों तो विद्याओं के संख्या-अप्रमाण में कई पुराने आचार्य राजशेखर से भी चार डग आगे हैं, जिनमें भार्गव, बृहस्पति, कौटिल्य और गोभिल उल्लेखनीय हैं। इन आचार्यों ने तर्क, त्रयी, वार्त्ता और अर्थशास्त्र को मिलाकर विद्याओं की संख्या अठारह घोषित कर दी है। इस प्रकार संस्कृत काव्यशास्त्र के आचार्यों ने काव्य की गणना विद्या में करके और कलाओं की गणना उपविद्या में करके काव्य तथा कलाओं के बीच एक ऐसी मोटी दीवार खड़ी कर दी कि यहाँ सौन्दर्यशास्त्रीय अध्ययन या समग्र ललित कलाओं के तात्त्विक विचार का मार्ग ही अवरुद्ध हो गया। बाद में हिन्दी के कुछ प्रमुख विचारकों ने भी इसी मार्ग का अनुसरण किया, जिसके चलते हिन्दी-आलोचना-साहित्य में सौन्दर्यशास्त्रीय अध्ययन का विकास बहुत दिनों तक बाधित रह गया। आधुनिक हिन्दी साहित्य के इन विचारकों में जयशंकर प्रसाद और आचार्य रामचन्द्र शुक्ल प्रधान हैं। प्रसादजी ने संस्कृत आचार्यों के अनुरूप काव्य की गणना विद्या में और कलाओं की गणना उपविद्या में की है। प्रसादजी के कला-सिद्धान्त पर टिप्पणी देते हुए उनके विशिष्ट प्राक्कथन-लेखक आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी ने यह मत व्यक्त किया है कि "कला शब्द का भारतीय व्यवहार पाश्चात्य व्यवहार से भिन्न है। यहाँ कला केवल छन्द-रचना के अर्थ में व्यवहृत हुई, इसीलिए काव्य को नहीं, समस्यापूर्ति को गणना कला में की गई। स्पष्ट ही काव्य केवल समस्यापूर्ति नहीं है, समस्यापूर्ति या छन्द तो उसका वाहनमात्र है—बिना सवार का घोड़ा।"[2] किन्तु प्रसादजी कलाओं में काव्य के अन्तर्गणन का विरोध तर्क के बदले परम्परा की दृष्टि से करते हैं। उनका कहना है कि "यह वर्गीकरण परम्परागत विवेचनात्मक जर्मन दार्शनिक शैली का वह विकास है,

---

1. राजशेखर, काव्य मीमांसा, द्वितीय अध्याय।

2. काव्य, कला तथा अन्य निबन्ध, जयशंकर प्रसाद, भारती भण्डार, प्रयाग, चतुर्थ संस्करण, प्राक्कथन, पृष्ठ [illegible] ।

जो पश्चिम मे ग्रीस की विचारधारा और उसके अनुकूल सौन्दय-बोध के सतत अभ्यास से हुआ है।"[1] अपने मत की पुष्टि मे प्रसादजी ने दण्डी, अभिनव-गुप्त और भामह के उन स्थलो को उद्धृत किया है, जहाँ काव्य और कला को भिन्न वर्गो मे उपस्थित किया गया है। इसी प्रकार आचार्य शुक्ल ने भी काव्य को कलाओ से भिन्न माना है। पाश्चात्य कला-विभाजन, विशेषकर हीगेलीय कला-सूची को आलोचित करते हुए उन्होने लिखा है, "सौन्दर्यशास्त्र मे जिस प्रकार चित्रकला, मूर्त्तिकला आदि शिल्पो का विचार होने लगा, उसी प्रकार काव्य का भी, सबसे बेढगी बात तो यह हुई।"[2] शुक्लजी ने अभिव्यजनावाद की चर्चा मे भी काव्य को कलाओ के भीतर गिनने का घोर विरोध किया है—"सारा उपद्रव काव्य को कलाओ के भीतर लेने से हुआ है। इसी कारण काव्य के स्वरूप की भावना भी धीरे-धीरे बेल-बूटे और नक्काशी की भावना के रूप मे आती गई। हमारे यहाँ काव्य की गिनती चौंसठ कलाओ मे नही की गई है। इसी से यहाँ वाग्वैचित्र्य के अनुयायियो द्वारा चमत्कारवाद, वक्रोक्ति-वाद आदि चलाए जाने पर भी इस प्रकार का वितण्डावाद नही खडा किया गया। इधर हमारी हिन्दी मे भी काव्य-समीक्षा के प्रसग मे 'कला' शब्द की बहुत उद्धरणी होने लगी है। मेरे देखने मे तो हमारे काव्य-समीक्षा-क्षेत्र मे जितनी जल्दी यह शब्द निकले, उतना ही अच्छा। इसका जड पकडना ठीक नही।"[3] इस तरह प्रसादजी और आचार्य शुक्ल के उपर्युक्त मन्तव्य मे यद्यपि परम्परागत पूर्वाग्रह के सिवा कोई तर्क-पुष्ट तथ्य नही है, तथापि ऐसे मन्तव्य के प्रभाव से हिन्दी-आलोचना-साहित्य मे सौन्दर्यशास्त्रीय अध्ययन या समग्र ललित कलाओ के तात्त्विक विवेचन का मार्ग बहुत दिनो तक बाधित रह गया और केवल संस्कृत काव्यशास्त्र से ही मिलते-जुलते ढग पर हिन्दी-आलोचना का विकास होने लगा। अत पाश्चात्य सौंदर्यशास्त्र की भाँति भारतीय साहित्य मे (फलस्वरूप हिन्दी साहित्य मे भी) कला के सामान्य स्वरूप और विभिन्न कलाओ के रूपो के निरूपण की कोई दीर्घ और सम्पन्न परम्परा नही है।[4] इस प्रकार यह सिद्ध होता है कि सौन्दर्यशास्त्र का क्षेत्र काव्यशास्त्र की अपेक्षा अधिक व्यापक तथा विशाल है, क्योंकि काव्यशास्त्र केवल शब्दो के माध्यम से निर्मित काव्य का विवेचन-विश्लेषण करता है जबकि सौन्दर्यशास्त्र भास्कर्य, चित्र, सगीत आदि

---

१. काव्य, कला एव अन्य निबन्ध, प्रसाद, भारती भण्डार, प्रयाग, चतुर्थ संस्करण, पृष्ठ ७७।

२. आचार्य शुक्ल, चिन्तामणि, भाग २, पृष्ठ १७७-१७८।

३. आचार्य शुक्ल, चिन्तामणि, भाग २, पृष्ठ १८०।

४. डॉ० रामानन्द तिवारी शास्त्री, सत्यं शिव सुन्दरम्, पी-एच० डी० की उपाधि के लिए स्वीकृत शोध-प्रबन्ध, राजस्थान विश्वविद्यालय, नवम्बर, १९५७।

सभी ललित कलाओं में व्यक्त चारुत्व और नैपुण्य को अपनी विषय-सीमा में स्वीकार करना है।[1]

ऐतिहासिक दृष्टि से ऐसा प्रतीत होता है कि सौन्दर्यशास्त्र का स्वतंत्र विकास सभी ललित कलाओं के अपने-अपने शास्त्र और विशेषकर काव्यशास्त्र के विकास के बाद हुआ है। इस प्रसंग में यहाँ तक कहने का साहस किया जा सकता है कि सौन्दर्यशास्त्र काव्यशास्त्र का ही विकसित और कला-चैतन्य से समन्वित रूप है। पाश्चात्य और पौर्वात्य—दोनों प्रकार के काव्यशास्त्रों की परम्परा के आनुक्रमिक अध्ययन से पता चलता है कि काव्यशास्त्र के विश्लेषण का प्रधान विषय (काव्य की परिमिति में व्यक्त) वह सौन्दर्य ही है, जो सौन्दर्य-शास्त्रीय अध्ययन का भी मूलाधार है। जिस प्रकार पाश्चात्य काव्यशास्त्र में हम 'ब्यूटी', 'एक्सेलेन्स', 'सब्लाइम' इत्यादि का अध्ययन पाते हैं, जो शब्द-भेद से 'सौन्दर्य' का ही अध्ययन है, उसी प्रकार हम भारतीय काव्यशास्त्र में भी (जिसे कभी-कभी 'क्रियाकल्प' या 'काव्यकल्प' कहा गया है[2]) सौन्दर्य, चारुता, चमत्कार, विच्छित्ति, वक्रता अथवा शोभा का तलस्पर्शी अध्ययन पाते हैं।[3]

तदनन्तर, भारतीय काव्यशास्त्र और पाश्चात्य सौन्दर्यशास्त्र में एक अन्तर यह है कि भारतीय काव्यशास्त्र में रस, ध्वनि इत्यादि के नाम से काव्य के आत्मतत्त्व की गवेषणा को प्रधानता दी गई है जबकि पाश्चात्य सौन्दर्य-शास्त्र में सौंदर्य के संवेदनात्मक पक्ष को प्रमुखता मिली है। अत पाश्चात्य कला-शास्त्र में सौन्दर्य के संवेदनात्मक पक्ष का विवेचन अधिक हुआ है। हम देख चुके हैं कि सौन्दर्यशास्त्र के यूरोपीय अभिधान 'एस्थेटिक' का अनुषंग ऐन्द्रिय और संवेदनामय अधिक है। काण्ट ने संवेदनाओं के दार्शनिक विवेचन को ही 'एस्थेटिक' का नाम दिया है। इसलिए एक व्यापक शास्त्र के अभिधान के रूप में

स्वीकृत हो जाने पर भी आज तक 'एस्थेटिक' शब्द का संवेदनात्मक अनुपग अवशिष्ट है। फलस्वरूप, अधिकांश पाश्चात्य कला-विचारक अद्यावधि कला मे व्यक्त सौन्दर्य के संवेदनात्मक पक्ष को अधिक महत्त्व देते है, जिसे हम एक विशिष्ट प्रवृत्ति के रूप मे भारतीय काव्यशास्त्र मे नही पाते।

इस प्रकार काव्यशास्त्र और सौन्दर्यशास्त्र, विशेषकर भारतीय काव्यशास्त्र और पाश्चात्य सौन्दर्यशास्त्र के स्वरूप-भेद को अच्छी तरह हृदयगम कर लेने के बाद कविता के सौन्दर्यशास्त्रीय अध्ययन की आवश्यकता और उसके प्रयोजन पर विचार करना वाछनीय है।

कविता के सौन्दर्यशास्त्रीय अध्ययन की आवश्यकता इसलिए है कि कविता का काव्येतर कलाओ के साथ घनिष्ठ सम्बन्ध है[1] और कविता भी अन्य कलाओ की तरह मनुष्य के सृजनात्मक अन्तर्मन की एक रचनात्मक क्रिया है। इतना ही नही, कविता अपने भाव-निवेदन की व्यापकता एव अन्य विशेषाधिकृत क्षमताओ के कारण सभी ललितकलाओ के सर्वोत्तम गुणो को स्वायत्त किये रहती है। अत कई आधुनिक विचारको ने कविता को कला के व्यापक अर्थ मे स्वीकार किया है।[2] किन्तु, यह ध्यातव्य है कि उक्त कथन का आशय कविता को अन्य ललितकलाओ का पर्याय मान लेना नही है। उक्त कथन का आशय यह है कि जहाँ कविता एव अन्य ललितकलाओ मे रूप, शैली और अभिव्यक्ति के माध्यम से सबद्ध अनेक पार्थक्य है तथा इन सबकी अनेक निजी विशेषताएँ है, वहाँ कविता और अन्य ललितकलाओ के बीच ऐसे तात्त्विक साम्य और अन्तःसम्बन्ध भी है, जिन्हे उपेक्षणीय नही माना जा सकता। कविता और अन्य ललितकलाओ के बीच इन्ही तात्त्विक साम्य और अन्त.-सम्बन्धो के कारण कविता का अध्ययन केवल काव्यशास्त्रीय दृष्टि से ही नही, बल्कि सौन्दर्यशास्त्रीय दृष्टि से भी किया जाना चाहिए ताकि कविता के गुणाव-गुणो का परीक्षण समग्र कलाओ के व्यापक निकप पर हो सके और कविता की कुछ गण्य विशेपताएँ ललितकला के मानक के रूप मे उद्घाटित हो सके। तदनन्तर, भारतीय दृष्टि से यद्यपि काव्य कला के प्रकारो मे परिगणित नहीं

---

१. भामह ने भी कविता की इस व्यापकता का सकेत किया है। इन्होंने लिखा है कि वह शब्द नहीं, वह अर्थ नहीं, वह न्याय नहीं, वह कला नहीं, जो काव्य का अग न बनती हो—

> न स शब्दो न तद्वाच्यं न स न्यायो न सा कला।
> जायते यन्न काव्याङ्गमहो भारो महान्कवे॥

भामह, काव्यालकार, पचम परिच्छेद, ४।

२. *Jacques Maritain*, Creative Intuition In Art And Poetry : The Harvill Press, London, 1954, page 3.

है, तथापि भारतीय दृष्टि मे भी काव्य को उत्कर्ष प्रदान करने के लिए कवि को विभिन्न कलाओ से सहायता लेने का अधिकार प्राप्त है। अर्थात्, भारतीय दृष्टि मे भी कविता के कला-पक्ष मे काव्येतर कलाओ का समावेश वर्जित नहीं है। अत जिस सौन्दर्यशास्त्र मे प्राय सभी ललितकलाओ की सैद्धान्तिक पीठिका का समीक्षण-आलोचन रहता है, उसकी मान्यताओ के आलोक मे काव्य का भी विवेचन-विश्लेषण अवश्य होना चाहिए। इस तथ्य को स्वीकार करने मे किसी विप्रतिपत्ति की आवश्यकता नही प्रतीत होती कि कविता पर अन्य कलाओ का प्रभूत प्रभाव है। इसलिए कविता को सर्वदा कला के व्यापक क्षेत्र से बहिष्कृत कर देखना उचित नही है। पुन. जैसा कि पहले कहा जा चुका है, भारतीय परम्परा के अनुसार भी काव्यशास्त्र के ग्रन्थो मे काव्य के कलात्मक अश और काव्येतर तत्त्व-समागम की कदर्थना नही की गई है। इसलिए ललितकलाओ की व्यापक पटभूमि पर काव्य का अध्ययन आवश्यक है। कविता के एतादृश, व्यापक और तात्त्विक विवेचन को ही कविता का सौन्दर्य-शास्त्रीय अध्ययन कहा जाता है।

हिन्दी-आलोचना-साहित्य मे कविता के उक्त सौन्दर्यशास्त्रीय अध्ययन का नितान्त अभाव है। कुछ छिटपुट निबन्धो, पुस्तको और शोध-प्रबन्धो मे (जिनका उल्लेख इस प्रबन्ध के आगामी पृष्ठो मे यथास्थान किया गया है और जिनकी सूची यहाँ पुनरावृत्ति से बचने के लिए नही दी जा रही है) ऐसे अध्ययन का प्रयास किया गया है, किन्तु, वांछित सौन्दर्यशास्त्रीय दृष्टिकोण और तात्त्विक विश्लेषण के अभाव मे वह प्रयास परिपूर्ण, सर्वांगीण और तत्त्व-निरूपक नहीं हो सका है। लेकिन यह प्रसन्नता का विषय है कि हिन्दी साहित्य मे भी अब अनेक विचारक कविता के इस सौन्दर्यशास्त्रीय अध्ययन की आवश्य-कता महसूस करने लगे हैं। डॉ० नगेन्द्र, आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी, आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी, डॉ० वासुदेवशरण अग्रवाल, महादेवी वर्मा, आचार्य नलिनविलोचन शर्मा प्रभृति विचारको ने इस दिशा की ओर विशेष सकेत किया है। डॉ० वासुदेवशरण अग्रवाल ने इस बात पर बहुत बल दिया है कि कला की आँख से साहित्य और साहित्य की आँख से कला को देखना हमारे वर्तमान साम्कृतिक युग की एक महती आवश्यकता है।[1] इस दृष्टिकोण को तूल

देते हुए डॉ० अग्रवाल ने आधुनिक आलोचना मे हिन्दी कविता के सौन्दर्य-शास्त्रीय अध्ययन का पुरज़ोर समर्थन किया है। इनका कहना है कि "हिन्दी के साथ भी ललितकलाओ का सम्बन्ध पर्याप्त घनिष्ठ रहा है; कारण कि रीतियुग की एक विशेष परिपाटी के अनुसार साहित्य की अभिव्यक्ति के साधन नायक-नायिका एव राग-रागिनियो को चित्रात्मक रूप देने का प्रयत्न भारतीय चित्रकला मे किया गया। हमारे प्रतिभाशाली कवियो ने लोक की रहन-सहन, वेप-भूपा, आभूषण-परिच्छद, सगीत-वाद्य, अस्त्र-शस्त्र आदि उपकरणो का अपने ग्रन्थो मे यथास्थान वडे सुन्दर ढग से सन्निवेश किया है। साहित्य मे इस सामग्री का वर्णन और कला मे इसी का चित्रण देखा जाता है। कला के स्वरूप को सागोपाग जानने के लिए साहित्य से इन भावो और शब्दो का दोहन हिन्दी साहित्य का अत्यन्त आवश्यक कार्य है। कला के मार्मिक ज्ञान के बिना साहित्यिक अध्ययन और साहित्य की सूक्ष्म जानकारी के विना कला की समीक्षा सकुचित रह जाती है, क्योकि कला और साहित्य दोनो का समान भाव से योजक रस-तत्त्व एक ही है। जिस लोक-जीवन की उमग ने साहित्य और कला को एक साथ ही जन्म दिया, उसके समग्र रूप का परिचय साहित्य और कला के साथ-साथ अध्ययन पर ही निर्भर है।"[१] इस प्रकार आधुनिक हिन्दी आलोचना मे कविता के सौन्दर्यशास्त्रीय अध्ययन की आवश्यकता अथवा उपयोगिता सर्वथा प्रकट है।

इधर कुछ पत्रिकाओ के प्रकाशन से भी इस रुचि-विकास का पता चलता है। जैसे, काशी से 'कला-निधि' नामक पत्रिका का प्रकाशन हिन्दी के विद्वानो द्वारा काव्य और अन्य कलाओ मे सौन्दर्यशास्त्रीय दृष्टि से समन्वय स्थापित करने का एक प्रयास था। इसी तरह 'आर्ट्स एनुअल' के नाम से निकलने वाली पत्रिका,[२] जिसका सम्पादन ए० कुमारस्वामी और ओ० सी० गांगुली करते थे, ललितकलाओ के पारस्परिक अन्त सम्बन्ध को दृष्टि मे रखते हुए कला के सौन्दर्यशास्त्रीय अध्ययन के निमित्त एक दिशा-निर्देश थी।

इस प्रकार स्पष्ट है कि सभी ललित कलाओ के व्यापक तत्त्व-निवेश की

कालिदास और वाणभट्ट, तिलकमजरी और यशस्तिलकचपू—इस साहित्य में कला की प्रभूत सामग्री विद्यमान है।"—डॉ० वासुदेवशरण अग्रवाल, कला-निधि, वर्ष १, अंक १, काशी, पृष्ठ १८।

१. डॉ० वासुदेवशरण अग्रवाल, 'भारतीय कला का अनुशीलन', कला-निधि, वर्ष १, श्रावण २००५ विक्रम, अक १, काशी, पृष्ठ १८-१९-२०।

२. The 4 Arts Annual, 1936-37, edited by A. Coomarswamy, O. C. Ganguly, Corporation Street, Calcutta.

दृष्टि से काव्य का अध्ययन आवश्यक है, जिसे हम काव्य का सौन्दर्यशास्त्रीय अध्ययन कहते हैं। अत प्रस्तुत शोध-प्रबन्ध के अन्तर्गत प्रथम और द्वितीय खण्ड मे, क्रमश , कविता के ऐसे चार प्रमुख तत्त्वो को, जो सभी ललितकलाओ के तत्त्व निवेश मे प्रमुख स्थान रखते हैं, छायावादी कविता के विशेष सन्दर्भ मे रखकर इसी सौन्दर्यशास्त्रीय दृष्टि से विवेचित करने का एक विनम्र प्रयास किया गया है।

इस प्रकार सौन्दर्यशास्त्रीय अध्ययन के स्वरूप से सम्बद्ध प्रमुख स्थापनाओ को निम्नलिखित रूप मे प्रस्तुत किया जा सकता है—

१– ऐन्द्रिय प्रत्यक्षो का ज्ञान के माध्यम की दृष्टि से किया गया अध्ययन सौन्दर्यशास्त्र की सीमा नही है, क्योकि सौन्दर्यशास्त्र मुख्यत ऐन्द्रिय बोध से प्राप्त सौन्दर्य-भावन के मनोमय आनन्द का विश्लेषण करता है।

२–सौन्दर्यशास्त्र का सम्बन्ध ललितकलाओ के माध्यम से अभिव्यक्त सौन्दर्य के साथ है, अन्य माध्यमो से अभिव्यक्त सौन्दर्य के साथ नही। इस तरह सौन्दर्यशास्त्र ललितकलाओ के दार्शनिक विकल्पो और समस्याओ का सैद्धान्तिक निरूपण है, क्योकि कला-जगत् की दार्शनिक समस्याएँ प्रायः सौन्दर्य, आस्वाद, सवेग, पुन प्रत्यक्ष इत्यादि से ही सम्बद्ध रहती हैं।

३–सौन्दर्यशास्त्र को कुछ विचारको ने तत्त्व-दर्शन या मनोविज्ञान के साथ मिला दिया है, जो अनुचित है। कारण, सौन्दर्यशास्त्र का तत्त्व-दर्शन से उतना ही सम्बन्ध है, जितना कि मानविकी के एतादृश अन्य विषयो का तत्त्व-दर्शन के साथ है। इसी तरह सौन्दर्यशास्त्र मनोविज्ञान से उतना ही सम्बद्ध और भिन्न है, जितना कि मनोविज्ञान से काव्यशास्त्र। यह सच है कि सौन्दर्य-शास्त्र के कुछ सूत्रो की विवेचना मे मनोविज्ञान की सहायता आवश्यक है, किन्तु मनोविज्ञान सौन्दर्यशास्त्र की सीमा नही है।

४–सौन्दर्यशास्त्र के स्वरूप को अच्छी तरह समझने के लिए सौन्दर्य-शास्त्र तथा काव्यशास्त्र के अन्तर को स्पष्ट कर देना आवश्यक है। काव्यशास्त्र केवल काव्य का शास्त्र है और उसके अध्ययन का क्षेत्र केवल काव्य तक सीमित है, जबकि सौन्दर्यशास्त्र सभी ललितकलाओ का शास्त्र है और उसकी सीमा काव्य के साथ काव्येतर कलाओ—स्थापत्य, मूर्ति, चित्र और सगीत तक फैली हुई है। इसलिए सौन्दर्यशास्त्र मात्र काव्यशास्त्र नही, बल्कि कला-शास्त्र है। इस प्रकार काव्यशास्त्र जहाँ केवल काव्य को दृष्टि मे रखकर उसकी आलोचना या अभिज्ञान प्रस्तुत करता है, वहाँ सौन्दर्यशास्त्र सभी ललित-कलाओ के सर्वसामान्य, किन्तु, प्रधान तत्त्वो का विवेचन और विश्लेषण प्रस्तुत करता है। अत सौन्दर्यशास्त्र के निष्कर्ष प्राय सभी ललितकलाओ को दृष्टि मे रखकर निकाले जाते है, जबकि काव्यशास्त्र के निष्कर्ष केवल

काव्य को लक्ष्य कर निकाले जाते हैं। यो काव्यशास्त्र कभी-कभी अपनी मान्यताओ के निरूपण मे सौन्दर्यशास्त्रीय अध्ययन और उसके निष्कर्षों की सहायता लेता है।

५—काव्यशास्त्र और सौन्दर्यशास्त्र मे दूसरा ध्यातव्य अन्तर यह है कि सौन्दर्यशास्त्र मे कलाओ के सूक्ष्य तात्त्विक सिद्धान्त-परिकल्पन पर विशेष बल दिया जाता है, जबकि काव्य-शास्त्र मे रस-विवेचन, शब्द-शक्ति-विश्लेषण इत्यादि के कुछ ही प्रसगो मे सूक्ष्म तात्त्विक सिद्धान्त-परिकल्पन की आवश्यकता पडती है।

६—तीसरी बात यह है कि काव्यशास्त्र, विशेपकर सस्कृत-काव्यशास्त्र का व्याकरण से घनिष्ठ सम्बन्ध रहा है, जबकि आधुनिक सौन्दर्यशास्त्र का व्याकरण से कोई सीधा सम्बन्ध नही है।

७—चौथी बात यह है कि काव्यशास्त्र मे उस कल्पना-तत्त्व की विचारणाओ को उचित महत्त्व नही मिल सका, जिसे सौन्दर्यशास्त्रीय अध्ययन मे सर्वोच्च स्थान दिया जाता है। सस्कृत-काव्यशास्त्र मे भी प्रतिभा-विवेचन को छोडकर अन्य प्रसगो मे कल्पना-तत्त्व की अवहेलना कर दी गई है। कुल मिलाकर सौन्दर्यशास्त्र का क्षेत्र काव्यशास्त्र की अपेक्षा अधिक व्यापक तथा विशाल है, क्योकि काव्यशास्त्र केवल शब्दो के माध्यम से निर्मित कला (काव्य) का विवेचन-विश्लेषण करता है, जबकि सौन्दर्यशास्त्र भास्कर्य, चित्र, सगीत आदि सभी ललितकलाओ मे व्यक्त चारुत्व और नैपुण्य को अपनी विषय-सीमा मे स्वीकार करता है।

८—कविता के सौन्दर्यशास्त्रीय अध्ययन की आवश्यकता इसलिए है कि कविता का काव्येतर कलाओ के साथ घनिष्ठ सम्बन्ध है और कविता भी अन्य कलाओ की तरह मनुष्य के सृजनात्मक अन्तर्मन की एक रचनात्मक क्रिया है। इतना ही नही, कविता अपने भाव-निवेदन की व्यापकता एव अन्य विशिष्ट क्षमताओ के कारण सभी ललितकलाओ के सर्वोत्तम गुणो को स्वायत्त किये रहती है। इस तरह कविता एव अन्य ललितकलाओ मे जहाँ रूप, शैली और अभिव्यक्ति के माध्यम से सम्बद्ध अनेक पार्थक्य हैं तथा इन सभी कलाओ की अनेक निजी विशेपताएँ हैं, वहाँ कविता और अन्य ललितकलाओ के बीच ऐसे तात्त्विक साम्य और अन्त सम्बन्ध भी हैं, जिन्हे उपेक्षणीय नही माना जा सकता है। कविता और अन्य ललितकलाओ के बीच इन्ही तात्त्विक साम्य और अन्त सम्बन्धो के कारण कविता का अध्ययन केवल काव्यशास्त्रीय दृष्टि से ही नही, बल्कि सौन्दर्यशास्त्रीय दृष्टि से भी किया जाना चाहिये ताकि कविता के गुणावगुणो का परीक्षण समग्र ललितकलाओ के व्यापक निकष पर हो सके और कविता की कुछ गण्य विशेषताएँ ललितकला के मानक के रूप मे उद्घाटित हो सकें।

ख—ललितकलाओं का तात्त्विक अन्तःसंबध

कविता के सौन्दर्यशास्त्रीय अध्ययन की आवश्यकता और औचित्य को प्रतिपादित करने का मुख्य आधार है—ललितकलाओ का तात्त्विक अन्त सबध। इस तात्त्विक अन्त सबध पर गम्भीरतापूर्वक विचार करने से यह प्रतीत होता है कि शैली, शिल्प, अभिव्यक्ति-भगिमा और प्रेषणीयता के माध्यम की दृष्टि से कलाओ मे चाहे जितनी भिन्नता हो, किन्तु, तत्त्व-समास की दृष्टि से सभी कलाएँ समान है और इनमे एक तात्त्विक अन्त सबध अनिवार्य रूप मे विद्यमान है। कल्पना, बिम्ब, प्रतीक, प्रेषणीयता, विषय, विधान इत्यादि अनेक ऐसे प्रमुख और गौण तत्त्व है, जो स्थापत्य, मूर्ति, चित्र, काव्य और सगीत—सभी ललितकलाओ मे समान रूप से समाविष्ट हैं। इन सभी तत्त्वो के विनियोग मे विविध कलाओ के क्षेत्र में मात्रा-भेद अवश्यम्भावी है, जैसे—काव्य मे कल्पना की अधिकता, सगीत मे प्रेषणीयता की अधिकता, चित्र मे चाक्षुष सौन्दर्य की प्रचुरता, मूर्ति और स्थापत्य मे विषय-रूप स्थूल साधनो की अधिकता—किन्तु, इन तत्त्वों की अनिवार्य उपस्थिति मे किसी निषेध की गुजाइश नही है। अत इन तत्त्वों की अनिवार्य उपस्थिति ही ललितकलाओ के पारस्परिक अन्त सबध को प्रमाणित करती है तथा कविता के सौन्दर्यशास्त्रीय अध्ययन की आवश्यकता और औचित्य को न्याय्य घोषित करती है।

कविता का अध्ययन इन दो उत्कृष्ट दृष्टिकोणो से किया जा सकता है—काव्यशास्त्रीय दृष्टिकोण और सौन्दर्यशास्त्रीय दृष्टिकोण। काव्यशास्त्रीय दृष्टिकोण से किये गए अध्ययन मे कविता की उत्कृष्टता-अपकृष्टता का विश्लेषण कविता को अन्य ललितकलाओ के सन्दर्भ मे पृथक् रखकर किया जाता है और उसके मूल्य-निर्धारण तथा परीक्षण के सभी मान एव निकष केवल काव्य को लक्ष्य मे रखकर प्रस्तुत किये जाते हैं। इसलिए कविता के काव्यशास्त्रीय अध्ययन मे सगीत-चेतना का विचार छन्द-बन्धन की जांच मे सीमित हो जाता है, सौन्दर्य की परख वर्ण-मैत्री और अलकारो के अन्वेषण मे बँध जाती है, प्रेषणीयता की धारणा शब्द-शक्ति, गुण, रीति और वृत्ति तक आकर रुक जाती है तथा कल्पना-विधान, बिम्ब और प्रतीक की विशिष्टताओ की खोज केवल अप्रस्तुतो एव उपमानो की गवेषणा बन जाती है। दूसरी ओर, सौन्दर्यशास्त्रीय दृष्टिकोण से किये गए अध्ययन मे कविता को अन्य ललितकलाओ

के व्यापक सन्दर्भ मे रखकर देखा जाता है और उसका तात्त्विक विश्लेषण उन सामान्य या सर्वनिष्ठ सिद्धान्तो के आलोक मे किया जाता है, जो काव्येतर ललितकलाओ के भी तत्तत् तात्त्विक अध्ययन मे उपयोगी सिद्ध हो सके। जैसे—किसी कविता मे व्यक्त सौन्दर्य-चेतना का उस व्यापक सौन्दर्य-तत्त्व की दृष्टि से अध्ययन, जो सौन्दर्य-तत्त्व, वर्ण-मैत्री और अलकारो से परे रहकर भी काव्येतर कलाओ मे समाविष्ट रहता है अथवा किसी कविता मे न्यस्त उपमानो और अप्रस्तुतो का उस व्यापक मूर्त्त विधान की दृष्टि से अध्ययन, जो काव्येतर कलाओ मे भी कल्पना के प्रत्यक्षीकरण अथवा तन्मात्राओ की ऐन्द्रिय प्रतीति के रूप मे बिम्ब बनकर उपस्थित होता है। साराश यह है कि कविता का सौन्दर्यशास्त्रीय अध्ययन कविता को काव्येतर ललितकलाओ के तात्त्विक सन्दर्भ मे रखकर किया जाता है और कविता का काव्यशास्त्रीय अध्ययन कविता को काव्येतर कलाओ के तात्त्विक सन्दर्भ से पृथक् रखकर या उस तात्त्विक सन्दर्भ की उपेक्षा कर किया जाता है। कविता का काव्यशास्त्रीय अध्ययन हिन्दी और हिन्दीतर साहित्य मे बहुत बडे परिमाण मे किया जा चुका है, किन्तु कविता का सौन्दर्यशास्त्रीय अध्ययन तत्त्व-चिन्तन-प्रधान होने और दार्शनिक निरूपण-पद्धति के निकटस्थ होने के कारण अब तक उस परिमाण मे नही किया जा सका है। हिन्दी साहित्य मे ऐसे अध्ययन का और भी अभाव है। अत. प्रस्तुत शोध-प्रबन्ध इसी अभाव की पूर्ति के लिए किया गया एक विनम्र प्रयास है।

उक्त दोनो प्रकार के अध्ययन के सबध मे कुछ और बातें ध्यातव्य हैं। पहली बात यह है कि कविता के काव्यशास्त्रीय अध्ययन और सौन्दर्यशास्त्रीय अध्ययन मे अन्योन्याभाव सबध नही है। कारण, जहाँ यह सच है कि कविता का काव्यशास्त्रीय अध्ययन कविता के सौन्दर्यशास्त्रीय अध्ययन का पर्याय या मानक नही हो सकता, वहाँ यह देखा जाता है कि कविता के सौन्दर्यशास्त्रीय अध्ययन मे प्रसगानुसार काव्यशास्त्रीय उपपत्तियो और निष्पत्तियो का भी उपयोग किया जाता है यद्यपि इसके विलोम से काव्यशास्त्र का स्वतत्र व्यक्तित्व अपहृत हो जाता है। अत. प्रस्तुत प्रबध मे भी काव्यशास्त्र की उपलब्धियो को वर्जित नही माना गया है। दूसरी बात यह है कि कविता का सौन्दर्यशास्त्रीय अध्ययन करते समय काव्येतर ललितकलाओ के तात्त्विक सन्दर्भ को ही ध्यान मे रखा जाता है, क्योकि एक व्यक्ति के लिए सभी ललितकलाओ के सभी सन्दर्भों को ध्यान मे रखना तथा उनका प्रामाणिक विवेचन करना कठिन है। यह कार्य तो वही विपश्चित् विद्वान् कर सकेगा, जो सभी कलाओ के सैद्धान्तिक तथा व्यावहारिक—दोनो ही पक्षो मे माहिर हो। अत एक ओर विचारक या अनुसन्धाता की शक्ति की सीमा का ध्यान रखकर तथा दूसरी ओर अनावश्यक

भोझ और लपेट से बचने के लिए किसी कला का सौन्दर्यशास्त्रीय अध्ययन करते समय अन्य कलाओ के केवल तात्त्विक सन्दर्भ को ध्यान मे रखा जाता है। सचमुच, इन तात्त्विक पक्ष को छोडकर कलाओ के अन्य पक्ष इतने विविध और भिन्न हैं कि उनके समवेत अध्ययन से कोई लाभ नही हो सकता। इसलिए किसी कला का सौन्दर्यशास्त्रीय अध्ययन प्रस्तुत करते समय अन्य भगिनी कलाओ के तात्त्विक सन्दर्भमात्र को दृष्टिपथ मे रखना चाहिये।

ऊपर यह कहा जा चुका है कि ललितकलाओ का तात्त्विक अन्त सबध ही वह मुख्य कारण है, जिसके चलते कविता या अन्य किसी कला के सौन्दर्यशास्त्रीय अध्ययन का औचित्य प्रतिपादित होता है अथवा ऐसे अध्ययन की आवश्यकता प्रतीत होती है। इसलिए प्रस्तुत प्रबन्ध मे किये गए सौन्दर्यशास्त्रीय अध्ययन को एक तर्कपुष्ट आधार और सन्निबन्ध प्रदान करने के लिए हम इस अध्याय मे ललितकलाओ के तात्त्विक अन्त सबध का विस्तृत और प्रामाणिक विश्लेषण उपस्थित करेंगे। इस क्रम मे हम ललितकलाओ के तात्त्विक अन्त - सबध को स्पष्ट करने के लिए उपस्थापन की तीन पद्धतियो से काम लेंगे ताकि यह विश्लेषण अधिकाधिक वैज्ञानिक और सुनिर्णीत हो सके। सबसे पहले हम इसके सैद्धान्तिक पक्ष पर विचार करेंगे और देखेंगे कि किस प्रकार सभी श्रव्य और दृश्य कलाएँ तात्त्विक दृष्टि से आपाततोभिन्न होकर भी अन्त सबद्ध हैं। तदनन्तर, हम ललितकलाओ के तात्त्विक अन्त सबध का व्यावहारिक दृष्टि से सोदाहरण अध्ययन करेंगे ताकि सैद्धान्तिक दृष्टि से निकाले गए निष्कर्षों की जाँच प्रयोग के निकष पर हो सके। अन्त मे हम कुछ इतिहास-प्रसिद्ध कवियो और कलाकारो की उत्कृष्ट कृतियो के आधार पर कलाओ के तात्त्विक अन्तःसबध का परीक्षण करेंगे।

उक्त योजना के अनुसार अब हम ललितकलाओ के तात्त्विक अन्त सबध के सैद्धान्तिक पक्ष पर विचार करेंगे। ललितकलाओ के तात्त्विक अन्त सबध का मूलाधार स्वर-बोध और वर्ण-बोध का पारस्परिक सबध है। यह सर्वविदित है कि दृश्य कलाओं मे वर्ण-बोध (कलर-पर्सेप्शन) की प्रधानता रहती है और श्रव्य कलाओ मे स्वर-बोध की। अर्थात् कलाओ के बीच मुख्य पार्थक्य उनके श्रव्य और दृश्य होने पर निर्भर है। किन्तु, जब हम यह पाते है कि एक ऐसी सामान्य भूमि है जहाँ दृश्य कलाओ और श्रव्य कलाओ के मुख्य व्यावर्त्तक गुण, क्रमश, चाक्षुष प्रत्यक्ष और स्वर-बोध परस्पर मिल जाते है (जिसे मनोविज्ञान की भाषा मे 'सिनेस्थेसिया'[1] कहते हैं) तब यह स्वत प्रतिपादित हो जाता है कि सभी

१. 'सिनेस्थेसिया' [illegible] अभिगमन का एक सिद्धान्त है, जिसका उद्भावन [illegible] ने किया है। द्रष्टव्य—A Critical History of Modern Aesthetics, George Allen and Unwin, London 1933, page 102

ललितकलाओ के बीच किसी तात्त्विक अन्त संबध की स्थिति अवश्य है ।

उक्त 'सिनेस्थेज़िया' का सौन्दर्यशास्त्रीय दृष्टि के अलावा वैज्ञानिक दृष्टि से भी समर्थन मिलता है, क्योकि वैद्युतिक सहायता से दोलनवीक्ष के द्वारा स्वर, ध्वनि या स्वन-सम्पदा को तरगित रेखाओ के सहारे चित्रात्मक ढग से प्रस्तुत किया जाता है ।[१] इस तरह श्रव्य (अर्थात् स्वर-बोध) को दृश्य (चाक्षुष प्रत्यक्ष या चाक्षुष बोध) बनाया जा सकता है । आशय यह है कि मनोविज्ञान या सौन्दर्यशास्त्र की दृष्टि से ही नही, वैज्ञानिक और औद्योगिक साधनो से भी यह सिद्ध होता है कि शब्द-तन्मात्रा को हम वर्णात्मक प्रत्यक्ष या रूपतन्मात्रा मे बदल सकते हैं और वर्णात्मक प्रत्यक्ष या रूपतन्मात्रा को हम शब्दतन्मात्रा के सहारे व्यक्त कर सकते हैं । अत' इस विधि से भी 'सिनेस्थेसिया' का प्रकारान्तर-समर्थन स्पष्ट है ।

सामान्यत स्वर-बोध और वर्णात्मक प्रत्यक्ष (कलर-पर्सेप्शन) का एक विशुद्ध प्राथमिक सवेदन के रूप मे परस्पर कोई सबध नही है । किन्तु, कभी-कभी किसी वर्ण और किसी स्वर के द्वारा विशेष आसग-प्रक्रिया के कारण समान सवेगात्मक प्रत्यर्थता का उद्बोध हो जाया करता है । मनोविज्ञान से सबधित प्रायोगिक परीक्षणो के क्रम मे यह पाया गया है कि अनेक व्यक्ति ऐसे होते हैं जो अनायास ही किसी स्वर का अनुषग किसी विशिष्ट रग के साथ जोड लेते हैं । स्वर और रग के इस अनुषग-निर्भर सबध को मनोविज्ञान मे 'सिनेस्थेसिया'[२] कहा जाता है । इसके दो प्रकार होते हैं—स्वर-श्रवण से वर्ण-

---

१ "Tones can be made visible. The oscilloscope, through electrical processes, transforms vibrations of the air into a picture that appears on an illuminated screen It is the picture of a wave line. The different tones appear as wave lines of different dimensions and shapes. Everything that characterizes the tone as an acoustical phenomenon is represented in a particular feature of the picture. An experienced observer can accurately read the acoustical qualities of the tone from the outline of the curve. Looking at the picture of the curve he could accurately represent the tone to himself—pitch, loudness colour, everything."—*Victor Zuckerkandl*, Sound and Symbol, 1956, page 22.

२. 'An interpretation of the senses conveying an effect of oneness'—*J Chairi*, Symbolisme from Poe to Mallarme, Rockliff Salisbury Square, London, 1956, page 51.

बिम्ब की प्राप्ति और वर्णात्मक प्रत्यक्ष से ध्वनि-बिम्ब की प्राप्ति। स्वर-बोध और वर्ण-बोध के इस विनिमय या पारस्परिक विपर्यय का कारण कोई निश्चित आश्रम हुआ करता है। यह ऐन्द्रिय प्रतीति का मिश्रण प्रधानतः तीन प्रकार का होता है—प्रत्यक्षात्मक, धारणात्मक और मानसिक। वर्ण-व्युत्पन्न वर्णात्मक प्रत्यक्ष के इन बारीक विश्लेषण का श्रेय मनोविज्ञान को है तथा कला-विवेचन के प्रसग मे स्वर-व्युत्पन्न वर्णात्मक प्रत्यक्ष की चर्चा का श्रेय जे० एल० होफमान को है, जिन्होने अठारहवी शताब्दी मे ही यह प्रतिपादित किया कि प्रत्येक स्वर-वैशिष्ट्य का किसी-न-किसी निश्चित रग से सबध जोडा जा सकता है।[1] जे० एल० होफमान की स्थापना के बहुत वर्षो बाद जब स्वच्छन्दतावादी धारा चली, तब ललितकलाओ के बीच सगीत-कला मे इस 'सिनेस्थेसिया' को सर्वाधिक महत्त्व दिया गया। तदनन्तर, अनेक कलाकारो ने अपनी रचनाओ के मागीतिक प्रभाव की व्याख्या वर्ण-बोध के माध्यम से प्रस्तुत की। कवि और साहित्यकारो के बीच हाइने,[2] गोतिये, रिम्बॉ, बॉदलेयर, मोपासॉ और बालजक,[3] इस दृष्टि से बहुत महत्त्वपूर्ण हैं। इन सबने अपनी सौन्दर्यानुभूति को विविध प्रकार के बोध-विपर्यय से व्यक्त करने की चेष्टा की है। पॉल वर्लें भी इसी कोटि का कवि था, जो चाक्षुप अनुभूतियो को श्रव्य बिम्बो के माध्यम से और नादानुभूतियो को चाक्षुप बिम्बो के माध्यम से

---

१. भारतीय काव्यशास्त्र में रस का, जो काव्य का चरम लक्ष्य है, रग से, जो चाक्षुप कलाओं का उपादान है, सम्बन्ध जोड़ा गया है। भारतीय काव्यशास्त्र के अनुसार रग-विचार का मात्र विधानगत महत्त्व या प्रसाधन-निमित्त प्रयोजन नहीं है, बल्कि वह काव्य के चरमोद्देश्य—रसोपलब्धि से सबधित है। इस प्रकार यहाँ रग भी काव्य-गुण की तरह रसोपकारक माना गया है। उदाहरणार्थ, शृगार के लिए श्याम, हास्य के लिए श्वेत, रौद्र अथवा वीर रस के लिए रक्तवर्ण, करुण के लिए भूरा, भयानक के लिए काला, वीभत्स के लिए नील और अद्भुत के लिए पीत रग की योजना की गई है—

श्यामो भवति शृगार सितो हास्य प्रकीर्तित । कपोत करुणश्चैव रक्तो रौद्र प्रकीर्तित ॥४३॥
गौरो वीरस्तु विज्ञेय कृष्णश्चैव भयानक । नीलवर्णस्तु बीभत्स पीतश्चैवाद्भुत स्मृत ॥४४॥

उपस्थित करने की कला मे दक्ष था।[1]

'सिनेस्थेसिया' के सदृश ही 'कॉरेस्पाण्डेन्स' के सिद्धान्त से ललितकलाओ का तात्त्विक अन्त सम्बन्ध प्रतिपादित होता है। तदनुरूपता या सवादिता (कॉरेस्पाण्डेन्स) का यह सिद्धान्त पहले दर्शनशास्त्र का विषय था। साहित्य या कला-जगत् मे इसे प्रतिपादित करने का श्रेय बाद्लेयर को है, यद्यपि बाद्लेयर ने भी इस सिद्धान्त के लिए अपने को स्वेडनबर्ग का ऋणी घोषित किया, क्योकि स्वेडनबर्ग ने बहुत पहले इस सिद्धान्त का मूलाधार उपस्थित किया था।[2] बाद्लेयर ने इस सिद्धान्त को कला-जगत् के लिए उपयोगी बनाकर उपस्थित किया और उसने 'कॉरेस्पाण्डेन्स' शीर्षक एक छोटी-सी, किन्तु ऐसी महत्त्वपूर्ण कविता लिखी, जिसे उसके प्रतीक-सिद्धान्त का मूल सूत्र कहा जा सकता है। इतना ही नही, यह सिद्धान्त फ्रेंच और अग्रेजी साहित्य के प्रतीकवादी आन्दोलन का मूलाधार माना जाता है। सचमुच, प्रतीकवादियो ने इस सिद्धान्त को बहुत व्यापक फलक प्रदान किया था।[3]

उपरिविवेचित 'सिनेस्थेसिया' या 'कॉरेस्पाण्डेन्स' के सिद्धान्त का समर्थन कुमारिलभट्ट के 'श्लोकवार्त्तिक' मे निरूपित 'सामान्य ज्ञान-लक्षण-सन्निकर्ष' से भी होता है। हम किसी तप्त लौहखण्ड को देखकर उसका स्पर्श किये बिना ही कह देते हैं कि यह तप्त है, जबकि ताप का अनुभव करना चक्षु का नही, चर्म का धर्म है—नेत्रेन्द्रिय का नही, स्पर्शेन्द्रिय का कार्य है। इसका

---

१. *Arthur Symons*, The Symbolist Movement in Literature E P. Dutton and Co., New York, 1958, page 48.

२. स्वेडेनबर्ग ने लिखा था—

"Comparisons, metaphors and epithets are drawn from the inexhaustible depths of universal analogy."—*Charles Baudelaire*, translated by Geoffrey Wagner, and an Introduction by Enid Starkie, London, 1946.

३. "Every element of life and naturre is covered by the law of correspondences; therefore every fitting metaphor which arouses a response is necessarily a correspondence, the poet is the one who has the gift of pointing out analogies and of finding the exact and truely alive metaphors, the greater the poet, the wider his range of apprehension in space and time and also the greater the fitness and force of his metaphors"—*J Chairi*, Symbolisme From Poe to Mallarme: London, 1956, page 46.

उत्तर हमे ज्ञान-लक्षण-सन्निकर्ष के आधार पर मिलता है। उदाहरणार्थ, किसी विकच सुगन्धित प्रसून को देखकर (बिना सूँघे हुए ही) हम उसे सुवासित पुष्प कह देते हैं। स्पष्ट है कि सुगन्ध को पाना घ्राण—नासिका का काम है, जिसका भान हमने यहाँ चक्षु से ही कर लिया। अत प्रश्न है कि यह प्रातीतिक भान कैसे होता है? उसका समाधान भारतीय प्रमाणवाद के अनुसार यह है कि हमारे पूर्वानुभूत सस्कार मन मे बने रहते हैं, जिनके कारण इन्द्रियो के बोध का परस्पर विनिमय-सा हो जाता है। यह इसलिए कि एक इन्द्रिय के काम करते समय अन्य इन्द्रियाँ निष्क्रिय नही रहती हैं, बल्कि वे भी अपनी धारणा बनाने मे निमग्न रहती हैं—सूँघते समय आँखें भी काम करती हैं और देखते समय स्पर्शेन्द्रिय भी। अत स्पर्शेन्द्रिय के आलम्बन तप्त लौह-खण्ड को हम चक्षुरिन्द्रिय मे देखकर ही उष्ण कह देते है, घ्राणेन्द्रिय के आलम्बन चन्दन-खण्ड या सुवासित पुष्प को देखकर ही हम उसे सुगन्धित कह देते है। यहाँ यह ध्यातव्य है कि इन्द्रियो का ऐसा भावन 'सवृति-सत्य' नही होता, क्योकि यह भावन एक प्रकार से ज्ञात सम्बन्ध के आधार पर किया हुआ अनुमान होता है और 'सत् सम्प्रयोग' (प्रत्यक्ष वस्तु का सम्पर्क) से प्राप्त भावन या प्रत्यक्षसम्मत भावन की तरह ही विश्वसनीय होता है। इसी ज्ञात सम्बन्ध के आधार पर बहुधा हमारी इन्द्रियाँ वस्तुओ की 'जाति' या 'आकृति' से ही उनके गुण-वैशिष्ट्य का अनुमान कर लेती है और ऐसा करने मे हमारी इन्द्रियो को वस्तुओ के साथ उनके गुणानुसारी सन्निकर्ष या तत्काल अनुभावन की आवश्यकता नही पडती। इसे हम 'शाबर भाष्य' की शब्दावली मे इस प्रकार भी कह सकते हैं कि ऐसे स्थलो पर हमारी इन्द्रियाँ 'प्रत्यक्षतोदृष्ट सम्बन्ध' के बदले 'सामान्यतोदृष्ट सम्बन्ध' से ही काम चला लेती हैं।[१] इस प्रकार भावन की आवृत्ति से बने सस्कारो के कारण हमारी इन्द्रियो के बोध मे विनिमय या विपर्यय-सा होता रहता है। यह विनिमय या विपर्यय ही 'सिनेस्थेसिया' या 'कॉरेस्पाण्डेन्स' के सिद्धान्त का मूल है, जिसके चलते श्रवणेन्द्रिय का विषय चक्षुरिन्द्रिय का विषय बन जाता है। साराश यह है कि अपने पूर्वसचित सस्कारो के उद्बोध के कारण हम सामान्य लक्षण से विशेष लक्षण तक पहुँच जाते हैं। ऐन्द्रिय ज्ञान की दृष्टि से यह पद्धति हमारे 'उपनय' का मूल है, जिस पर 'शाबर भाष्य'[२] और कुमारिलभट्ट के 'श्लोकवार्त्तिक' मे विस्तार से विचार

१ *Dr Jwala Prasad*, History of Indian Epistemology Munshi Ram Manohar Lal, Delhi-6, page 271.

२ Shabar-Bhasya, translated into English by Ganganath Jha, Oriental institute, Baroda 1933

किया गया है।[1] इस सस्कारोत्सिक्त उपनय के कारण ही हमारी इन्द्रियो के भावन मे वह धर्म-विनिमय होता रहता है, जो 'सिनेस्थेसिया' या 'कॉरेस्पाण्डेन्स' का आधार कहा जा सकता है। ऐन्द्रिय बोधो का यह विनिमय या इन्द्रियो का यह गुण-विपर्यय हमारे सचित संस्कारो से निर्मित एक प्रकार का 'सम्बन्ध-क्षेप' है।

उपर्युक्त विश्लेषण से यह स्पष्ट है कि ऐन्द्रिय सवेदनो के बीच केवल वर्ण-बोध और स्वर-बोध ही परस्पर सम्बद्ध नही है, बल्कि सभी प्रकार के ऐन्द्रिय बोध एक-दूसरे से सम्बद्ध रहते हैं तथा उनका अधिकरणगत पारस्परिक विनिमय या विपर्यय चलता रहता है। हाँ, सौन्दर्यशास्त्रीय विवेचन मे श्रव्यकला और दृश्यकला-जैसा प्रमुख विभाजन रहने के कारण स्वर-बोध और वर्ण-बोध को प्रधानता मिलती रही है। दृष्टि-चेतना से सम्बद्ध होने के कारण रगो का प्रभाव बहुत व्यापक होता है। चित्रकला-विशारदो का कहना है कि वे सुगन्ध और दुर्गन्ध को भी रगो के द्वारा व्यक्त कर सकते है। इसी प्रकार भाव-व्यजना की दृष्टि से पीला रग प्रकाश और प्रसन्नता का द्योतक है। इतना ही नही, श्वेत रग से सात्विक भावनाओ का, नीले रग से प्रतिष्ठा तथा कुलीनता का और लाल रग से युयुत्सा, मन्यु तथा खतरे का व्यजन होता है। रगो के द्वारा व्यक्त होनेवाली एवविध भाव-व्यजना प्रधानतः हमारी वर्ण सवेदना पर निर्भर करती है। दृष्टि-चेतना से मिलनेवाले वर्ण-सवेदन को हम शरीर-विज्ञान की मान्यताओ के आलोक मे भी समझ सकते है। शरीर-विज्ञान के अनुसार पुतलियो के द्वारा प्रकाश आँखो मे प्रवेश करता है और अक्षिगोलक की पश्चाद्वर्त्ती झिल्ली पर, जिसे 'रेटिना' कहते हैं, जाकर केन्द्रित होता है। अक्षिगोलक की इस पश्चाद्वर्ती झिल्ली मे दो प्रकार के बहुत छोटे-छोटे कोष होते हैं, जिन्हे शलाका और शकु कहते हैं। इन कोषो का सम्बन्ध दृष्टि-चेतना के स्नायुओ से होता है। अक्षिगोलक की पश्चाद्वर्त्ती झिल्ली के परिवृत्त मे शलाका नामक कोष पर्याप्त मात्रा मे रहते हैं और उन पर केवल प्रकाश तथा छाया का ही प्रभाव पडता है। दूसरे प्रकार के शकु नामक कोष अक्षि-कोटर मे अधिक रहते हैं, अक्षि-परिवृत्त मे कम। इन शकुओ को उनके गुणो के अनुसार तीन प्रकारो मे विभाजित किया गया है—१. वे जो लाल और हरे रंग से प्रभावित होते है, २. वे जिन पर नीले और पीले रग का प्रभाव पड़ता है और ३. वे जो काले तथा सफेद रग की चेतना को ग्रहण करते है। किसी वस्तु के द्वारा विकीर्ण होकर जब प्रकाश अक्षिगोलक की पश्चाद्वर्त्ती झिल्ली पर केन्द्रित होता

---

१ Sloke Vartika of Kumaril Bhatta, translated by Ganganath Jha, Allahabad, 1905, page 68, Abhorism IV.

है, तब शलाका और शकु नामक दोनो प्रकार के कोष चेतन हो उठते हैं और प्रकाश समेत उन वस्तु की छवि 'रेटिना' पर उतर आती है। तदनन्तर, दृष्टि-चेतना के स्नायुओ के द्वारा उस छवि की सूचना मस्तिष्क तक पहुँच जाती है। ललितकलाओ के तात्त्विक अन्त सम्बन्ध की विवेचना के प्रसग मे वर्ण-सवेदन के स्वरूप और क्रिया-पद्धति को समझने के लिए इतनी शरीर-वैज्ञानिक व्याख्या अलम् है।

ललितकलाओ के तात्त्विक अन्त.सबध का एक प्रमाण यह भी है कि सगीत कला-जैसी अमूर्त्त श्रव्य-कला चित्रकला-जैसी मूर्त्त दृश्य-कला के अनेक गुणो को धारण करती है। उदाहरण के लिए आर० डब्ल्यू० एस० मैन्डल ने सगीत-कला के दृश्य-कला-सबधी गुणो की चर्चा करते हुए सगीत-कला के क्षेत्र मे 'द वैलू ऑव कलर' पर विस्तृत विचार किया है।[1] सचमुच, स्वर का भी एक रग होता है, वह केवल दोलनवीक्ष पर तरगित रेखाओ के रूप मे ही नही उगता। इतना ही नही, प्रत्येक राग का अपने भाव के अनुसार एक चित्र भी होता है। जैसे—प्रयाग सग्रहालय, भारत कला-भवन बनारस, विक्टोरिया मेमोरियल कलकत्ता, इत्यादि सग्रहालयो मे हमे विभिन्न स्वर-लहरियो और रागो के मनोवैज्ञानिक सकेत चित्रो के द्वारा प्रदर्शित मिलते हैं, जिनसे यह सिद्ध होता है कि प्रत्येक कला अपने चरम विकास के क्षणो मे अन्य भगिनी कलाओ का आश्रम ग्रहण करती है। भारतीय कला-साहित्य के अन्तर्गत 'रागमाला' चित्रो के द्वारा हमे सगीत की राग-रागिनियो का चित्रात्मक प्रदर्शन मिलता है। रागमाला चित्रों मे राग-रागिनियो से सबद्ध वातावरण, दृश्य, विषय, रस, काल तथा भाव का ऐसा व्यजक चित्रण रहता है कि चित्र के देखने मात्र से ही राग अथवा रागिनी के स्वरूप, प्रकृति, रस, समय आदि का पूर्ण ज्ञान हो जाता है। इन रागमाला चित्रों के अन्तर्गत रागिनी केदारा, रागिनी नट, रागिनी मारू, राग मल्हार, राग भैरव, रागिनी तोडी इत्यादि के चित्रात्मक अकन इसे प्रमाणित करते हैं कि कलात्मक तत्त्वो के पारस्परिक विनिमय से किस प्रकार विभिन्न कलाओ का मणिकाचन सयोग उपस्थित हो जाता है।

अन्त ललितकलाओ के तात्त्विक अन्त सबध ने अनेक विचारको का ध्यान आकृष्ट किया है। सचमुच, सभी ललितकलाओ मे समान तत्त्व निहित हैं, अन्तर है उन तत्त्वो के विनियोग की मात्रा मे। इतना ही नही, इस तात्त्विक अन्त सबध की तरह सभी ललितकलाओं मे तात्त्विक अन्त साम्य भी है। एडवर्ड होवर्ड प्रिन्स ने कलाओ के इस तात्त्विक अन्त.साम्य पर बहुत तर्क-पुष्ट

१ *R W S Mendl*, The Soul of Music, Rockliff Salisbury Square, London, 1950, page 179

विचार किया है ।[१] इस विषय पर जॉन डेवी का मन्तव्य भी महत्त्वपूर्ण है । जॉन डेवी ने बिटोफेन की प्रथम स्वर-सगीत और सेजां के चित्र '''कार्ड प्लेयर्स' को उदाहरणस्वरूप विवेचित करते हुए यह प्रतिपादित किया है कि सभी कलाओ मे तात्त्विक समानता है, अन्तर उन तत्त्वो की मात्रा मे है ।[२] यह सच है कि दृश्य-कलाओ मे जहाँ देश (स्पेस) पर अधिक बल दिया जाता है, वहाँ श्रव्य-कलाओ मे काल को महत्त्व दिया जाता है । किन्तु, इस भेद के बावजूद जब हम ललितकलाओ का तात्त्विक विश्लेषण करते हैं, जैसा कि इस शोध-प्रबन्ध मे आगे चलकर किया गया है, तब हम पाते हैं कि इस भेद के आवरण मे उन कलाओ का जो अन्त सबध या अन्त साम्य निहित है, वह अनुपेक्षणीय है । जिन विचारको ने कलाओ के शिल्प-पक्ष या तत्र-विधान के अलावा प्रधानत उनके तात्त्विक स्वरूप पर दार्शनिक दृष्टि से विचार किया है, उन्हे कलाओ के अन्त·साम्य और अन्त.सबध का महत्त्व अधिक अनुभूत हुआ है । जैसे, लैंगर ने बहुत ही समीचीन ढंग से यह मत व्यक्त किया है कि शिल्प और तत्र की दृष्टि से जहाँ ललितकलाओ की पारस्परिक भिन्नता बहुत प्रकट है, वहाँ एक धरातल वह भी है, जिस पर पहुँचकर सभी कलाएँ तात्त्विक दृष्टि से अन्तः-सबद्ध और समान सिद्ध होती हैं तथा इनकी तात्त्विक एकता ही प्रधान दीख पडती है ।[३] भारतीय सौन्दर्यशास्त्र के कुछ लेखको ने भी कलाओ की इस तात्त्विक एकता को रेखाकित महत्त्व दिया है । जैसे, के० एस० रामस्वामी शास्त्री ने काव्य को काव्येतर कलाओ के तत्त्व से उपेत मानकर इस तात्त्विक ऐक्य की ओर सकेत किया है ।[४] यह एकता विषय की दृष्टि से भी समर्थित होती है । अनेक ऐसी मूर्त्तियाँ हैं, जिनमे काव्य के विषय को उत्कीर्ण किया गया है । अर्थात्, एक मूर्त्ति का विषय वही है, जो पहले किसी काव्य मे वाग्-बद्ध हो चुका है । जैसे, लेसिंग ने अपनी कला-सबधी मान्यताओ के स्थापन के लिए जिस कविता और मूर्त्ति को अपने सामने रखा, उनका प्रतिपादित विषय

---

१. *E. H. Griggs*, The Philosophy of Art, 1913, p 268

२. *John Dewey*, Art As Experience, London, 1934, page 208

३. *Susanne K. Langer*, Feeling and Form, London, 1953, page 103.

४. "Poetry is architectonic like architecture, statuesque like sculpture, graphic and picturesque like painting and rhythmical like music...."—*K S Ramswami Sastri*, Indian Aesthetics, Srirangam, 1928, pages 32-33.

एक ही है। रोम मे प्राप्त 'लॅकून' की मूर्तियो मे और वर्जिल की 'एनीड' नामक काव्य-पुस्तक मे कष्ट के कठिन पाश मे आबद्ध तथा पार्यन्तिक पीडा से ग्रस्त मनुष्य की विकल भाव-भूमि को समान रूप से व्यक्त किया गया है। इस प्रकार एक कला के भाव से दूसरी कला का सृजन या एक कला के भाव को स्पष्ट करने के लिए दूसरी कला का साहाय्य कलाओ के पारस्परिक अन्त सबध का सूचक है। इस दृष्टि से महादेवी वर्मा की 'दीपशिखा' और 'साध्यगीत' मे कविताओ के साथ सकलित तद्भाव-व्यजक चित्र ध्यातव्य हैं।

ललितकलाओ के तात्त्विक अन्त सबध और आन्तरिक साम्य की विवेचना के लिए लनार्द द विशी का ग्रन्थ 'पैरेगन' एक प्रकाश-स्तम्भ का काम करता है। इस ग्रन्थ मे सभी ललितकलाओ का तुलनात्मक अध्ययन किया गया है। इस प्रसग मे यह स्मरणीय है कि अन्य कलाओ के ज्ञान पर अधिकार रखते हुए भी लनार्द द विशी प्रधानत चित्रकार थे। अत: उक्त ग्रन्थ मे ललितकलाओ के तुलनात्मक अध्ययन या इन कलाओ के पारस्परिक अन्त.सबधो के विवेचन मे विशी ने चित्रकला को ही एकागी प्रधानता दे दी है।

'पैरेगन' के दूसरे अध्याय मे विशी ने चित्रकला और काव्य कला का सुन्दर तुलनात्मक अध्ययन प्रस्तुत किया है। चित्रकला और काव्यकला का साम्य बहुत प्राचीन काल से विचारको द्वारा निर्दिष्ट किया जाता रहा है। भारतीय विचारको मे क्षेमेन्द्र ने इसी दृष्टि से कवियो के लिए चित्रकला के ज्ञान को आवश्यक माना है। 'कविकण्ठाभरण' के छठे-सातवें श्लोक मे क्षेमेन्द्र ने इस ओर सकेत किया है। क्षेमेन्द्र ने तो कवियो से यह निवेदन किया है कि उन्हे कविता के साथ विविध ललितकलाओ से परिचित होना चाहिये—

> लोकाचार परिज्ञान विविक्ताख्यायिका रस ।
> इतिहासानुसरण चारुचित्र निरीक्षणम् ॥
> शिल्पिना कौशलप्रेक्षा वीर युद्धावलोकनम् ।
> शोकप्रलाप श्रवण श्मशानारण्य दर्शनम् ॥[1]

पश्चिम मे बहुत पहले से यह उक्ति प्रचलित है कि चित्र मूक कविता है और कविता सवाक् चित्र है। प्लेटो ने भी एकाधिक सन्दर्भों मे इन दोनो के साम्य को निर्दिष्ट किया है। अरस्तू का भी यही हाल है। उन्होंने अपने 'पोयेटिक्स' मे काव्यकला का तात्त्विक साम्य चित्रकला के साथ कई बार दिखलाया है। तदनन्तर, सिसेरो, क्विण्टिलियन, होरेस इत्यादि ने इन दोनो के साम्य-निरूपण को समर्थित किया है। प्राचीन चित्राधारो मे भी काव्य और चित्र का

1. क्षेमेन्द्र, कविकण्ठाभरणम्, काव्यमाला चतुर्थोगुच्छक, निर्णयसागर प्रेस, बम्बई, १८८७, पृष्ठ १२७।

अन्त सम्बन्ध द्योतित होता है, क्योकि काव्य-रचना जिन वर्णों या अक्षरो मे अंकित होती है, उन वर्णों या अक्षरो का प्रारम्भ इन चित्राक्षरो से ही हुआ है। सचमुच वर्णों से काव्य की चित्रोपम मूर्तता प्रमाणित होती है, क्योकि वर्ण तो एक प्रकार का चित्र है और चित्र का आधार कुछ मूर्त होता है—यह प्रसिद्ध है। भारतवर्ष मे भी काव्य के वर्ण-लेखन को चित्रकला-जैसा महत्त्व मिला था और विशेषकर मुगल-काल मे यहाँ इस विशिष्ट लेखन-कला के क्षेत्र मे अब्दुलरशीद दयालमीर तथा बहादुरशाह जैसे माहिर कलाकार हो चुके थे। काव्य मे प्रयुक्त वर्णों की चित्रकलावत् मूर्तता सिद्ध करने के लिए उस काल मे तैयार की गई 'गीतगोविन्द' आदि की पाण्डुलिपियाँ प्रमाणस्वरूप हैं, जिनमे इन चार प्रकार की हस्तलिपियो के प्रयोग मिलते है—१ कूफी अर्थात् कोणवाली, २ नस्ख—मुडे हुए अक्षरवाली, ३. नस्ता लीख—जिसमे अक्षर नस्ख से अधिक मुडे हुए हो और ४. शिकस्त—नस्ता लीख का एक दूसरा प्रकार।[1] इतना ही नही, आलेखन, चित्रलिपि या 'चित्रलिखा', मुसव्विर और राकिम ऐसे अनेक शब्द है, जो काव्य और चित्र की निकटता को सूचित करते हैं। अत. प्रोफेसर रेन्सेल्येर, कार्ल बोरिन्सिकी इत्यादि ने काव्यकला और चित्रकला के अन्त सबध या पारस्परिक साम्य पर उल्लेखनीय कार्य किया है। आधुनिक विचारको मे आई० ए० रिचर्ड्स ने भी काव्यकला और चित्रकला की तात्त्विक एकता का निर्देश किया है।[2]

शास्त्रीय परम्परा के अनुसार काव्य और चित्र—दोनो का आधार 'अनुकरण' है, जिस अनुकरण के सिद्धान्त को प्रवर्तित करने मे अरस्तू अग्रणी है। अत आधार—अनुकरण—की एकता रहने के कारण इन दोनो कलाओ मे साम्य का रहना स्वाभाविक है। इसी प्रकार शास्त्रीय (क्लासिकल) परम्परा के अनुसार 'सकलनत्रय' का नियम काव्यकला और चित्रकला—दोनो के लिये अनिवार्य माना जाता था। ड्राइडन तक ने इन दोनो कलाओ मे उत्कृष्टता के आधान के लिए 'सकलनत्रय' को आवश्यक माना था।[3]

---

१. असित कुमार हालदार, भारतीय चित्रकला, चन्द्रलोक प्रकाशन, इलाहाबाद, १९५९, पृष्ठ २२-२३।

और

श्री नानालाल चिमनलाल मेहता, भारतीय चित्रकला, हिन्दुस्तानी एकाडमी, इलाहाबाद, १९३३, पृष्ठ ४४-४५।

२. *I. A Richards*, Principles of Literary Criticism, London, 1955, Page 160

३. Paragone, Leonardo Da Vinci, translated by I. A. Richter, London, Page 40

तदनन्तर, काव्यकला और चित्रकला का सादृश्य या पारस्परिक अन्त संबध इससे भी पुष्ट होता है कि इन दोनो की विषय-वस्तु मे प्राय कई दृष्टियो से समानता रहती है। और, कला का इतिहास हमे कई ऐसे उदाहरण देता है, जहाँ काव्य के विषय ने चित्र को और चित्र के विषय ने काव्य को प्रभावित किया है। 'वीनस' पर लिखी गई कई कविताएँ विभिन्न चित्रकारो की चित्र-कृतियो मे प्रस्तुत 'वीनस' के रूप-वैभव से प्रेरित होकर रची गई है। इसी तरह यह प्रसिद्ध है कि रैफेल काव्य से लिये गए विषयो को चित्र मे प्रस्तुत करने की कला मे अद्वितीय था। ऐसी ही समानताओ और आधारगत एकता के कारण अनेक कला-विचारको ने ऐसी सूक्ति गढने की चेष्टा की है कि चित्र वैसी कविता है, जिसे हम 'सुनते' नही, 'देखते' हैं और कविता वह चित्र है, जिसे हम 'देखते' नही, 'सुनते' है। अर्थात, अभिव्यक्ति-पद्धति और भावन के समय माध्यमस्वरूप ऐन्द्रिय-प्रतीति के भेद के अलावा इन दोनो कलाओ मे कोई तात्त्विक भेद या पार्थक्य नही है। इस प्रकार कविता और चित्रकला के अन्त-सबध की दृष्टि से काव्य और चित्रकला मे विषय-वस्तु का प्रभूत साम्य विचार-णीय महत्त्व रखता है। भारतीय साहित्य मे भी हम एक ओर कृष्ण के उलूखल-बन्धन या राम-लीला को सूर या अन्य अनेक कवियो की कविताओ मे पाते हैं और दूसरी ओर उसी भगिमा के साथ उलूखल-बन्धन या रास-लीला को अठाहरवी-उन्नीसवी शताब्दी की पहाडी शैली के चित्रो मे पाते हैं। इस तरह कविता की विषय-वस्तु को चित्रो मे बाँधने का अविरल प्रयास मिलता है, जो उन दो कलाओ की पारस्परिकता का प्रमाण है। भारत कला-भवन, काशी के एक विशिष्ट सग्रह मे विहारी[1] और केशवदास[2] की कुछ पक्तियो की विषय-वस्तु को बडी मार्मिकता के साथ चित्र मे उपस्थित किया गया है। तदनन्तर, मेवाड शैली और वसोली शैली के अनेक चित्रो मे कई चुटीली कविताओ की विषय-वस्तु को अकित किया गया है। इन शैलियो के अतिरिक्त पहाडी शैली और काँगडा शैली मे भी कविताओ से ली गई विषय-वस्तु का कलात्मक अकन मिलता है। इस दृष्टि से 'तूतीनामा' भी एक उल्लेखनीय चित्रमाला है, जिसके

---

१. कहा भयो जो बीछुरे, तो मन तो मनु साथ।
उड़ी जाउ कितहूँ, तऊ गुड़ी, उड़ायक हाथ॥
द्रष्टव्य—भारत-कला-भवन का चित्र-संग्रह, फलक ३, क।

२. देखति बरषि जात देखि देखि निज गात,
चन्दक के पास चन्दु लिख्यो है बनाइ कै।
....
सोतो वर और दूनो दूनो दुख पाइ कै॥
द्रष्टव्य—भारत-कला-भवन का चित्र-संग्रह, फलक ४।

अन्तर्गत अकबर-काल की लोक-शैली मे एक कथानक को चौबीस चित्रो मे अकित किया गया है ।[1] अकबर के काल मे काव्य की विषय-वस्तु को चित्रकला मे बाँधने की विशेष प्रवृत्ति मिलती है ।[2]

काव्य और चित्र—दोनो कलाओ मे 'सगति' का तात्त्विक महत्त्व है। काव्य मे वह सगति रहती है, जो ध्वनियो और वर्णों के उच्चारण-सौंदर्य से निर्मित होती है और श्रवण का विषय होती है तथा चित्रकला मे वह 'सगति' रहती है, जो विभिन्न आकृतियो या रग-रेखाओ के अनुपात से निर्गत होती है और चक्षु का विषय होती है ।[3] तदनन्तर, काव्य और चित्र मे एक तात्त्विक सबध इससे भी प्रमाणित होता है कि चित्रकला के छह अगो मे से तीन अग या तत्त्व काव्य-कला मे विद्यमान रहते है । **वात्स्यायन**-कृत **कामसूत्र** के प्रथम अधिकरण के तृतीय अध्याय की टीका लिखते समय **यशोधर पण्डित** ने चित्रकला के इन षडगो पर विचार किया है । **कामसूत्र** मे चित्रकला के ये षडग वर्णित हैं—

रूपभेदा. प्रमाणानि भावलावण्य योजनम् ।
साहश्यं वर्णिकाभंगं इति चित्रम् षडङ्गकम् ॥

इन षडगो मे तीन—भाव, लावण्य-योजना और साहश्य—काव्य मे भी प्रभूत महत्त्व रखते हैं। अत चित्रकला और काव्य की तात्त्विक समानता उक्त तथ्य से समर्थित होती है । चित्रकला के षडगो पर विचार करते समय **अवनीन्द्र-नाथ ठाकुर** ने तत्त्व ही नही, सृजन-प्रक्रिया के आधार पर भी काव्य और सगीत कला से लेकर मूर्तिकला तक मे समानता का प्रतिपादन किया है । इनका कथन है कि "चित्र तब बनता है, जब चित्रकार की अन्तर्हित उदयकामना या अभिव्यक्ति-वेदना छन्द के नियमो से अपने को बाँधकर अन्तर्वाह्य दो प्रकार से अपने को रसोदय मे परिणत करती है । शब्दचित्र, सगीत, वाच्यचित्र, कविता, दृश्यचित्र, पट और मूर्ति आदि कोई भी सृजन की इस स्वाभाविक प्रक्रिया का अनुसरण किये बिना अभिव्यक्त हो ही नही सकते । अगर कुछ इस

---

१. कलानिधि, काशी, वर्ष १, अक २, पृ० १४८ ।

२. कलानिधि, काशी, अक ३, पृष्ठ २७, 'अकबरकालीन चित्रित ग्रन्थ और उनके चित्रकार' शीर्षक निबन्ध, ले० रायकृष्ण दास ।

३. यहाँ यह ध्यातव्य है कि चित्रकला ही नहीं, सभी दृश्य कलाओं में सगति, विशेषकर, अनुपात की सगति विद्यमान रहती है । दृश्य कलाओं में सगति पैदा करने वाले अनुपात को हम वास्तु-अनुपात कह सकते हैं और श्रव्य कला, विशेषत सगीत में 'सगति' पैदा करने वाले अनुपात को हम लयात्मक अनुपात कह सकते हैं । स्वर के अन्तरालों पर निर्भर इसी लयात्मक अनुपात को लक्ष्य करके पिथागोरस ने अपने प्रसिद्ध सिद्धान्त—Theory of Numerical Proportion—को प्रवर्त्तित किया था ।

स्वाभाविक प्रक्रिया का अतिक्रमण कर उदय होता है तो उसे संगीत, कविता या चित्र नहीं कहूँगा।"[1] इस तरह ललित कलाओं के तात्त्विक अन्त-सम्बन्ध और पारस्परिक सादृश्य के प्रति अवनीन्द्रनाथ ठाकुर कम सजग नहीं थे, किन्तु, इस सन्दर्भ में इनकी दृष्टि 'बौद्धिक' से अधिक 'भावुक' थी। जैसे, इन्होंने छन्द को ललित कलाओं के अन्त सम्बन्ध का सर्वाधिक प्रतिपादक साधन या तत्त्व माना है और छन्द की ऐसी व्यापक व्याख्या भावुक भाषा में कर दी है कि कोई भी गद्य-कवि मात हो सकता है। उदाहरणार्थ, अपने विवेचन में प्रयुक्त छन्द के स्वरूप की विवृति करते हुए इन्होंने लिखा है—" छन्द को कहा गया है 'छन्दयति इति छन्द.'। क्योंकि वे आनन्दित करते हैं। इनके उदय के उन्मेष और उदय की समाप्ति इन दोनों की शुभ दृष्टि के ऊपर प्रच्छदपट की भाँति दोदूल्यमान है, इसीलिए कहा गया है, 'आच्छादयति इति छन्द'। ऊषा के अन्दर जैसे उदय का अभिप्राय निहित रहता है, उसी तरह छन्द के अन्दर से चित्रकार का मनोभिप्राय अपने को व्यक्त करता है, इसीलिए छन्द को ही अभिप्राय कहा जाता है। अब हम देखते हैं कि छन्द आनन्दकारी, छन्द आच्छादनकारी होता है, छन्द अभिप्राय को वाहित करने वाला सुपथ है, छन्द नदी के जल की भाँति तरंगमाला की शोभा है। 'छन्दस्तु नानाविधम्'। छन्द बहुविध होता है, रूप का, प्रमाण का, भाव का लावण्य का, सादृश्य का, वर्णिका-भंग का छन्द। छन्द किसमें नहीं ? कहाँ नहीं है ? छन्द अट-सट बातों में है, छन्द नववधू के टाड (बाहु-भूषण) और कंकण के रुनझुन में है, छन्द समुद्र और चन्द्र के पुनर्मिलन में है, छन्द दिनमणि के विरह में है, कमलिनी के म्लान मुख पर है अन्तर में पिचकारी छूटकर बाहर को रंग रही है, बाहर पिचकारी छूटकर अन्तर को रँग रही है, यह दौड़कर निकलने और दौड़कर भीतर आने में जो हिन्दोल या होली-लीला होती है, उसीको छन्द कहते हैं।"[2] ऐसी कवि-दृष्टि से विवृत छन्द-स्वरूप को लेकर ही अवनीन्द्रनाथ ठाकुर ने ललित कलाओं के पारस्परिक अन्त सम्बन्धों का विवेचन किया है। अत इनके द्वारा प्रस्तुत किया गया ललित कलाओं के तात्त्विक एकत्व या पारस्परिक अन्त सम्बन्ध का निरूपण लनार्द द विंशी के 'पैरेगन' में उपलब्ध एतादृश निरूपण से भी अधिक भावुक है और एक सृजनशील कलाकार की आत्मानुभूति-मात्र में उत्थित है। इस तरह प्रकट है कि यद्यपि अवनीन्द्रनाथ ठाकुर की मान्यता हमारे

---

१. अवनीन्द्रनाथ ठाकुर, भारत-शिल्प के षडंग, अनुवादक—महादेव साहा, नया साहित्य प्रकाशन, ७ डी मिन्टो रोड, इलाहाबाद, १९५८, पृष्ठ १५।

२. वही, पृष्ठ २५-२६।

अध्येतव्य विषय के अनुकूल है, तथापि इनकी उपपत्ति कवि-सुलभ भावुकता के कारण इतनी अशास्त्रीय हो गई है कि वह कला-तत्त्व के शास्त्रीय विवेचन मे बहुत महत्त्व नही रखती है।

उपरिविवेचित 'छन्द' को यदि सगति के अर्थ मे लिया जाय तो उससे काव्य और चित्रकला के तात्त्विक अन्त सम्बन्ध पर प्रकाश पडता है, क्योकि सगति के अर्थ मे 'छन्द' रगो मे भी रहता है, जिसे 'कलर-हार्मनी' कहते हैं। बंगला मे इसके लिए 'वर्ण-छन्द' शब्द का प्रयोग होता है। हम जानते है कि वर्ण चित्र-कला का उपादान है और छन्द काव्य का एक विख्यात अग। किन्तु, वर्ण-छन्द ऐसी चीज मान लेने से यह स्वत: सिद्ध हो जाता है कि वर्ण और छन्द के समीकरण की एक सम्मिलनभूमि भी है, जहाँ पहुँचकर चित्र काव्यधर्मी और काव्य चित्रधर्मी बन जाते हैं। तदनन्तर, कविता मे वर्ण या रग (जो दृश्य कलाओ का उपादान है) का महत्त्व भी इसे प्रतिपादित करता है कि कविता का दृश्य कलाओ, विशेषकर, चित्रकला के साथ तात्त्विक अन्त सम्बन्ध है। शेली ने रग को कविता का 'इस्ट्रूमेट एण्ड मैटीरियल' कहा है।[१] सचमुच, रग प्रधानत चित्रकला का उपादान होकर भी इसलिए काव्य के निमित्त महत्त्वपूर्ण है कि एक सुदीर्घ अवधि से कलाओ मे प्रयुक्त होते-होते विविध प्रकार के रगो ने अपनी एक निश्चित अर्थवत्ता अर्जित कर ली है।[२]

अब काव्य और चित्रकला की तात्त्विक अन्त सबद्धता पर इस सैद्धान्तिक निरूपण के बाद व्यावहारिक दृष्टि से सोदाहरण विचार कर लेना आवश्यक प्रतीत होता है ताकि सैद्धान्तिक दृष्टि से निकाले गये निष्कर्षों की परीक्षा प्रयोग के निकष पर हो सके।

भारतीय साहित्य के अवलोकन से भी काव्य और चित्रकला के बीच तात्त्विक अन्त सबध तथा प्रभावो के विनिमय का प्रमाण मिलता है। विशेष-कर भारतीय काव्य मे निबद्ध कृष्ण और राधा की प्रेमकथाओ ने चित्रकला को भूरिश: प्रभावित किया है। यह कहना अधिक उचित होगा कि काव्य मे वर्णित राधाकृष्ण ने चित्रकला के राधाकृष्ण को प्रभावित किया है तथा चित्रकला मे अकित राधाकृष्ण ने काव्य मे वर्णित राधाकृष्ण को प्रभावित किया है। डब्ल्यू० जी० आर्चर ने लगभग उनतालीस प्लेटो के द्वारा, जो प्राय पन्द्रहवी शताब्दी

१. *Shelley*, A Defence of Poetry, collected in English Critical Essays (19th Century) edited by Edmund D. Jones, London, 1950, Page 106.

२. *Walter Sargent*, The Enjoyment and Use of Colour, New York, 1923, Page 50.

ने अठारहवीं शताब्दी के बीच की मुगल, कांगड़ा, बसौली, गढ़वाल, बिलासपुर, राजस्थान, जौनपुर, इत्यादि कलमों और स्थानों से प्राप्त चित्रकृतियाँ है, उक्त मान्यता को प्रतिपादित करने की चेष्टा की है।[१] इन कृतियों को देखने के बाद यह पता चलता है कि जिस प्रकार जयदेव, विद्यापति, चण्डीदास, मीराबाई, कृष्णदास, सूरदास, परमानन्द दास, कुम्भनदास इत्यादि की कविताओं के माध्यम से कृष्ण-कथा ने भारतीय काव्य को प्रभावित किया, उसी तरह कृष्ण-कथा ने भारतीय चित्रकला पर भी अपना आधिपत्य स्थापित किया। विशेषकर, कांगड़ा-कलम के चित्रों पर कृष्ण-काव्य का सर्वाधिक प्रभाव लक्षित होता है। मानो, कृष्ण-काव्य के कलात्मक निदर्शनों को ही कांगड़ा कलम में चित्रों द्वारा उपस्थित करने की चेष्टा की गई हो। लगभग १४५० ईस्वी से ही कृष्ण-काव्य के उत्कृष्ट भावों को चित्रकला में उपस्थित करने की परिपाटी चल पड़ी। सबसे पहले 'गीतगोविन्द' के कुछ मार्मिक भावों को चित्रों में उपस्थित किया गया।[२] बाद में चलकर 'भागवत पुराण' के कुछ रोचक स्थलों को चित्र में दिखलाने की चेष्टा की गई। तदनन्तर, जैन चित्रकला, मुस्लिम चित्रकला—सबोको कृष्ण-काव्य ने भूरिश प्रभावित किया। इस तरह अत्याधुनिक काल तक कृष्ण-काव्य के चित्र-विचित्र भाव चित्रकला में स्थान पाते रहे हैं। यह इसीसे प्रमाणित होता है कि आधुनिक भारतीय चित्रकला के चार प्रमुख कलाकारों—रवीन्द्रनाथ ठाकुर, अमृता शेरगिल, जामिनी राय और जार्ज कीट—में अन्तिम दो—जामिनी राय और जार्ज कीट ने भारतीय काव्य में वर्णित कृष्ण-संबंधी भावों को ही अपनी चित्रकला का विषय बनाया। जार्ज कीट ने अपनी चित्रकृतियों में विशेषकर, 'गीतगोविन्द' के भावनियों को प्रस्तुत किया है। उसके चित्रों पर कृष्ण-काव्य का निविड प्रभाव इससे भी सिद्ध होता है कि उसने 'गीतगोविन्द' का अनुवाद किया था। फलस्वरूप, 'गीतगोविन्द' के अनेक हृदयहारी भाव उसके संस्कार में समा गये थे, जिनकी सतत अभिव्यक्ति उसके चित्रों में पाई जाती है।[३] इतना ही नहीं, भारत की ग्राम्य, प्रादेशिक या जानपदिक चित्रकला को भी कृष्ण-काव्य ने प्रभावित किया है। डब्ल्यू० जी० आर्चर ने बंगाल के ग्रामों में बसने वाली एक

---

१. *W. G. Archer*, The Loves of Krishna in Indian Painting and Poetry, London, 1957

२. *M. R. Majumdar*, The Gujarati School of Painting, Journal of the Indian Society of Oriental Art, 1942, Volume X, Plates 3 4

३. George Keyt by Martin Russell, *Bombay, 1950*

पेशेवर 'जदुपटुआ' जाति का उल्लेख किया है, जिसके सदस्य घूम-घूमकर कृष्ण-कथा को गीतबद्ध कर गाते चलते हैं और उसके भावो का समानान्तर प्रदर्शन अपने रगीन चित्रो द्वारा करते जाते हैं।[1]

जिस तरह भारतीय कला के इतिहास मे हम काव्य और चित्रकला के बीच इनके तात्त्विक अन्त सबध को समर्थित करने वाला पारस्परिक प्रभाव-विनिमय पाते हैं, उसी तरह पाश्चात्य कला-साहित्य मे भी इस पारस्परिक प्रभाव-विनिमय के अनेक उदाहरण मिलते है। कहा जाता है कि स्पेन्सर के कई काव्यात्मक स्थल चित्रित यवनिकाओ और स्वाँगलीलाओ पर निर्भर हैं तथा अठारहवी शताब्दी की भूदृश्याकन-सबधी कविताओ पर क्लोद लोरें तथा Salvatore Rosa के चित्रो का गहरा प्रभाव है। यह भी कहा जाता है कि कीट्स की प्रसिद्ध कविता 'ओड आन ए ग्रेसियन अर्न' की संपूर्ण प्रेरणा और परिवेश क्लोद लोरे के एक विशेष चित्र से गृहीत है।[2] इसी तरह स्टिफेन ए० लाराबी ने इस तथ्य का विस्तारपूर्वक उल्लेख किया है कि किस प्रकार ग्रीक मूर्तिकला ने अग्रेजी कविता को विषय-वस्तु और प्रेरणा की दृष्टि से प्रभावित किया है।[3] रेने वेलक और ऑस्टिन वारेन ने अल्वेयर थिवॉडे के ग्रन्थ[4] के आधार पर यह उल्लेख किया है कि मलार्मे को अपनी एक प्रसिद्ध कविता[5] की विषय-वस्तु लन्दन नेशनल गैलरी मे प्राप्त बाउचर के एक चित्र-पर्यवेक्षण से मिला थी।[6] चार्ल्स बॉद्लेयर ने अपनी कविताओ मे जिस यथार्थवाद की यदा-कदा अभिव्यक्ति की है, उसकी प्रेरणा उसने कुर्बे की चित्रकृतियो से ग्रहण की थी।[7] इतना ही नही, स्वय बॉद्लेयर ने ऐसे कुछ चित्र भी बनाये हैं, जो उसके काव्य के कला-पक्ष की मूर्त्त पीठिका प्रस्तुत करते हैं। इन चित्रो मे ये विशेष

---

१. *W G Archer*, The Loves of Krishna in Indian Painting and Poetry, London, 1957, Page 112.

२. John Keats by Sir Sidney Colvin, London, 1917.

३. Stephen A Larrabee, English Bards and Grecian Marbles, The Relationship between Sculpture and Poetry specially in the Romantic Period, New York, 1943.

४ La Poesic de Stephane Mallarme (Paris 1926).

५ 'L' Apris midid'um faume '

६. *Rene Welleck* and *Austin Warren*, Theory of Literature, Harcourt Brace and Company, New York, 1946, Page 124.

७. Charles Baudelaire (Selected Poems), translated by Geoffrey Wagner and an introduction by Enid Starkie, London, 1946, Page 11.

उल्लेखनीय है—'चार्ल्स बॉद्लेयर सेल्फ पोर्ट्रेट', 'पोर्ट्रेट ग्राव ए वूमैन' और 'चार्ल्स बाद्लेयर' सेल्फ पोर्ट्रेट इन अण्डर द इन्फ्लुयेन्स ऑव हशिश। सभव है, कुछ लोगो की दृष्टि मे बॉद्लेयर की कला मे चित्र और काव्य का यह तात्त्विक सम्मिश्रण या प्रभाव-विनिमय घुणाक्षर न्याय से हो गया हो, किन्तु, वास्तविकता ऐसी नही है। वह सिद्धान्तत कलाओ का पारस्परिक प्रभाव-विनिमय और तात्त्विक समीकरण चाहता था। बॉद्लेयर के विशेषज्ञ एनिड स्टार्की ने भी इस तथ्य पर विशेष बल दिया है।[१]

इसी तरह रोजेटी के चित्रो और दान्ते के काव्यगत भावो के तुलनात्मक विवेचन से काव्य और चित्रकला के तात्त्विक अन्त सबध पर प्रकाश पडता है। रोजेटी ने १८६० ईस्वी के पूर्व दान्ते की कविता के कुछ भावो के अनुरूप चित्र बनाये थे तथा कुछ अपनी कविताओ के भावो को भी मूर्त पीठिका प्रदान करने के लिए उसने अनेक चित्र प्रस्तुत किये थे, जिन्हे आधार मानकर निकोलेट ग्रे ने एक ही विषय पर रचित काव्य और चित्रकला का अच्छा तुलनात्मक अध्ययन प्रस्तुत किया है। प्रसगानुसार ग्रे ने काव्य और चित्रकला के तात्त्विक अन्त सबध का जो निरूपण किया है, वह अध्येतव्य है।[२] काव्य और चित्रकला के तात्त्विक अन्त सबधो के उद्घाटन-क्रम मे इस पर भी विचार किया जाना चाहिए कि कुछ प्रसिद्ध कवियो द्वारा प्रस्तुत काव्य-वर्णित छवि को स्वय कवि ने अपनी चित्रकला मे या अन्य चित्रकारो ने अपने चित्रो मे किस तरह अभिव्यक्त किया है। इस दृष्टि से डी० जी० रोजेटी, हल्मन हंट तथा मिलेस विशिष्ट और उल्लेखनीय हैं। ये तीनो काव्य-रसिक चित्रकार थे। रोजेटी को कीट्स की कविताओ से अत्यधिक प्यार था। अत उसने कीट्स की कविताओ मे प्राप्त अनेक छटाओ को अपनी तूलिका से आंकने का सफल प्रयास किया

---

१ "Baudelaire imagined that it might be possible to find one art which would compromise all the languages, would appeal to all his senses In his poetry he endeavoured to use the idiom of all the arts, to render what his eyes saw not merely in line and colour, what his ear perceived not only in harmony, but to glide imperceptibly from one mode of expression to the other Since "les parfums, les couleur set les sons se repondent" then he could render colour by means of harmony and sound by means of colour and line."—*Enid Starkie*, Charles Baudelaire (Selected poems), translated by Geoffrey Wagner, London, 1946, Page 15

२ *Nicolette Gray*, Rossetti Dante and Ourselves, Faber and Faber London, 1945, page 17.

है। इसी तरह हल्मन हंट और मिलेस शेक्सपीयर की कविताओ से प्रभावित थे। फलस्वरूप इन दोनो ने शेक्सपीयर के काव्य मे प्रस्तुत कई छवियो को चित्र मे आँकने की चेष्टा की है।[1] काव्य और चित्र के इस प्रभाव-विनिमय और पारस्पर्य से इन दोनो कलाओ का अन्त संबध समर्थित होता है।

हम देख चुके है कि अग्रेजी के रोमाटिक कवियों के बीच काव्य और चित्रकला की अन्तरगता की दृष्टि से डी० जी० रोजेटी की कृतियाँ और विचार उल्लेखनीय महत्त्व रखते हैं। रोजेटी की दृष्टि मे श्रेष्ठ कविता के लिए चित्रात्मक होना आवश्यक है।[2] सभव है, रोजेटी कवि और चित्रकार—दोनो थे; अत इन्होने काव्य की चित्रात्मकता और चित्र की काव्यात्मकता पर वल दिया। इनके अनुसार चित्र के 'विषय' मे काव्यात्मक भाव-निवेदन रहना चाहिए और कविता के भाव-निवेदन मे एक चित्रोपम चाक्षुप भगिमा होनी चाहिए। इस प्रकार रोजेटी काव्य-तत्त्व और चित्रात्मकता की युगपद् स्थिति के व्याख्याता थे। अत मॉरिस वाउरा ने रोजेटी की कला पर विचार करते समय उनकी कला के एतादृश तत्त्व-समास को विशेष महत्त्व दिया है।[3] इस तरह रोजेटी शब्द और लय के माध्यम से वह प्रभाव पैदा करना चाहते थे, जो प्राय. रग और रेखाओ से सभव हुआ करता है। रोजेटी ने 'द हिल समिट'—जैसी कविताओ मे ऐसी ही समन्वित कला का निदर्शन प्रस्तुत किया है। अत विद्वानो का कथन है कि रोजेटी के व्यक्तित्व और कला मे हम चित्र और काव्य का अद्भुत समन्वय पाते है।[4]

जिन अनेक कवियो के चित्रकार होने से काव्य और चित्रकला का तात्त्विक अन्त सबध समर्थित होता है, उन चित्रकार कवियो मे, विशेषकर अग्रेजी के रोमाटिक कवियो के बीच विलियम ब्लेक का बहुत ऊँचा स्थान है। अतः इनके

---

१ असितकुमार हालदार, यूरोपेर शिल्प-कथा (स्थापत्य, भास्कर्य ओ चित्रकला) कलकत्ता विश्वविद्यालय प्रकाशन, पृष्ठ १०६-११०।

२. रोजेटी ने अपनी मान्यता को स्पष्ट करते हुए लिखा है—

"Picture and Poem must bear the same relation to each other as beauty in man and woman, the point of meeting where the two are most identical is the supreme perfection" —*D G Rossetti*, Collected Works of Dante Gabriel Rossetti, Page 15.

३. *Sir Maurice Bowra*, The Romantic Imagination, Oxford University Press, London, 1961, Page 207.

४. *Lucien Pissarro*. Rossetti, published by T.C. and E.C. Jack, London, Pages 11-12.

काव्य और चित्रकला पर कुछ विस्तार में विचार करना समीचीन प्रतीत होता है।[1] ब्लेक की चित्रकला की सर्वश्रेष्ठ विशिष्टता है उसकी प्रतीकात्मकता, कारण, ब्लेक की दृष्टि में किसी भी कलाकृति के उत्कृष्ट होने के लिए उसका प्रतीकात्मक होना अनिवार्य है। इसीलिए ब्लेक ने कला में विनियोग पाने वाली कई प्रकार की कल्पनाओं के बीच प्रतीकात्मक कल्पना को ही सर्वोच्च स्थान दिया और प्रतीकात्मक कल्पना की ऊँचाई को निर्दिष्ट करने के लिए उसे 'विज़न' कहना अधिक पसन्द किया। फलस्वरूप, ब्लेक की चित्रकला में हमें उसके काव्य की तरह कल्पना और आध्यात्मिकता की अधिकता मिलती है। इतना ही नहीं, अन्य दृष्टियों में भी ब्लेक की कविता और चित्रकला में सैद्धान्तिक समानता है, जो दोनों कलाओं के तात्त्विक अन्त संबंध को महत्त्वपूर्ण सिद्ध करती है। जैसे, ब्लेक ने कविता की तरह चित्रकला में व्यर्थता के बहिष्कार और अर्थवत्ता के आधान को पार्यन्तिक महत्त्व दिया है।[2] किन्तु, ब्लेक की चित्रकला के प्रसग में हमें महादेवी की चित्रकला की तरह यह स्वीकार करना पड़ता है कि ब्लेक ने चित्रकला के शिल्प-पक्ष की कोई विधिवत् शिक्षा नहीं पाई थी। अत ब्लेक की चित्रकला में भी शिल्प-नैपुण्य नहीं है, जिस अभाव की पूर्ति उन्होंने महादेवी के सदृश अपने सहज ज्ञान और कल्पना-शक्ति की समृद्धि से की है।[1]

ललित कलाओं का तात्त्विक मिश्रण या विशेषकर काव्य, चित्र और संगीत को परस्पर निकट लाकर उनके कुछ तत्त्वों का मिश्रण स्वच्छन्दतावाद (रोमाण्टिसिज्म) की एक विशिष्ट प्रवृत्ति है। अंग्रेजी की रोमाण्टिक कविता या हिन्दी की छायावादी कविता में ही नहीं, अन्यत्र भी जब-जब साहित्य-जगत् में स्वच्छन्दतावाद (रोमाण्टिसिज्म) की हवा चली है, तब-तब वहाँ के साहित्य-सृजन में ललित कलाओं की परस्परोपकारिता देखी गई है। जर्मनी के रोमा-

---

[1] William Blake and his Illustrations to the Divine Comedy, collected in Essays And Introductions by *W B Yeats*, London, 1961, Page 116

[2] "As poetry admits not a letter that is insignificant, so painting admits not a grain of sand or a blade of grass insignificant, much less an insignificant blot or blur"—quoted on page 122, Essays And Introductions by W. B Yeats, London, 1961

ण्टिक साहित्य का यही हाल रहा है।[१] अतः हमे काव्य और चित्रकला के तात्त्विक अन्त सम्बन्ध को निरूपित करते समय ब्लेक के काव्य और चित्रकला को इसी सन्दर्भ मे रखकर देखना है।

ब्लेक की चित्रकला पर डी० एच० लॉरेन्स ने भी विचार किया है। लॉरेन्स का कहना है कि ब्लेक इगलैण्ड के बीच एक अपवाद था, क्योंकि ब्लेक ने भूदृश्याकन (लैण्डस्केप) और जलरंग-चित्रण (वाटर कलर), जो इगलैण्ड की चित्रकला के प्रधान अग है, से भिन्न कल्पना-निगूढ चित्रो का सृजन किया। यद्यपि ब्लेक ने अपने चित्रो को कृत्रिम ढग से प्रतीकात्मक बना दिया और चित्रो की तथोक्त अतिशय कृत्रिम प्रतीकात्मकता ने कुछ विचारको की दृष्टि मे ब्लेक की चित्रकला को दोषपूर्ण बना दिया, तथापि ब्लेक के चित्रो मे सहजानुभूति और अन्त प्रेरित भावुकता की प्रचुरता मिलती है,[२] जिसे हम उस की रोमाण्टिक प्रवृत्ति का प्रतिफलन कह सकते है। इतना ही नही, कल्पना, सहजानुभूति और अन्त प्रेरित भावुकता की अधिकता के कारण उसकी अधिकाश चित्र-कृतियाँ, यहाँ तक कि चित्रो मे अकित मानव-आकृतियाँ भी मात्र भावचित्र बनकर रह गई हैं। और, यह जगजाहिर बात है कि ब्लेक के चित्रो की यह आत्मनिष्ठ भावुकता उसके काव्य मे भी प्रचुर मात्रा मे मिलती है।

कुल मिलाकर ब्लेक की सबसे बडी कलात्मक उपलब्धि है—काव्य-कला और चित्रकला का समन्वय, जिसे हम 'सिन्थेसिस ऑव लिटररी एण्ड विजुअल फार्म्स' कह सकते हैं। तदनन्तर, यह ध्यान देने की बात है कि ब्लेक की कविताएँ और चित्र परस्पर एक-दूसरे के पूरक हैं तथा पारस्पर्य के आधार पर एक-दूसरे की अर्थवत्ता का उद्घाटन करते है।[३] प्रो० एन्थौनी ब्लण्ट की तो यह धारणा है कि ब्लेक का एकमात्र जीवनव्यापी उद्देश्य था काव्य और चित्रकला के बीच समीकरण तथा तात्त्विक सामजस्य उपस्थित करना। अत ब्लेक न

---

१. — *Charles Edwyn Vaughan*, The Romantic Revolt, London, 1907, Page 186

२. —*D H Lawrance*, A Propos of Lady Chatterley's Lover and other Essays, Penguin Books, page 26.

३. Title page to the Songs of Innocence, Title page to the Songs of Experience (Plate No 14a 14b), Infant Joy (Plate 15a), The Sick Rose (Plate 15b), The Shepherd (Plate 17b), The Divine Image (18a), The Blossom (18b), The Echoing Green (19a), Holy Thursday (19b), Title page to the Marriage of Heaven And Hell. (Plate 22a),—The Art of William Blake by *Anthony Blunt*, New York 1959

केवल कवि या केवल चित्रकार था, बल्कि वह कवि-चित्रकार था।

ब्लेक ने चित्रों के द्वारा अपने काव्य की तरह अन्तर्मन के धार्मिक और दार्शनिक विचारों को व्यक्त करने की चेष्टा की है।[१] अतः ब्लेक की कविता और चित्र दोनों में हमें एक प्रकार का रहस्यात्मक प्रतीकवाद मिलता है। यहाँ यह ध्यातव्य है कि मौलिक होते हुए भी ब्लेक ने काव्य और चित्र—दोनों क्षेत्रों में अपने पूर्ववर्तियों से प्रभाव ग्रहण किया है। किन्तु, इन गृहीत प्रभावों के वजूद में भी अपनी समृद्ध कल्पना के कारण ब्लेक मौलिकता से वंचित नहीं हो सके हैं। इनकी चित्रकला के प्रसंग में यह जान लेना आवश्यक है कि कवि बनने के बहुत बाद इन्होंने चित्रकार के रूप में अपना विकास किया। कविता के क्षेत्र में जहाँ इन्होंने बीस वर्ष की उम्र तक आते-आते ऐसी अनेक उत्तम कविताओं की रचना की, जिनकी श्रेष्ठता को ये अपनी परवर्ती रचनाओं के द्वारा अतिक्रान्त नहीं कर सके, वहाँ चित्रकार के रूप में इनका विकास तीस वर्ष की उम्र के बाद प्रारम्भ हुआ। किन्तु, इनके कवि-रूप और चित्रकार-रूप के आरम्भ और विकास में जो भी काल-भेद रहा हो, इनके उक्त दोनों रूप एक-दूसरे के पूरक रहे हैं। 'सांग्स ऑव इन्नोसेन्स' से प्रारम्भ कर 'इल्युमिनेशन्स टु जेरूजलम', 'द बुक ऑव जॉब' और 'दान्ते वाटर-कलर्स' की चित्रावलियों तक सर्वत्र उनके काव्यगत भावों की ही ऋजु या प्रकारान्तर-अभिव्यक्ति हुई है। अतः इनकी रचनाकार आत्मा ने कवि और चित्रकार—इन दोनों रूपों में अपनी अभिव्यक्ति पाई है। फलस्वरूप, उनकी कला को पूर्णतः समझने के लिए उनके ये दोनों रूप अक्षुण्ण महत्त्व रखते हैं। सचमुच, जैसा कि एन्थोनी ब्लण्ट ने कहा है, ब्लेक का स्थान चित्रकार के रूप में उतना ही महत्त्वपूर्ण है, जितना कि कवि के रूप में।[२] इतना ही नहीं, ब्लेक ने समान सिद्धान्तों के आधार पर काव्य और चित्र—दोनों की सृष्टि की है। उदाहरण के लिए, ब्लेक ने इन दोनों कलाओं के मूल में 'कल्पना' या 'डिवाइन व्हिजन' को प्रधान स्थान दिया है। अतः इनकी स्पष्ट धारणा है कि काव्य और चित्र (संगीत भी) कल्पनात्मक कलाएँ हैं तथा इनका पारस्परिक अन्तःसम्बन्ध कल्पना की उभयनिष्ठता

१. Sherman E Lee, 'Les Urthona And Blake's Illustrations to Dante', collected in 'Art and Thought' (issued in honour of Dr Anand K Coomaraswamy on the occassion of his 70th birthday) edited by K Bharatha Iyer, London, 1947, page 151

२. *Anthony Blunt*, The Art of William Blake, 1959, pages 1 2

पर मुख्यत. निर्भर है।[१] फलस्वरूप, ब्लेक ने इन कल्पनात्मक कलाओ के अन्त -सम्बन्ध के कारण इनसे सनद्ध कलाकारो—यथा, कवि, चित्रकार, संगीतज्ञ, स्थापत्यकार प्रभृति को एक ही कोटि का मनुष्य माना है।[२] इसी तरह रवीन्द्र-नाथ ठाकुर की कविताओ और चित्रो के अध्ययन से इन दोनो कलाओ का तात्त्विक अन्तःसम्बन्ध प्रतिपादित होता है, क्योकि उनकी चित्रकला रेखाओ मे रची हुई उनकी कविता सिद्ध होती है।[३]

काव्य और चित्रकला की तरह चित्रकला और सगीत कला मे भी प्रभूत तात्त्विक साम्य है। प्रभाव की अन्विति, विधान की चारुता और सानुपातिक सौन्दर्यात्मक उपनयन के लिए एक प्रकार के 'गणित' का निर्वाह, जिन्हे हम ललित कलाओ की तात्त्विक विभूति कह सकते है, चित्रकला और सगीत कला मे समान रूप से विनियोग पाते हैं। उदाहरणार्थ, अनुपात-रक्षा जिस तरह सगीत कला के स्वर-सामजस्य मे अपेक्षित है, उसी तरह अनुपात-रक्षा चित्र-जगत् के रूपाकन मे लालित्य-सृष्टि के लिए अनिवार्य है। इस प्रकार 'अनुपात' को हम 'लय' की तरह समग्र ललित कलाओ की नीव कह सकते है।

इसी 'अनुपात' पर कलाओ का सयोजन-सिद्धान्त पर निर्भर करता है। यह सर्वविदित है कि कला की सभी कृतियाँ 'सयोजन' से सौष्ठव प्राप्त करती हैं। विविध कलाओ मे समानरूपेण समादृत इस सयोजन-तत्त्व को सिद्ध करने वाले कुछ प्रमुख साधन इस प्रकार है—अनुपात, सन्तुलन और समप्रवाह अथवा छदगति। सन्तुलन द्वारा सयोग मे स्थायित्व का आधान होता है। स्थापत्य कला और मूर्ति-कला को छोडकर शेष कलाओ मे यह 'सन्तुलन' भौतिक पदार्थों का न होकर प्रधानत भावनाओ का होता है। भौतिक दृष्टि से सन्तुलन की उपलब्धि के लिए समान माप की वस्तुओ को समान अन्तर पर रखा

---

१. —Blake, quoted on page 23, The Art of William Blake by Anthony Blunt, 1959.

२. A Poet, a Painter, a Musician, an Architect,
the Man or Woman who is not one of these is not a Christian

You must leave Father and Mother
and Houses and lands if they stand in the way of Art.
—Blake's Works, edited by Geoggrey Keynes, Nonesuch Press, 1925, page 765

३. Fragment from a Letter by Rabindranath Tagore, 4 Arts Annual, 1936 37, edited by A. Coomarwsamy, O. C. Gangoly, Corporation Street, Calcutta

जाता है अथवा असम माप की वस्तुओ को विषम अन्तर पर उपस्थित किया जाता है। इस प्रकार स्थापत्य कला और मूर्तिकला मे सन्तुलन की स्थापना के लिए दृष्टि-चेतना का विशेष सहारा लिया जाता है। दृष्टि-चेतना पर निर्भर सन्तुलन प्रधानत दो प्रकार का होता है—सम सन्तुलन और असम सन्तुलन। सम सन्तुलन मे एक मध्य बिन्दु से समान अन्तर पर समान आकार अथवा समान तोल की वस्तुओ का अभिविन्यसन किया जाता है। तदनन्तर, असम सन्तुलन मे किसी मध्य बिन्दु से असम पार्थक्य पर विषय माप अथवा तोल की वस्तुओ का विन्यास किया जाता है। इन असम सन्तुलन से कभी-कभी कलाओ मे रस-वैविध्य अथवा भाव-शबलता का सचार होता है।

तदनन्तर, सगीत कला जिन दृश्य-अदृश्य सूक्ष्मताओ का निबन्धन ध्वनि या लय के सहारे करती है, उन्हे चित्रकला रग-रेखाओ के द्वारा व्यक्त करती है।[1] इसी पृथुल साम्य के कारण लनार्द द विंशी ने चित्र और सगीत को भगिनी कला के रूप मे स्वीकार किया है।[2] विंशी से भी बहुत पहले प्लूटार्क ने सभवत चित्रकला और सगीत कला के साम्य को निर्दिष्ट करने के लिए चित्रकला की तुलना मे सगीत कला के एक विशेष अग—नृत्य कला को उपस्थित कर दिया था।

भारतीय कला-साहित्य के अवलोकन मे सगीतकला और चित्रकला का तात्त्विक अन्त सम्बन्ध इस कारण प्रतिपादित होता है कि यहाँ प्राय सभी राग-रागिनियो के वैशिष्ट्यबोधक चित्र रग-रेखाओ मे बँधे मिलते हैं। ये रागमाला चित्र सगीतकला और चित्रकला की पारस्परिकता के द्योतक हैं। विशेषकर राजस्थानी चित्र तो रागमाला के अकन से भरे पडे है। रागमालाओ की कल्पना का प्रादुर्भाव-काल १५वी शती के आस-पास माना जाता है। राजस्थान शैली के अलावा रागमाला चित्रावलियाँ दकनी शैली, बसोहली शैली, पहाडी शैली और मुगल शैली मे भी पाई जाती हैं। किन्तु, कला-दृष्टि से राजस्थानी रागमाला ही महत्त्वपूर्ण है। राजस्थानी चित्रकला मे प्रचलित ये रागमाला-चित्र ललितकलाओ के तात्त्विक अन्त सम्बन्ध और उनकी पारस्परिकता के अद्भुत प्रमाण है, कारण, इन राजस्थानी रागमाला चित्रो मे उस नायिकाभेद की भी अभिव्यक्ति हुई है, जो काव्य-कला का विषय है और जिसका प्रसार राजस्थान शैली मे 'रसिकप्रिया' की रचना के बाद हुआ।[3] इस प्रकार

---

[1] Paragone by *Leorardo Da Vinci*, with an introduction and english translation by Irma A Richter, London, page 73

[2] Leonard Da Vinci, Paragone, London, page 74

[3] [illegible] आनन्दकुमार, [illegible], [illegible], अंक ६, पृ० ६१।

रागमाला चित्रो के माध्यम से नायिका-भेद के चित्रण ने भारतीय कला मे काव्य, चित्र और सगीत की त्रिवेणी प्रस्तुत कर दी। अत. सैद्धान्तिक धरातल पर ही नही, व्यवहार मे भी चित्रकला और सगीतकला का तात्त्विक अन्त-सम्बन्ध स्पष्ट है।

कुछ विचारक चित्रकला और सगीतकला की पृथक्ता को प्रतिपादित करते हुए कहते हैं कि चित्रकला मुख्यत. वर्ण-सयोजन और रूप-विधान है, जबकि सगीतकला मुख्यत स्वर-योजना और भावाभिव्यक्ति है। साथ ही, उनका यह मत है कि काव्य-रचना के जिस युग मे दृश्य गुण की प्रधानता रहती है, उस युग की काव्य-रचना मे चित्रात्मकता बढती जाती है और सगीतात्मकता घट जाती है। इसके विलोमस्वरूप जिस युग की काव्य-रचना मे सगीतात्मकता अधिक रहती है, उसमे चित्रात्मकता घट जाती है। किन्तु यह धारणा नितान्त भ्रान्तिपूर्ण है, क्योकि प्रस्तुत शोध-प्रबन्ध के द्वितीय खण्ड (छायावाद का कला-सौष्ठव) के प्रथम अध्याय मे हम यह पायेंगे कि छायावाद युग की कुछ उत्कृष्ट रचनाओ मे किस प्रकार सगीतात्मकता और चित्रात्मकता—दोनो का एक साथ पूर्ण निर्वाह हुआ है। इस दृष्टि से 'राम की शक्ति-पूजा' सर्वाधिक प्रशसनीय है। इतना ही नही, पाश्चात्य सगीत मे भी वर्ण-बोध को कलात्मक महत्त्व देकर बेरलियोत्स ने व्यावहारिक धरातल पर चित्र और सगीत के तात्त्विक अन्त सम्बन्ध को सिद्ध कर दिया है। दार्शनिक धरातल पर हीगेल ने इन दोनो कलाओ के अन्त सम्बन्ध को बहुत स्पष्टता के साथ स्वीकार किया है और यह माना है कि ये दोनो कलाएँ अत्यन्त निकट हैं।[1] इसी तरह गिल्सन ने भी आश्रय, आलम्बन तथा प्रेपणीयता की दृष्टि से इन दोनो कलाओ के तात्त्विक अन्त.सम्बन्ध का उद्घाटन किया है।[2]

तदनन्तर, कई चित्रकारो की चित्रकला पर विचार करने से चित्र और सगीत के अन्त.सम्बन्ध का पता चलता है। उदाहरण के लिए हम काण्डिन्स्की की चित्रकला पर विचार कर सकते हैं। काण्डिन्स्की अमूर्त ज्यामितिवाद या नैरूप्यवाद के प्रथम रूसी शिल्पी माने जाते हैं।[3] इन्होने सर्वत्र अपनी कृतियो मे चित्रकला और सगीतकला के बीच अद्भुत सादृश्य और तात्त्विक

१. *Hegel*, The Philosophy of Fine Art, Volume III, London, 1920, page 347-348.

२. *Etienne Gilsen*, Painting and Reality, London, 1957, page 18.

३. श्री अर्द्धेन्दु कुमार गगोपाध्याय, रूपशिल्प, प्रथम सस्करण, बंगाल पब्लिशिग होम, धर्मतल्ला स्ट्रीट, कलकत्ता, पृष्ठ २१, २६।

मात्र दिखलाने की चेष्टा की है। कहा जाता है कि चाक्षुप कलाओं, विशेषकर चित्रकला के संरचनावादी विधान में संगीतात्मकता भरने की जैसी चेष्टा कान्डिन्स्की ने की है, वैसी चेष्टा कोई अन्य चित्रकार अब तक नहीं कर सका है।[1] कान्डिन्स्की की यह कला-प्रवृत्ति एक तात्त्विक सिद्धान्त पर निर्भर है। इस तात्त्विक सिद्धान्त का मूलाधार है—रंगों का मनोवैज्ञानिक प्रभाव। रंगों के उस मनोवैज्ञानिक प्रभाव के द्वारा ही नाद और वर्ण (रंग) के समीकरण को उपस्थित कर चित्रों में संगीतात्मकता भरी जाती है।

तदनन्तर, चित्रकला और मूर्तिकला का तात्त्विक अन्त सबंध सहज अनुमेय है। ये दोनों कलायें दृश्य हैं, चाक्षुप प्रत्यक्ष पर अधिक निर्भर हैं, स्थूल साधनों के द्वारा अभिव्यक्ति और प्रेषणीयता को सम्पन्न करती है तथा भाव के किसी आस्पद को देशीय अन्तराल (स्पेस) में रखकर उपस्थित करती है।[2] अतः चित्रकला और मूर्तिकला का तात्त्विक अन्त सबंध उतना ही स्पष्ट है, जितना कि काव्य और संगीत का।

दृश्य कलाओं के बीच चित्रकला और स्थापत्यकला के अन्त सबंधों पर कुछ विस्तार से विचार करने की आवश्यकता है, क्योंकि चित्रकला आधार और माध्यम की दृष्टि से दृश्य कलाओं के बीच सर्वाधिक सूक्ष्म है और स्थापत्य कला सर्वाधिक स्थूल। तथापि कलाओं के बीच तात्त्विक अन्त.सबंध की व्याप्ति के कारण इन दोनों कलाओं में भी पर्याप्त पारस्परिकता है। विशेषकर, 'कन्स्ट्रक्टिविज़्म' के उदय के बाद चित्रकला और स्थापत्य कला की निकटता और भी महत्त्वपूर्ण हो गई है। चित्रकला में इस 'वाद' के प्रवर्त्तकों ने स्थापत्य से आगे बढ़कर यांत्रिकी के समावेश को वांछनीय माना है। इस प्रकार चित्रकला के क्षेत्र में लगभग १९१७ ईस्वी के पश्चात् त्रिपार्श्ववाद (क्युबिज़्म) को अपूर्ण मानकर इस नये 'वाद' का प्रवर्त्तन चित्रकला में स्थापत्य के तत्त्वों की स्वीकृति का प्रमाण है।[4] सच तो यह है कि स्थापत्य कला सभी कलाओं की जननी है। अंग्रेजी में एक पुरानी कहावत प्रचलित है—'आर्किटेक्चर इज द मदर ऑव द आर्ट्स।' अत कई विचारकों, जैसे आर० एच०

---

1. *E H Ramsden*, An Introduction to Modern Art, London, 1940 page 34
2. *E H. Ramsden*, An Introduction to Modern Art, London, 1940 pages 36-37,
3. *Hegel*, The Philosophy of Fine Art, translated by Osmaston, London, 1920, Volume III, page 348
4. *Sheldon Cheney*, The Story of Modern Art, New York, 1947, pages 474-476

विलेन्स्की ने चित्रकला और स्थापत्य के तात्त्विक अन्त सबंधो पर विस्तृत विचार किया है ।[1] त्रिपार्श्ववाद या घनवाद की उद्भावना के प्रमुख कारणो में चित्रकला पर स्थापत्य का प्रभाव भी एक है । जाँ गोर्दो ने तो घनवाद को 'पेण्टर्स इक्विवैलेंट टु आर्किटेक्चर' कहा है ।[2] अत जाँ गोर्दो, आर० एच० विलेन्स्की इत्यादि ने घनवाद का मूल्याकन स्थापत्य के प्रभावो और स्थापत्य की रुचि के अनुसार किया है । विलेन्स्की ने स्थापत्य-रुचि के आधार पर वान गॉग, गॉगिन और रेनियर की कृतियो को दृष्टिगत रखते हुए घनवाद के दो नूतन भेद प्रस्तुत किये हैं—'फ्लैट पैटर्न क्युब्रिज्म' और 'माउण्टेन ऑव ब्रिक्स क्युबिज्म ।'[3] प्रथम प्रकार का समर्थन करने वाला चित्रकार चपटी सतह पर कुछ प्रतीको के सहारे अभीप्सित वस्तु को उपस्थित करता है, जिसमे चित्रात्मक सघटन (डायग्रामेटिक ऑर्गेनाइज़ेशन) रहता है । दूसरे प्रकार का चित्रकार भी अपने को 'वास्तु चित्रकार' (आर्किटेक्चर पेण्टर) कहता है, किन्तु वह एक धारणा के लिए एक ही प्रतीक का समर्थक नही है । उसके अनुसार एक धारणा मे अनेक प्रकार की अनुभूतियाँ और अर्थ-छवियाँ अकित रहती हैं । अत. उनके इगन के लिए प्रतीको का वैविध्य चाहिए । इस प्रकार उक्त विश्लेषण से यह सकेतित होता है कि चित्रकला और स्थापत्यकला मे केवल शास्त्रीय दृष्टि मे पारस्परिक अन्त:सबध नही है, बल्कि इन दोनो मे प्रभावो का विनिमय चलता रहता है ।

चित्रकला की तरह काव्य पर भी कही-कही स्थापत्य का तात्त्विक प्रभाव पाया जाता है । उदाहरण के लिए विलियम मॉरिस की कविताओ पर स्थापत्य का प्रभाव ।[4] इतना ही नही, अग्रेज़ी आलोचना मे कविता का विश्लेषण स्थापत्यकला के रूपको के आधार पर होता रहा है, जो उक्त दोनो कलाओ

---

१. *R. H Wilenski*, The Modern Movoment in Art, London, 1956, page 19

२. *Jen Gerden*, Modern French Painters, 134—"Cubism is the painter's equivelent to architecture, or we may say architecture is a variety of Cubist sculpture"

३. *R H Wilenski*, The Modern Movement in Art, London, 1956, pages 165-166

४. *Graham Hough*, The Last Romantics, London, 1961, page 83

की पारस्परिकता का निदर्शक है।[1] सस्कृत नाट्यशास्त्र के ग्रन्थो मे निरूपित प्रेक्षागृह और रगमच के विधान भी उस ओर प्रकारान्तर से सकेत करते हैं। भरत के नाट्यशास्त्र, शिल्परत्न,[2] संगीतरत्नाकर[3] और मानसार शिल्पशास्त्र[4] मे रगमच और प्रेक्षास्थल का जैसा निरूपण किया गया है, वह काव्य के एक विशिष्ट अग—नाटक के साथ स्थापत्यकला की तात्त्विक निकटता को घोषित करता है।

तदनन्तर, सगीतकला और स्थापत्य में जो तात्त्विक अन्त सवध है, वह उपेक्षणीय नही है। यद्यपि सगीत श्रव्य कला है और कुछ विचारको की दृष्टि में सूक्ष्मतम कला है तथा स्थापत्य कला दृश्यकला है और सर्वाधिक स्थूल कला है, तथापि इन दोनो का तात्त्विक अन्त सवध अक्षुण्ण है। इसीलिए श्लेगेल ने स्थापत्यकला को 'फ्रोजेन म्युजिक' कहा है। अत इसके विलोम को स्वीकार करते हुए हम सगीत को 'फ्लोइग आर्किटेक्चर' कह सकते हैं। स्थापत्यकला की सबसे बडी विशेषता यह है कि इसमे सवध-सगति रहती है और इसमे सन्तुलन, परस्पराश्रित सयोजन और विनियुक्त उपादानो का घनत्व अन्य ललित-कलाओ की अपेक्षा अधिक मिलते हैं। सगीतकला भी अपनी उत्कृष्टता के निमित्त स्थापत्यकला के उक्त तत्त्वो को स्वीकार करती है। सगीत कला के क्षेत्र मे स्वीकृत विधानो के बीच हमे स्वर-सन्तुलन, स्वरो के आरोह-अवरोह का परस्पराश्रित सयोजन और स्वर-दोलो की घनता का सचेष्ट निर्वाह मिलता है। विक्टर त्सुकरकाण्ड्ल ने अपने प्रसिद्ध प्रबन्ध मे सगीत और स्थापत्यकला के इस तात्त्विक अन्त सबध का तर्कपुष्ट निर्देश किया है।[5] सगीत और

---

१. जैसे, कॉलरिज ने [illegible] की आलोचना करते हुए लिखा है—

" *the style of architecture of Westminster Abbey is essentially different from that of St Paul's even though both had been built with blocks cut into the same form, and from the same quarry* "—Coleridge's Literary Criticism, with an introduction by J W Mackail, Humphrey Milford, London, 1938, page 50

२ शिल्परत्न, श्रीकुमार, सम्पादक—गणपतिशास्त्री, त्रिवेन्द्रम सस्कृत सीरीज न० ८५, १९२२।

३. सगीतरत्नाकर, शार्ङ्गदेव, सम्पादक—मगेश रामकृष्ण तेलग, गायकवाड सस्कृत ग्रंथमाला, न० ३५, १८९७।

४. मानसारशिल्पशास्त्र, सम्पादक—पी० के० आचार्य, ऑक्सफोर्ड, १९३३।

५ Victor Zuckerkandl, Sound and Symbol, translated from the German by Willard R Trask, Pantheon Books, 1956, page 240

स्थापत्य मे, जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है, सबधो की सगति का समान महत्त्व है। सगीत मे यह सबध-सगति स्वरो के विधान पर निर्भर करती है और स्थापत्य मे यह सबध-सगति स्थान-सबधी अन्तराल (स्पेस), प्राचीरो की पक्तिबद्धता और स्थूल द्रव्यो के भार या चाप पर कायम रहती हैं।[1] अत. हीगेल का मत है कि सगीत और स्थापत्य मे प्रभूत साम्य है।[2]

अब हम काव्य और सगीतकला के तात्त्विक अन्त सबध पर विचार करेंगे। ये दोनो श्रव्य कलाएँ हैं और इन दोनो की निकटता सर्वथा विख्यात है। यह सच है कि अत्याधुनिक कविता ने सगीत से पृथक् होकर अपने स्वतत्र व्यक्तित्व का निर्माण किया है और अब वह राग-रागिनियो मे बाँधकर नही रची जाती है, किन्तु, अब भी कविता मे उस लय[3] का महत्त्व सुरक्षित है, जो सगीत का प्रधान तत्त्व है। अत अत्याधुनिक कविता सगीत से रहित नही है, बल्कि वह प्राचीन काव्य के मुखर और आचेष्टित सगीत से दूर है। यह कहना अधिक समीचीन होगा कि अत्याधुनिक कविता मे सगीत का आभ्यन्तरीकरण हो गया है। लय के सहयोग से कविता की आकृति सुगम हो जाती है और उसकी प्रेषणीयता का प्रभाव-क्षेत्र बढ जाता है। कविता का नाद-सौन्दर्य, भाव-प्रकाश अथवा अर्थ-वैमत्य बहुत दूर तक कवियो की सगीत-चेतना और लय-निर्वाह पर निर्भर करता है। कविता की यह सगीतात्मकता प्रधानत दो रूपो मे व्यक्त होती है, जिन्हे हम शब्द-सगीत और भाव-सगीत या अर्थ-सगीत कह सकते हैं। तदनन्तर, शब्द और स्वर की घनिष्ठता भी काव्य और सगीत के तात्त्विक अन्त सबध का निर्देश करती है। भारतीय परम्परा मे वाणी की अधिष्ठात्री देवी सरस्वती के हाथ मे (सगीतप्रियता के द्योतन के लिए) वीणा है। इस तरह भारतीय साहित्य मे निरूपित सरस्वती का यह पौराणिक स्वरूप

---

१ *S Alexander*, Beauty and other Forms of Value, London, 1933, page 104

२. "Philosophy of Fine Art, 34.

३. काव्य में प्रयुक्त लय के कई प्रकार होते हैं। जैसे, नॉर्थ्रॉप फ्रे ने काव्योपयुक्त लय के इतने प्रकार निरूपित किए हैं—क-छादस लय (prosodic rhythm), जिसका प्रयोग मात्रिक छन्दों में होता है ख—उच्चरित लय (accentual rhythm), जिसका प्रयोग वर्णिक छन्दो में होता है। ग—अर्थनिर्भर लय (semantic rhythm), जिसके द्वारा अत्याधुनिक काव्य में सगीत का आभ्यन्तरणकरण हुआ है। अनुकृत अथवा स्वागयुक्त लय (mimetic rhythm), जिसका अधिक प्रयोग पद्यबद्ध नाटकों के कथोपकथन में होता है। च—वैयक्तिक या आत्मोद्रिक्त लय (oracular, meditative, soliloquiting rhythm), जिसका प्रयोग Cummings जैसे नई शैली के अन्वेषकों को प्रिय होता है।—*Northrep Frye*, Sound and Poetry, New York, 1957, page 26.

भी काव्य (वाणी) और संगीत के तात्त्विक अन्तःसंबंध का निदर्शक है। सचमुच दोनों के संयोग से आकृति की व्यंजना निखर उठती है और कविता आत्मा का सुन्दर संगीत बन जाती है।[1]

अरस्तू ने अपने काव्यशास्त्र में कविता के छह प्रमुख तत्त्वों में 'म्यूजिक' और 'डिक्शन' की गणना की है और इन दोनों को प्रधानता दी है। सचमुच, कविता में ध्वनि और लय—दो ऐसे तत्त्व हैं, जिनका संगीत से निकट संबंध है। प्रधानतः इन्हीं दो तत्त्वों के कारण काव्य में संगीत का आधान होता है। अतः हम जब 'काव्य में संगीत' की चर्चा करते हैं, तब हमारा आशय संगीत की सम्पूर्ण शास्त्रीयता से नहीं रहता। जैसा कि नॉर्थ्रोप फ्रे का कथन है, शब्द का स्वर-सौन्दर्य या उसकी स्वर-सम्पदा ही काव्य का संगीत है।[2]

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि कविता में छन्द और लय की स्वीकृति काव्य और संगीत की तात्त्विक निकटता का प्रमाण है। लय तो कविता के लिए छन्द से भी अधिक महत्त्वपूर्ण है, क्योंकि कविता छन्द का तिरस्कार कर सकती है, किन्तु लय का बहिष्कार नहीं कर पाती।[3] यही कारण है कि हिन्दी की छायावादी कविता में जो मुक्त छन्द वर्णिक-मात्रिक बन्धनों के विरुद्ध विद्रोह का नारा बनकर उपस्थित हुआ, वह लय की विद्यमानता के कारण ताल-छन्द बन गया। इस तरह कविता और संगीत ही नहीं, सभी ललित कलाओं में लय संयोजन के अन्तर्भूत तत्त्वों में महत्त्वपूर्ण है। स्थापत्य जैसी स्थूल कला में लय स्थान अक्षुण्ण रहता है। कलाशास्त्रियों ने स्थापत्यकला में प्रयुक्त लय को 'आर्किटेक्टोनिक रिद्म' कहा है।[4] अतः उपर्युक्त विश्लेषण से यह स्पष्ट होता है कि

लय की सार्वत्रिक विद्यमानता सभी ललितकलाओ के तात्त्विक अन्त-सबध के निदर्शक कारणो मे एक है। फलस्वरूप, अनेक आधुनिक पाश्चात्य विचारकों ने लय की तात्त्विक सर्वनिष्ठता के कारण सभी ललितकलाओ के तत्त्वगत अन्तःसवध को अत्यधिक महत्त्व दिया है। कलाओं के बीच इस सर्वसमादृत लय को हम दो मुख्य प्रकारों मे बाँट सकते है—क्रमसंगत लय और क्रमहीन लय। क्रमसगत लय मे कला-निबद्ध इकाई की निश्चित क्रम से पुनरावृत्ति होती है और क्रमहीन लय मे कला-निबद्ध की आवृत्ति अनिश्चित क्रम मे होती है। अर्थात्, क्रमहीन लय मे इकाइयों की पुनरावृत्ति विभिन्न प्रकार से होती है। इसका सुन्दर उदाहरण आर्केस्ट्रा के विभिन्न वाद्यो द्वारा उत्पन्न सगीत-प्रवाह मे पाया जा सकता है।

जिस प्रकार काव्य और सगीत मे तात्त्विक दृष्टि से अन्त सबध और प्रभूत साम्य है, उसी प्रकार तुलनात्मक अध्ययन करने पर कुछ कवियो और संगीतकारो मे पर्याप्त साम्य दिखाई पडता है। पाश्चात्य विचारको ने कुछ कवियो और सगीतकारो को एक साथ लेकर ऐसे तुलनात्मक अध्ययन का अच्छा प्रयास किया है। **डब्ल्यू० आर० एस० मेण्डल** का कहना है कि बीसवी शताब्दी मे जिस तरह कवियो के बीच टेनिसन रचना-शिल्प की दृष्टि से असाधारण हैं, उसी तरह बीसवी शताब्दी मे सगीतकारो के बीच मेण्डलसन शिल्प-नैपुण्य की दृष्टि से अप्रतिम है। शेक्सपीयर, टेनिसन, कीट्स और ब्राउनिंग के अलावा भी अनेक ऐसे कवि हैं, जो सगीतकारो की तुलना मे भले ही कुछ सगीतकला-विषयक विशिष्टताएँ न रखते हो, किन्तु, कवि होने के नाते सगीत-जैसी काव्येतर कला से काफी रुचि रखते थे। उदाहरण के लिए हम **बायरन** का स्मरण कर सकते हैं। १८१८ ई० मे **बायरन** की 'द वाल्ज . एन एपॉस्ट्रोफिक हिम्' शीर्षक कविता[१] छपी थी, जबकि 'वाल्त्स' के नाम से प्रसिद्ध इस जर्मन चक्रनृत्य का प्रवेश इगलैण्ड मे १८१८ ईस्वी से मात्र एक दशक पूर्व हुआ होगा। पाश्चात्य सगीत मे 'रोमाण्टिक म्युजिक' का अन्य भगिनीललित कलाओ, विशेषकर, काव्य और चित्रकला से घनिष्ठ सबध है। प्राय ऐसा पाया जाता है कि प्रत्येक कला अपने रोमाण्टिक युग मे अधिक प्रभावित रहती है। इसीलिए रोमाण्टिक युग की कविता भी काव्येतर कलाओ से विशेष सबध रखती है। फलस्वरूप, प्रस्तुत शोध-प्रबन्ध मे ललितकलाओ के तात्त्विक विवेचन को हिन्दी की रोमाण्टिक कविता (छायावाद) के विशेष सन्दर्भ मे प्रस्तुत किया गया है।

साराश यह है कि रोमाण्टिक युग की कला मे अन्य भगिनी कलाओ के प्रमुख

---

१. The Selected Poetry of Lord Byron, edited by Leslie A. Marchand, New York, 1951, pages 399-406.

तत्त्वों को अपने-आपमें समाविष्ट करने की विशेष प्रवृत्ति रहती है। उदाहरण के लिए रोमाण्टिक युग के पाश्चात्य संगीत में हम काव्यकला की तत्कालीन समस्त प्रवृत्तियों का आधान पाते हैं। लनार्ड जी० रैट्नर ने पाश्चात्य संगीत कला का सर्वेक्षण प्रस्तुत करते हुए रोमाण्टिक युग के इस कला-संगम की चर्चा की है।[1] रोमाण्टिक युग का क्रमिक संगीत इस दृष्टि से और भी महत्त्वपूर्ण है। यों उन्नीसवीं शताब्दी से पूर्व भी संगीत कला में काव्यात्मकता और चित्रात्मकता का समावेश होता रहा था, किन्तु उन्नीसवीं शताब्दी में काव्य, चित्र और संगीत के तात्त्विक समीकरण को सिद्धान्ततः महत्त्व दिया गया।[2] इस प्रकार यह स्पष्ट है कि पाश्चात्य संगीतकला के रोमाण्टिक युग में संगीत, काव्य और चित्र का बहुत गाढ़ा अन्तर्ग्रंथन था। इतना ही नहीं, उस युग में अनेक संगीतकार, कवि और आलोचक थे। अतः इन संगीतकारों की रचना में हमें संगीत और काव्य के संयुक्त धरातल की अनुभूति और अभिव्यक्ति मिलती है। इसी युग में वेबर, बर्लियाज, शुमान और वाग्नेर-जैसे संगीत-विशारद हुए, जिनकी कारयित्री प्रतिभा साहित्य-सृजन की ओर भी उन्मुख रहती थी। दूसरी ओर, ई० टी० ए० हॉफमान जैसे स्वच्छन्दतावाद के प्रबल पक्षधर लेखक थे, जो साहित्य-सृजन के साथ ही संगीतकला के क्षेत्र में नवीन प्रयोग और नई रचनाएं प्रस्तुत कर रहे थे। इस तरह इस युग में संगीत और काव्य अत्यन्त निकट आ गए (जैसे, हिन्दी साहित्य के भक्तिकाल में) तथा कवि और संगीतकार एक-दूसरे की विशेषताओं के विनिमय में तल्लीन हो गये। फलस्वरूप, संगीत के काव्यात्मक और काव्य के संगीतात्मक होने की एक विशेष प्रवृत्ति परवान पर पहुँच गई। कवियों ने शब्दों की शय्या संगीत के आधार पर निर्मित की और संगीतकारों ने शब्दों को संगीत का वाहक बना लिया। इस युग ने काव्य और संगीत ही नहीं, बल्कि सभी ललितकलाओं के तात्त्विक संगम का प्रकर्ष वाग्नर की रचनाओं में मिलता है। वाग्नेर ने अपनी प्रसिद्ध कृति 'द आर्ट वर्क ऑव द फ्यूचर' में ललितकलाओं के इस तात्त्विक समागम का सैद्धान्तिक निरूपण किया है।

इसी तरह पाश्चात्य संगीत में स्वरवादी वर्ग को महत्त्व देने के बाद जिस प्रभाववादी संगीत का श्रीगणेश हुआ, उसका प्रभाववादी चित्रकला और प्रतीकवादी कविता से घनिष्ठ सम्बन्ध है। तात्त्विक और प्रवृत्तिगत साम्य की बात

---

[1] Leonard G Ratner, Music—The Listner's Art, New York, 1957, page 200

[2] Leonard G Ratner, Music—The Listner's Art, New York 1957, page 230.

अलग रही, पाश्चात्य प्रभाववादी सगीत का नामकरण ही चित्रकला की उस धारणा के अनुकरण पर किया गया है, जिसका नेतृत्व प्रभाववादी चित्रकार कर रहे थे। ये चित्रकार जिस प्रकार अपनी कृतियो मे बिन्दुचित्रण के द्वारा धूप-छाँही छाया-छवि को पैदा करते थे, उसी प्रकार प्रभाववादी सगीतकार भी छोटे-छोटे स्वन-वृत्तो और विरल खण्डित स्वर-सगतियो के द्वारा नाद-सौन्दर्य की प्रभावान्विति का सृजन कर रहे थे। इसी तरह प्रतीकवादी कवियो की कविताओ ने प्रभाववादी सगीत को पर्याप्त सामग्री प्रदान की। कहा जाता है कि वर्लेन, मलार्मे, मेटरलिंक इत्यादि की प्रतीकवादी रचनाओ ने प्रभाववादी सगीतकारो के लिए प्रेरणास्रोत का काम किया। इनके द्वारा प्रयुक्त व्यजनाप्रधान छायार्थ-वाली शैली प्रभाववादी सगीतकारो के लिए बहुत प्रभावक सिद्ध हुई। प्रभाव-वादियो की सगीत-शैली और प्रतीकवादियो की काव्य-शैली ने मिलकर स्वन-सम्पदा के द्वारा शब्द-बिम्बो मे अर्थातिशय भरने की नवीन सभावनाएँ प्रस्तुत की। फलस्वरूप, काव्य-सगीत का अलकार बन गया और सगीत काव्य का शोभादायक गुण।

हिन्दी से सबद्ध भारतीय साहित्य और कला की परम्परा मे भी हम काव्य और सगीत के बीच तात्त्विक अन्तःसबध के कारण पर्याप्त निकटता पाते हैं। विशेषकर तेरहवी से सोलहवी शताब्दी तक अमीर खुसरो, गोपालनायक, हरि-दास, बैजू बावरा और तानसेन-जैसे अनेक सगीतज्ञ कवि हुए, जिन्होने अपनी रचनाओ से काव्य और सगीत का बडा ही मधुर मेल उपस्थित कर दिया। हिन्दी साहित्य का भक्तिकाल काव्य और संगीत की दृष्टि से अभूतपूर्व है। भग-वान् की लीला के अनुगायन मे भक्त कवियो द्वारा रचे गये लीला के पद सगी-तज्ञ कवियो के 'ध्रुपद' की तरह ही अपने-आपमे सगीत-सौष्ठव लिये हुए हैं।[1]

इस प्रकार यह स्पष्ट है कि यद्यपि सगीत मे स्वर और ताल-साधना प्रधान होती है और काव्य मे शब्द-साधना के साथ वर्ण एव मात्रा-गणना प्रधान होती है, तथापि इन दोनो मे अनेक तात्त्विक सबध हैं। इसीलिए यह कहा जाता रहा है कि 'कविता शब्दो के रूप मे सगीत और संगीत स्वर के रूप मे कविता है।' सचमुच काव्य और सगीत ही नही, प्रत्येक कला अपने चरम विकास के क्षणो मे अन्य भगिनी कलाओ का आश्रय ग्रहण करती है। कलाओ के इस पारस्परिक आश्रय की दृष्टि से भारत की मध्यकालीन कलाएँ भी महत्त्वपूर्ण हैं।[2]

---

१. नर्मदेश्वर चतुर्वेदी, सगीतज्ञ कवियों की हिन्दी रचनाएँ, साहित्य भवन लिमिटेड, इलाहाबाद, १९५५, पृ० १२।

२. "कलाओं के अपूर्व समन्वय द्वारा भावों की जैसी सूक्ष्म तीव्रतम अभिव्यजना भारत में उस समय (मध्यकाल में) हुई, विभिन्न कलाओं का वैसा मणिकाचन सयोग विश्व के इति-हास में अन्यत्र प्रायः देखने को नहीं मिलता है। सगीत और साहित्य के इस अपूर्व समन्वय

यहाँ यह ध्यातव्य है कि काव्य और संगीत का एक-दूसरे के अभाव में भी स्वतंत्र व्यक्तित्व संभव है। जिस तरह इन दिनों हम (अपेक्षाकृत) संगीत से मुक्त कविता को पाते हैं, उसी तरह संगीत भी काव्य से सर्वथा मुक्त और पृथक् हो सकता है। संगीत का शास्त्रीय पक्ष इसे सिद्ध करता है कि संगीत शब्द (जो काव्य की सम्पत्ति है) से रहित होकर भी भावाभिव्यक्ति में सफल होता है। गायकों में प्रचलित तराना-शैली से यह बात समर्थित होती है। अर्थ-हीन तोम् तननन् देरेना-जैसे स्वर-वर्ण-समूहों से गायक भावोद्दीपक संगीत की सृष्टि कर लेते हैं। किन्तु, यह तो संगीत का आंशिक और अपेक्षाकृत अमूर्त रूप है। अतः हमारा आशय यह नहीं है कि काव्य के बिना संगीत और संगीत के बिना काव्य की स्थिति संभव नहीं है, बल्कि हमारा आशय यह है कि प्रभाव-वृद्धि के लिए दोनों का पारस्परिक सम्प्लवन अत्यावश्यक है। अर्थात् भावपूर्ण शब्द-योजना (जो काव्य की निधि है) के अभाव में संगीत उसी प्रकार कम प्रभावोत्पादक होता है, जिस प्रकार संगीत के अभाव में काव्य।

हिन्दी साहित्य में काव्य और संगीत के तात्त्विक अन्तःसंबंध पर अन्य कलाओं के पारस्परिक अन्तःसंबंध की अपेक्षा अधिक विचार किया गया है। जैसे, आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने कविता को विवेचित करते समय इसके साथ संगीत के सम्प्लवन को निर्दिष्ट करते हुए लिखा है—"काव्य एक बहुत ही व्यापक कला है। जिस प्रकार मूर्त विधान के लिए कविता चित्रविद्या की प्रणाली का अनुसरण करती है, उसी प्रकार नाद-सौष्ठव के लिए वह संगीत का कुछ-कुछ सहारा लेती है। नाद-सौन्दर्य कविता की आयु बढ़ाता है। अतः नाद-सौन्दर्य का योग भी कविता का पूर्ण स्वरूप खड़ा करने के लिए कुछ-न कुछ आवश्यक होता है।"[1] इसी प्रकार हिन्दी की कई कृतियों में काव्य और संगीत के तात्त्विक अन्तःसंबंध का प्रसंगानुसार उल्लेख मिलता है, जिनमें निम्नलिखित कृतियाँ उल्लेखनीय महत्त्व की हैं —'पल्लव' की भूमिका, 'परिमल' की भूमिका, प्रसाद-कृत 'काव्य और कला तथा अन्य निबन्ध', श्यामसुन्दर दास-कृत 'साहित्यालोचन', रामनरेश त्रिपाठी-कृत 'तुलसीदास और उनकी

कविता' (दूसरा खण्ड), 'कविता-कौमुदी' (पाँचवाँ तथा छठा भाग), डॉ० विश्वम्भरनाथ भट्ट-कृत 'रत्नाकर : उनकी प्रतिभा और कला', डॉ० दीनदयालु गुप्त-कृत 'अष्टछाप और वल्लभ सम्प्रदाय', डॉ० मुन्शीराम शर्मा 'सोम'-कृत 'सूर-सौरभ', डॉ० हरवंशलालशर्मा-कृत 'सूर और उनका साहित्य', नर्मदेश्वर चतुर्वेदी-कृत 'संगीतज्ञ कवियों की हिन्दी रचनाएं', नर्मदेश्वर चतुर्वेदी-कृत 'कवि तानसेन और उनका काव्य', डॉ० उषागुप्त-कृत शोध-प्रबन्ध 'हिन्दी के कृष्ण-भक्तिकालीन काव्य मे सगीत, तथा डॉ० उमामिश्र-कृत 'काव्य और संगीत का पारस्परिक सबध।'[1] इन कृतियो मे भी अन्तिम दो शोध-प्रबन्ध काव्य और सगीत के अन्त सबधो के उद्घाटन की दृष्टि से हिन्दी साहित्य मे विशेष महत्त्व-पूर्ण हैं।

अब हम काव्य और सगीत के तात्त्विक अन्त.सबध के उपर्युक्त सैद्धान्तिक निरूपण को प्रयोग के निकष पर जाँचने के लिए किसी इतिहास-प्रसिद्ध कवि की कृतियो का व्यावहारिक अध्ययन प्रस्तुत करेंगे। ऐसे अध्ययन के लिए **रवीन्द्रनाथ ठाकुर** हमारे समक्ष सर्वाधिक उपयोगी सिद्ध होते हैं।[2] पहला कारण यह है कि इनकी कृतियो का अध्ययन काव्य और सगीत के अन्त संबंध की दृष्टि से करने पर हमारे सामने उक्त विषय से सबद्ध भारतीय चिन्ताधारा की एक पीठिका उपस्थित हो जाती है। दूसरा कारण यह है कि प्रस्तुत शोध-प्रबन्ध मे कला-तत्त्वो का सौन्दर्यशास्त्रीय विवेचन जिस छायावादी कविता के विशेष सन्दर्भ मे किया गया है, उस छायावादी कविता पर **रवि बाबू** की कृतियो का ऋजु या प्रकारान्तर से प्रभाव माना जाता है। अतः इस प्रसग मे **रवि बाबू** के काव्य का अध्ययन हमे वह सैद्धान्तिक आधार भी प्रदान करेगा, जिसे ध्यान मे रखकर हम इस शोध-प्रबन्ध के द्वितीय खण्ड के प्रथम अध्याय मे

---

१. डॉ० रामेश्वरलाल खण्डेलवाल ने भी अपने शोध-प्रबन्ध के परिशिष्ट में कविता और सगीत की अन्त-सम्बद्धता पर सक्षेप में विचार किया है। द्रष्टव्य—आधुनिक हिन्दी कविता में प्रेम और सौन्दर्य, डॉ० रामेश्वरलाल खण्डेलवाल, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली, प्रथम सस्करण, परिशिष्ट न० २, पृ० ४८७-४८९।

२. रवि बाबू ने काव्य के साथ सगीत का बहुत ही घनिष्ठ सम्बन्ध माना है। इनकी दृष्टि मे सगीत ललितकला का विशुद्धतम सर्वोच्च रूप है क्योकि संगीत में सौन्दर्य की सर्वाधिक ऋजु अभिव्यक्ति होती है। इसलिए सच्चा कवि सगीत का आश्रय लेकर ही सृष्टि में व्याप्त सौन्दर्य का शब्दों के माध्यम से प्रेषण करता है—

"Music is the purest form of art, and therefore the most direct expression of beauty Therefore the true poets · seek to express the universe in terms of music"—*Rabindranath Tagore*, Sadhana London, *1961*, pages *141-142*.

छायावादी कवियों की संगीत-चेतना पर अच्छी तरह विचार कर सकेंगे।

रवि बाबू के काव्य में संगीत का तत्त्व इतना अधिक है कि इनके काव्य-संगीत पर निबन्ध ही नहीं, प्रबन्ध भी लिखे गए हैं। जैसे—शान्तिदेव घोष का 'रवीन्द्र संगीत' नामक प्रबन्ध। रवि बाबू की काव्य-चर्चा में इनके संगीत को इतना महत्त्व मिलने का एक कारण यह है कि काव्य-चेतना के सदृश इनकी संगीत-चेतना में भी पर्याप्त मौलिकता है। निस्सन्देह, इनकी संगीत-चेतना पुरानी मान्यताओं से कई अर्थों में पृथक् है। उदाहरणार्थ, इनका संगीत भावों के संवाद पर निर्भर है पुराने संगीत की तरह उस सुर-विस्तार पर नहीं, जिसे प्राय लोग रागिनी की रूप-कल्पना कहते हैं। अर्थात्, रवि बाबू का संगीत उन्मुक्त और निर्वैयक्तिक भाव-संगीत है। इसी तथ्य को हम शब्दान्तर में कह सकते हैं कि इनके संगीत में स्वर-गठन की अपेक्षा भाव-रस की प्रधानता है। अत इन्होंने अपने संगीत को राग-रूप या सुर-विस्तार से नहीं, बल्कि भाव-समृद्धि से रसोत्तीर्ण बनाया है।[1] फलस्वरूप, रवीन्द्र-संगीत में हमें राग-रूप पर विशेष बल नहीं मिलता है। इन्होंने राग-रागिनी की रूप-सृष्टि से भाव को अधिक महत्त्व दिया है और भाव की तुलना में रूप-सृष्टि को गौण स्थान दिया है।[2] इस तरह रवीन्द्र-संगीत में हमें न रागिनी की मूल स्वर-गठन-प्रणाली की ओर कोई विशेष अभिनिवेश मिलता है और न राग-रागिनी के व्याकरणगत शास्त्रीय नियमों का कठोर निर्वाह।

मतलब यह कि प्राचीन भारतीय सगीत के प्रति इनकी धारणा दोलाचल स्थिति मे है। एक ओर इनकी रचनाओ से ऐसा प्रतीत होता है कि इन्होने प्राचीन भारतीय सगीत के नियमो पर निर्मम भाव से आघात किया है, किन्तु दूसरी ओर इन्होने 'सगीत और भाव' शीर्षक निबन्ध मे अपने सगीत-सिद्धान्त को जिस प्रकार उपस्थित किया है, उससे यह सिद्ध होता है कि रवीन्द्र-सगीत को भारतीय प्राचीन सगीत से पृथक् मानकर देखना उचित नही है। उपर्युक्त सैद्धान्तिक स्वीकृति के अलावा इन्होने व्यवहार मे भी गीत-रचना मे कही-कही भारतीय सगीत-शास्त्र से सहायता ली है। जैसे, इन्होने कई गीतो की सुर-योजना और छन्द-वैचित्र्य के आधान मे उच्चाग सगीत की राग-रागिनी से पर्याप्त सहायता ली है। विशेपकर हिन्दी प्रदेश मे प्रचलित ध्रुपद के अनुकरण पर इन्होने कई गीतो का स्वर-मडान बाँधा है। इन्हे भारतीय राग-रागिनियो मे भैरवी की तरह ध्रुपद से भी प्यार था, कारण, ध्रुपद भारतीय सगीत की एक ऐतिह्यसम्मत गायन-पद्धति है और, दूसरे, ध्रुपद जोडासाँको के ठाकुर-परिवार को अत्यन्त प्रिय रहता आया है। यो, विपुल राशि मे गीतो की रचना करने के कारण इन्होने सगीत के क्षेत्र में भी अनेक प्रयोग किये है। अत: भैरवी और ध्रुपद के साथ कुछ और राग इनके प्रिय रागो की सूची मे गिने जा सकते हैं, जैसे—विहाग, खम्बाज और इमन। तदनन्तर, सगीत-सचेत कवि होने के कारण इन्होने अपनी मौलिक प्रतिभा के द्वारा सगीतशास्त्र की राग-रागिनियो से सहायता लेकर नूतन प्रयोग के रूप मे अनेक मिश्र सुरो की सृष्टि की है। जैसे, इन्होने 'उर्वशी' शीर्षक कविता का स्वय ही मिश्र कानडा रागिनी मे सस्करण किया था। इसी प्रकार इन्होने 'आजिशरत तपने प्रभात स्वपने' से प्रारम्भ होने वाले गीत मे योगिया-विभास राग का मिश्रित प्रयोग किया है। सामान्यत. योगिया और विभास भिन्न प्रकृति के राग है, किन्तु, रवि बाबू ने अपनी सगीत-प्रतिभा के योग से इन दोनो को मिलाकर एक अपूर्व सुर-सौन्दर्य की सृष्टि की है।[1]

इस प्रकार रवीन्द्रनाथ ठाकुर के काव्य-सगीत पर गम्भीरतापूर्वक विचार करने से काव्य और सगीत का तात्त्विक अन्त सबध और भी स्पष्ट हो जाता है। कविता मे सगीत जब काव्यत्व की रक्षा करते हुए सुनियत्रित ढग से समाहित हो जाता हैं, तब कविता की प्रेषणीयता और मण्डन-शिल्प मे एक चमत्कार आ जाता है। इसीलिए रवि बाबू कविता और सगीत के उत्कर्ष-विधायक अन्त सबध को स्वीकार करते हुए भी काव्य मे सगीत के सुनियन्त्रित आगम के

---

१. श्री प्रफुल्ल कुमार दास, रवीन्द्रनाथेर सगीतचेतनार सूचनाय ज्योतिरिन्द्रनाथेर प्रभाव, रवीन्द्रायन, सम्पादक, पुलिनविहारी सेन, वाक् साहित्य, कलकत्ता, पृ० २०१।

प्रति सचेत थे। यही नहीं, काव्य-संगीत के विषय में इनकी कई सुचिन्तित मान्यताएँ थीं। जैसे, काव्य-संगीत के अन्तर्गत ये तान-विस्तार के संयम के पक्षपाती थे और राग-संगीत के क्षेत्र में पुनरुक्ति-वर्जन के हिमायती थे। काव्य-संगीत के विषय में इनका यह आदर्श था कि काव्य का संगीत ऐसा होना चाहिए, जिससे उसके सुर के भीतर से काव्य का भाव सम्पूर्ण रूप में प्रस्फुटित हो सके। इस बारीक संगीत-चेतना के कारण इन्होंने कई गीतों में छन्द के साथ ताल का विधिबद्ध निर्वाह किया है। जैसे—'हेलाफेला सारा बेला ए कि खेला आपन सने' से प्रारम्भ होने वाले गीत में इन्होंने आढ़ खेमटा ताल का सफल प्रयोग किया है।[1] इसी प्रकार 'ऊ केन चूरि करे चाय' या 'दू जने देखा हल मधू यामिनी रे' जैसे गीतों में इन्होंने छन्द के साथ ताल के जिस समप्रयोग का परिचय दिया है, वह उनकी संगीत-चेतना का प्रमाण है। किन्तु, ताल के प्रति स्नेह रखते हुए भी इन्होंने काव्य के काव्यत्व को सुरक्षित रखने के लिए ताल के परिमाण के औचित्य का ध्यान रखा है। अतः इन्होंने अपनी ताल-योजना को गुन, दोगुन, चौगुन, बांट इत्यादि से बोझिल नहीं बनाया है। आशय यह है कि ताल-वैचित्र्य या ताल-वैविध्य को इन्होंने अपने गीतों के भाव-प्रकाश को समृद्ध करने के लिए ही स्वीकार किया है।

प्राचीन भारतीय संगीत के ग्रहण-वर्जन और अनेक नूतन प्रयोगों के कारण रवि बाबू के काव्य-संगीत को राजेश्वर मित्र ने बहुत अंशों में 'रोमाण्टिक' अर्थात् 'स्वच्छन्दतावादी' माना है।[2] सचमुच, रवि बाबू ने काव्य-संगीत को जिस आत्मगत और आत्मनिष्ठ दृष्टिकोण से देखा, उसे रोमाण्टिक कहना ही उचित प्रतीत होता है।[3] कुल मिलाकर हम रवि बाबू की काव्य-संगीत-संबंधी उन प्रमुख मान्यताओं को निम्नलिखित ढंग से उपस्थित कर सकते हैं, जिनसे व्यावहारिक धरातल पर काव्य और संगीत का तात्त्विक अन्तःसंबंध प्रमाणित होता है—

क—काव्य-सगीत के तान-विस्तार को सयत होना चाहिये।

ख—काव्य-सगीत का सौन्दर्य 'परिमिति' मे ही निखार पाता है।

ग—काव्यगत सगीत का उद्देश्य काव्य के भाव-प्रकाश को सुषमा प्रदान करना है।

इस तरह सभी ललितकलाओ के तात्त्विक अन्त:सबध और पारस्परिक समागम का सैद्धान्तिक विवेचन सोदाहरण समाप्त हुआ। इस विवेचन में हमने पाया कि चित्र, सगीत और काव्य मे तात्त्विक समागम की क्षमता उत्तरोत्तर बढती गई है। स्थापत्यकला और मूर्त्तिकला अपनी स्थूलता के कारण तात्त्विक समागम के इस उच्च धरातल पर पहुँचने मे पश्चात्पद रह जाती हैं। अत प्रस्तुत शोध-प्रबन्ध मे व्यर्थता से अलग रहकर सुनिर्णीत मूल्याकन के लिए चित्र, सगीत और काव्य को ही अधिकतर ध्यान मे रखा गया है तथा स्थापत्य एव मूर्त्तिकला का केवल प्रसगवश उल्लेख किया गया है। इस सन्दर्भ मे यह स्मरणीय है कि 'लाडकून' के प्रसिद्ध लेखक लेसिंग और 'न्यू लाडकून' के लेखक इर्विग बैबिट जैसे अनेक कला-विचारक उक्त विश्लेषण के विपरीत यह धारणा रखते है कि इस पारस्परिक प्रभाव और तत्त्व-सगम की दृष्टि से कलाओ पर विचार करना उचित नही है, क्योकि इससे अनेक प्रकार की भ्रान्तियाँ पैदा होती है। किन्तु, कला का इतिहास इसका साक्षी है कि किस प्रकार भगिनी ललितकलाओ ने अपने रूप और तत्त्व से एक-दूसरे को प्रभावित किया है। अत मेरा विनम्र मत है कि इस तात्त्विक अन्त.सबध की दृष्टि से कलाओं पर अवश्य विचार किया जाना चाहिये।

हिन्दी साहित्य मे अब तक ललितकलाओ के तात्त्विक अन्त सम्बन्ध या पारस्परिक अन्तरावलम्बन पर कोई व्यवस्थित कार्य नही हो सका है। इसका एक प्रमुख कारण यह है कि सस्कृतकाव्यशास्त्र या हिन्दी के अलावा अन्य आधुनिक भारतीय भाषा-साहित्य मे ऐसे तात्त्विक सौन्दर्यशास्त्रीय अध्ययन की कोई तगडी परम्परा नही है। प्राचीन आचार्यों के बीच भरत के 'नाट्यशास्त्र', राजशेखर की 'काव्य मीमांसा' और अभिनव गुप्त की कृतियो मे प्रसगवश ललितकलाओ के तात्त्विक अन्त.सम्बन्ध का निर्देश मिलता है। सस्कृत काव्यशास्त्र मे ललितकलाओ के अन्त.सम्बन्ध पर कम विचार किये जाने का प्रधान कारण यह है कि यहाँ काव्य की गणना विद्या मे और कलाओ की गणना उपविद्या मे की जाती थी। इस वर्ग-भेद के कारण यहाँ काव्यशास्त्रीय विचारणा मे कलाओ के विवेचन को उचित स्थान नही मिल सका। तथापि शास्त्रीय और व्यावहारिक—दोनो धरातलो पर सस्कृत साहित्य मे भी अन्य कलाओ के साथ काव्य के अन्त सम्बन्ध का सकेत मिलता है। शास्त्रीय धरातल पर राजशेखर के विचार बहुत महत्त्वपूर्ण हैं। राजशेखर का

गम्नव्य है कि यद्यपि काव्य या साहित्य विद्या है और कलाएँ उपविद्या है, तथापि काव्य और कलाओ के बीच एक अन्त सम्बन्ध है, क्योकि कलाओ के सन्निवेश से काव्य को जीवन मिलता है—"शब्दार्थयोर्यथावत्सहभावेन विद्या साहित्य विद्या। उपविद्यास्तु चतु षष्टि। ताश्च कला इति विदग्धवाद। स आजीव: काव्यस्य।"[1] अत राजशेखर ने कवि-चर्चा का विवेचन करते समय कवियो को कलाओ के अनिवार्य अध्ययन का निर्देश दिया है—"गृहीत विद्योपविद्य काव्यक्रियायै प्रयतेत। नामधातपारायणे, अभिधानकोश, छन्दोविचिति, अलकारतन्त्र च काव्यविद्या। कलास्तु चतु षष्टिरुपविद्या।"[2] इसी तरह आचार्य वामन ने भी 'काव्यालंकारसूत्रवृत्ति' मे काव्य के उत्कर्ष के लिए अन्य कलाओ के साहाय्य का निर्देश किया है—"कलशास्त्रेभ्य कलातत्त्वस्य सवित्। कला गीतनृत्यचित्रादिकास्तासामभिधायकानि शास्त्राणि विशाखिलादिप्रणीतानि कलाशास्त्राणि। तेभ्य कलातत्त्वस्य सवित् सवेदनम्। न हि कलातत्त्वानुपलब्धौ कलावस्तु सम्यक् निबद्धु शक्यमिति।"[3] तदनन्तर, व्यावहारिक या लोकप्रचलित धरातल पर सस्कृत साहित्य मे अनेक ऐसी उक्तियाँ मिलती हैं, जिनमे काव्येतर कलाओ के साथ काव्य का अन्त सम्बन्ध समर्थित होता है। भर्तृहरि की इस पक्ति—साहित्य सगीत कलाविहीन, से लेकर दण्डी के 'दशकुमार चरित' के अष्टम उच्छ्वास की इस पक्ति—'बुद्धिश्च निसर्गपट्वी कलासु नृत्यगीतादिषु चित्रेषु काव्यविस्तरेषु प्राप्त विस्तारा'—तक काव्य और कलाओ का यही अन्त सम्बन्ध ध्वनित हुआ है। इसीलिए भामह ने काव्य को सभी शिल्पो और कलाओ का समवाय सिद्ध

करते हुए यह घोषणा की है—"न तच्छास्त्र न सा विद्या न तच्छिल्पं न सा कला। जायते यन्न काव्याङ्गम्।" इस विषय पर छोटी-छोटी चलटिप्पणियाँ के० एस० रामस्वामी शास्त्री, डॉ० राघवन, एस० कुप्पूस्वामी शास्त्री, बलदेव उपाध्याय इत्यादि ने अपने ग्रन्थो मे लिखी हैं। इधर आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी ने ललितकलाओ के तात्त्विक अन्तःसम्बन्ध को उद्घाटित करने वाले कई विचारोद्बोधक निबन्ध लिखे हैं।[1] आधुनिक हिन्दीतर लेखको के बीच प्रयास की दृष्टि से असित कुमार हालदार की यूरोपेर-शिल्पकथा नामक पुस्तक उल्लेखनीय है, क्योकि विवेचन के एक ही फलक पर इसमे कई ललितकलाओ (विशेषकर स्थापत्य, भास्कर्य और चित्रकला) के इतिहास को देखने की लघु चेष्टा की गई है। निश्चय ही इस पुस्तक मे ललितकलाओ के आन्तरिक सम्बन्धो के उद्घाटन का तात्त्विक निवेश नही है, किन्तु, इसका प्रास्थानिक प्रयत्न इस दृष्टि से महत्त्वाकाक्षी है।[2] तदनन्तर, हरिदास मित्र के शोध-कार्य मे भारतीय कला और सौन्दर्यशास्त्र से सबद्ध सामग्रियो की सूचीमात्र मिलती है।[3] इसी तरह मर्ढेकर ने अपनी पुस्तक मे कलाओ के तात्त्विक अन्त.सम्बन्ध का सकेत-मात्र प्रस्तुत किया है, कोई तात्त्विक विश्लेषण नही।[4] इस दृष्टि से मराठी आलोचको के बीच मर्ढेकर और नरहर कुरून्दकर की तुलना मे डॉ० सुरेन्द्र बारलिंगे ने अधिक गम्भीर प्रयास किया है।[5] हिन्दी मे ललितकलाओ के तात्त्विक अन्त सम्बन्ध पर एक महत्त्वपूर्ण कार्य करने का प्रयास डॉ० रामानन्द तिवारी शास्त्री ने अपने शोध-प्रबन्ध मे किया है,[6] किन्तु, इन्होने काव्य एव काव्येतर कलाओ के पारस्परिक अन्त सम्बन्धो को उद्घाटित करने की जगह इनकी

---

१. क—कला में तथ्य, सत्य और यथार्थ, परिषद्-पत्रिका, पटना, वर्ष ३, पृ० ४४।
ख—कलाकार की सिसृक्षा और सर्जन-सीमा, त्रैमासिक आलोचना, दिल्ली, नवाक १, जुलाई १९६३, पृष्ठ ५।
ग—सिसृक्षा का स्वरूप, त्रैमासिक आलोचना, दिल्ली, नवाक २, अक्तूबर १९६३, पृष्ठ ५।

२. असितकुमार हालदार, यूरोपेर शिल्पकथा, कलकत्ता विश्वविद्यालय प्रकाशन।

३ *Haridas Mitra,* Contribution to A Bibliography of Indian Art and Aesthetics, Visva-Bharti, Santiniketan, 1951.

४. *B S Mardhekar*, Two Lectures on an Aesthetic of Literature, Karnatak Publishing House, Bombay-2, 1944.

५. डॉ० सुरेन्द्र बारलिंगे, सौन्दर्य-तत्त्व और काव्य-सिद्धान्त, अनुवादक डॉ० मनोहर काले, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली, सितम्बर १९६३।

६. डॉ० रामानन्द तिवारी शास्त्री, सत्य शिव सुन्दरम्, राजस्थान विश्वविद्यालय की पी-एच० डी० की उपाधि के लिए स्वीकृत शोध-प्रबन्ध, नवम्बर, १९५७।

अनन्वय विशेषताओं, पृथक्ताओं और व्यावर्तक गुणों को ही विवृत कर दिया है। अत डॉ० तिवारी का अधिकाश विवेचन हमारा प्रयोजन सिद्ध नहीं करता है। इसी तरह हिन्दी साहित्य मे आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी,[१] कोमल कोठारी,[२] तारिणी चरणदास 'चिदानन्द'[३], लक्ष्मीधर वाजपेयी,[४] रामेश्वरलाल खण्डेलवाल[५] इत्यादि के निबन्धों मे यत्र-तत्र ललितकलाओं के तात्त्विक अन्त -सम्बन्ध का निर्देश मिलता है।

अब हम ललितकलाओं के तात्त्विक अन्त सम्बन्ध पर प्रस्तुत किये गए विचारों का निष्कर्ष इस प्रकार उपस्थित कर सकते हैं—

१ शैली, शिल्प, अभिव्यक्ति-भगिमा और प्रेषणीयता के माध्यम की दृष्टि से ललितकलाओं मे चाहे जितनी भिन्नता हो, परन्तु, तत्त्व-समान की दृष्टि से सभी ललितकलाओं मे एक प्रच्छन्न अन्त सम्बन्ध है।

२ ललितकलाओं के तात्त्विक अन्त सम्बन्ध का मूलाधार स्वर-बोध और वर्ण-बोध का पारस्परिक सम्बन्ध है। भारतीय प्रमाणवाद से यहाँ तक सिद्ध होता है कि वर्णबोध और स्वरबोध की तरह अन्य ऐन्द्रिय-बोध भी एक-दूसरे से सबद्ध हैं तथा उनका अधिकरणगत पारस्परिक विनिमय या विपर्यय चलता रहता है।

३ प्रत्येक कला अपने चरम विकास के क्षणों मे अन्य ललितकलाओं का आश्रय अधिकाधिक ग्रहण करती है। आशय यह है कि सभी कलाओं का स्वतन्त्र व्यक्तित्व सभव है, किन्तु, प्रभाव-वृद्धि और उत्कृष्टता के लिए विविध कला-तत्त्वों का पारस्परिक सम्प्लवन आवश्यक है।

४ गम्भीरतापूर्वक विचार करने से यह पता चलता है कि चित्रकला, सगीतकला और काव्य मे तात्त्विक समागम की क्षमता उत्तरोत्तर बढती जाती है। स्थापत्यकला और मूर्तिकला अपनी स्थूलता के कारण तात्त्विक समागम के इस उच्च धरातल तक पहुँचने मे पश्चात्पद रह जाती हैं। अत प्रस्तुत

शोधप्रवन्ध मे व्यर्थता से अलग रहकर सुनिर्णीत मूल्याकन के लिए चित्र, संगीत और काव्य को अधिकतर ध्यान मे रखा गया है तथा स्थापत्य एव मूर्तिकला का केवल प्रसगवश उल्लेख किया गया है ।

५. ललितकलाओ का अपेक्षाकृत अधिक तात्त्विक मिश्रण या विशेषकर काव्य, चित्र और सगीत को परस्पर निकट लाकर उनके कुछ तत्त्वो का अधिकतम मिश्रण स्वच्छन्दतावाद (रोमाण्टिसिज्म) की एक विशिष्ट प्रवृत्ति है। अग्रेज़ी की रोमाण्टिक कविता या हिन्दी की छायावादी कविता मे ही नही, अन्यत्र भी जव साहित्य-जगत् मे स्वच्छन्दतावादी लहर चली है, तव वहाँ के साहित्य-सृजन मे ललितकलाओ का अधिकतम मधुमेल हो गया है । सच तो यह है कि प्रत्येक कला अपने रोमाण्टिक युग मे अन्य ललितकलाओ से अधिक प्रभावित रहती है । इसलिए रोमाण्टिक युग की कविता भी अन्य भगिनी कलाओ के प्रमुख तत्त्वो को समाविष्ट करने की विशेष प्रवृत्ति रखती है । फलस्वरूप, प्रस्तुत शोध-प्रवन्ध मे ललितकलाओ के तात्त्विक विवेचन को हिन्दी की रोमाण्टिक कविता (छायावाद) के विशेष सन्दर्भ मे प्रस्तुत किया गया है ।

६. हिन्दी साहित्य मे अब तक ललितकलाओ के तात्त्विक अन्त सम्बन्ध या पारस्परिक अन्तरावलम्बन पर कोई व्यवस्थित कार्य नही हो सका है, कारण, संस्कृत काव्यशास्त्र या हिन्दीतर आधुनिक भारतीय साहित्य मे ऐसे तात्त्विक सौन्दर्यशास्त्रीय अध्ययन की कोई तगडी परम्परा नही है ।

७. सभी ललितकलाओ के वीच एक तात्त्विक अन्त सम्बन्ध रहने के कारण कविता का सौन्दर्यशास्त्रीय अध्ययन अपेक्षित है । कविता का सौन्दर्यशास्त्रीय अध्ययन कविता को काव्येतर ललितकलाओ के तात्त्विक सन्दर्भ मे रखकर किया जाता है जवकि कविता का काव्यशास्त्रीय अध्ययन कविता को काव्येतर कलाओ के तात्त्विक सन्दर्भ से पृथक् रखकर या उस तात्त्विक सन्दर्भ की उपेक्षा करके किया जाता है । किन्तु, कविता के काव्यशास्त्रीय अध्ययन और सौन्दर्यशास्त्रीय अध्ययन मे अन्योन्याभाव सम्बन्ध नही है, क्योकि कविता के सौन्दर्यशास्त्रीय अध्ययन मे प्रसंगानुसार काव्यशास्त्र की सामग्रियो का उपयोग किया जाता है, यद्यपि इसके विलोम मे काव्यशास्त्र का स्वतन्त्र व्यक्तित्व अपहृत हो जाता है ।

८ तदनन्तर, कविता का सौन्दर्यशास्त्रीय अध्ययन करते समय काव्येतर ललितकलाओ के तात्त्विक सन्दर्भ को ही ध्यान मे रखा जाता है, क्योकि एक व्यक्ति के लिए सभी ललितकलाओ के सभी सन्दर्भों को ध्यान मे रखना तथा उनका प्रामाणिक विवेचन करना असम्भव-सा है ।

सौन्दर्य

सौन्दर्य

प्रत्ययीकृत पुनः प्रत्यक्ष (आइडियलाइज्ड रिप्रेजेण्टेशन) मे ललितकलाओ का सौंदर्य-वोध छिपा हुआ है। अत. 'सुन्दर' की अभिव्यक्ति या 'सौन्दर्य' का विवर्द्धन कला का उद्देश्य है। वास्तविकता यह है कि कला मे हमें स्रष्टा (कलाकार) की चेतना के मुग्ध सवेग का समग्र मानव-चेतना तक आशु सक्रमण मिलता है। और, यह सक्रमण सौदर्य-स्फूर्ति के सहारे निष्पन्न होता है। ललित-कला (चारुकला) की तरह उपयोगी कलाओ (कारुकला) मे भी सौंदर्य-वोध का महत्त्व है। वस्तुत. प्रत्येक कला कलाकार की मनःस्थिति अथवा आत्मानुभूति का एक आन्तरिक अश है। बाह्य उपादानो से उसका तात्त्विक नही, अभिव्यक्तिगत सबध है। कलाकार की अनुभूतियो मे सुरक्षित अमूर्त्त कला जव प्रत्यक्षीकरण के माध्यम से मूर्त्त वनने लगती है, तब सासारिक उपादानो की आवश्यकता होती है। अत उपयोगी कलाओ मे भी आवश्यक उपादानो के प्रस्तुत रहने पर उन्हे समजस सगठन, आकारिक अनुपात और नयनाभिरामता प्रदान करने के लिए कलाकार को अपनी शिल्प-रुचि तथा सौंदर्य-बोध का प्रयोग करना ही पडता है।

इस सन्दर्भ मे दूसरी ध्यातव्य वात यह है कि सौंदर्य-दृष्टि से कला मे मुख्य और गौण अथवा अल्प और विराट् का कोई भेद नही होना चाहिये। उदाहरणार्थ, किसी नाटक मे एक चयनिका का सफल अभिनय करने के लिए उसी तरह उत्कृष्ट कला-चेतना की आवश्यकता है, जिस तरह नायिका की भूमिका मे उपस्थित होने के लिए; क्योकि कला के सौंदर्य की इकाइयाँ अपने आपमे विशिष्ट न होकर सापेक्षिक दृष्टि से विषय के प्रस्तुतीकरण मे सन्दर्भात्मक महत्त्व रखती हैं। यह अवश्य है कि कला मे प्रस्तुत सौंदर्य के आलम्वन-विधान मे रुचि-भेद क्रियाशील रहता है। अत कला-सृजन और कला-भावन में, क्रमश, स्रष्टा और सहृदय की स्वाद-रुचि का आपेक्षिक महत्त्व है। आधुनिक सौंदर्य-प्रधान कलानुचिन्तन से वहुत पूर्व प्लेटो ने इस आश्रयगत रुचि-भेद को सकेतित किया था। किन्तु, इस मान्यता को कुछ सीमाओ के माथ ही स्वीकृत होना चाहिये, क्योकि आत्मरुचि-निर्भर व्यक्ति अपनी ऊर्णनाभ कल्पनाओ से उच्चकोटिक कला का सृजन अथवा चयन नही कर सकता। अत. कला की सृजन-क्षमता के

लिए कल्पना, भावना अथवा सवेग मे अशत वस्तुप्रत्ययनेयता आवश्यक है।[१]

कुछ विचारकों की दृष्टि मे सौंदर्य पूर्णत वस्तुनिष्ठ है।[२] इसलिए वह प्रत्यक्ष-बोध से सबधित है। प्रत्यक्ष के लिए अन्त करण और इन्द्रिय, दोनो का वस्तु के साथ सन्निकर्ष या सयोग होना चाहिये। इस प्रत्यक्ष की मात्रा इन्द्रियो की सशक्तता-अशक्तता और अच्छाई-बुराई पर निर्भर है। इन्द्रिय एक प्रकार की शक्ति है, जिसमे बाहरी वस्तु, ज्ञेय अथवा दृश्य से प्रभावित होने तथा उनको प्रभावित करने की क्षमता है। सेन्द्रिय होने के कारण ही, अर्थात् प्रत्यक्षीकरण के माध्यम की विशेषता के कारण ही हम व्यक्तियो मे 'सौदर्य' के प्रभाव से मुग्ध होने तथा सुदर को प्रभावित करने मे स्तर अथवा मात्रा की भिन्नता पाते हैं। इसलिए व्यक्ति के सौदर्य-बोध की भिन्नता भी इसका पुष्कल प्रमाण पेश करती है कि सौंदर्य का सबध सेन्द्रिय प्रत्यक्ष से है।

इस मान्यता को स्वीकृत करने पर एक दूसरा तथ्य स्वय उद्घाटित होता है—वह है, सौदर्य के ग्रहण मे अन्त करण का योग। अन्त करण के योग की आवश्यकता दो अवस्थाओ मे है—एक सौंदर्य की प्रत्यक्षावस्था मे, दूसरे उसकी स्मृति मे। पहली अवस्था मे इसलिए अन्त करण का योग चाहिये कि अन्य-मनस्क होने की दशा मे—चित्त कही और लगे रहने की अवस्था मे—सौन्दर्य के अवलोकन मे मन नही रमता है। दूसरी अवस्था मे अर्थात् स्मृति-दशा मे—अन्त करण का योग इसलिए चाहिए कि इसमे सौन्दर्य का वास्तविक आलम्बन अन्तर्हित रहता है।[१] इस द्वितीयावस्था की उद्भूति प्रथमावस्था मे ही निहित है। सौन्दर्य-भावना मे यही वह स्थल है, जहाँ 'आइडिया' और 'इमेज' मे एकत्व अथवा सन्तुलन रहता है। इन दोनो मे यदि भागवत पौर्वापर्य माना जाए, तो 'आइडिया' कारण और 'इमेज' कार्य होगा। इसी विचार-सरणी पर यह स्थापना निर्भर है—"इमेज इज द रियलाइजेशन ऑव एन आइडिया इन ए सिंगल ऑब्जेक्ट।" किन्तु, कुछ विचारकों की दृष्टि मे 'इमेज' और 'आइडिया' के बीच वस्तुगत पौर्वापर्य है, जिसके अनुसार प्रथम कारण और द्वितीय कार्य है। इसमे नियतपूर्ववर्त्तित्व के साथ-साथ अविनाभाव है।

२. **टॉमस रीड**—सौन्दर्य आध्यात्मिक चैतन्य है ।
३. **रस्किन**—सौन्दर्य ईश्वर की विभूति है । रस्किन ने मनुष्य मे दो वृत्तियाँ मानी हैं—सहज वृत्ति और काल्पनिक वृत्ति । सहज वृत्ति के अन्तर्गत ही सौन्दर्य-बोध आता है । इन्होने सौन्दर्य की दो श्रेणियाँ मानी है—'टिपिकल' और 'वायटल' । इन्होने फिर 'वायटल ब्यूटी' के भी दो भेद माने हैं—'रिलेटिव' और 'जेनेरिक' ।[1]

इगलैण्ड के 'फॉर्मेलिस्ट' विचारको मे निम्नलिखित प्रमुख हैं—

१. **एडिसन**—सौन्दर्य परिवेश और सगति का फल है ।
२. **होगार्थ**—सौन्दर्य वस्तु-विशेष के अगो के सन्धिवन्ध, प्रयुक्तियो की रजकता और अनुक्रम मे विद्यमान रहता है ।
३. **बर्क**—वस्तु-विशेष की वर्णगत चारुता, आगिक कोमलता और उज्ज्वलता ही सौन्दर्य है ।
४. **बेन**—सौन्दर्य सोद्देश्य होता है । हमारा वह सवेग जो जीवन के प्रयोजनो से परे रहता है, सौन्दर्य कहलाता है ।
५. **एलसन**—सौन्दर्य विचारो का प्रवाह है ।

च—रूस

१. **चर्नीशेव्सकी**—सौन्दर्य ही जीवन है ।
२. **बेलिन्स्की**—सौन्दर्य सामाजिक जीवन के जीवत यथार्थ का ऐसा प्रतिबिम्ब है, जो हमें आनन्द ही नही देता, प्रगतिशील होने की प्रेरणा भी देता है । सौन्दर्य के सबध मे ऐसी ही धारणा हर्जेन और दोब्रोल्यूबाक की भी है ।[2]

सक्षेप मे पाश्चात्य सौन्दर्य-चिन्तन के विकास का यही देशाधार विवेचन है ।[3] उपर्युक्त विचारको के अलावा सौन्दर्यशास्त्र के कुछ अन्य आधुनिक

१. 'लैक्चर्स आन आर्ट', जॉन रस्किन, जार्ज एलेन, १९०४ ।

२. बेलिन्स्की की कलागत मान्यताओं के सक्षिप्त परिचय के लिए द्रष्टव्य—त्रैमासिक आलोचना, अक ९, अक्तूबर १९५३ में 'बेलिन्स्की की मान्यताओं का विकास' शीर्षक निवन्ध, पृ० १९२-१९८ ।

३. जेम्स एच० कजिन्स ने पाश्चात्य सौंदर्य-चिन्तन के विकास को तीन धाराओं में बाटा है—१. 'एस्थेटिकल मॉनिज्म', २. 'एस्थेटिकल डुअलिज्म' और ३. 'एस्थेटिकल ट्रिनिटारियनिज्म' । प्रथम धारा मे मुख्यत. सुकरात और प्लेटो आते है, जिनके सौंदर्य-दर्शन

ग—जर्मनी

१ बाउमगार्तेन—प्रकृति-सौन्दर्य का चरम प्रतिमान है। इसलिए प्रकृति का अनुकरण ही सौन्दर्य-सृजन है।
२ काण्ट—(इन्होंने ही 'ट्रान्सेण्डेण्टल एस्थेटिक्स' की स्थापना की। इनके अनुसार) सौन्दर्य चिन्तनशील धारणा का आनन्द है। इसका अस्तित्व वस्तुनिष्ठ नही है किन्तु, इसका उद्देश्य नैतिक शिवत्व का स्थापन है।
३. हीगेल—'आइडियल' की अभिव्यक्ति का प्रयास सौन्दर्य-सृजन है और इसका माध्यम अथवा अनुकरण ही सुन्दर है।
४ शॉपेनहावर—इच्छाओ अथवा 'प्लैटोनिक आइडियाज' का सम्मूर्त्तन ही सौन्दर्य है।
५ लेसिंग—सौन्दर्य अभिव्यक्ति मे नही, वस्तु, विधान और पद्धति मे है। इन्होंने केवल चित्रकला और कविता को दृष्टिपथ मे रखते हुए सौन्दर्य पर विचार करने की चेष्टा की है।[1]

घ—इंगलैण्ड

सौन्दर्य के मनोवैज्ञानिक विश्लेषण को प्रारम्भ करने का श्रेय इंगलैण्ड के सौन्दर्यशास्त्रियों को है। ये सौन्दर्यशास्त्री मुख्यत दो निकाय के है—'आइडियलिस्ट' (अर्थात् इण्ट्यूशनिस्ट) और 'फॉर्मेलिस्ट' (अर्थात् एनालिटिकल थ्योरिस्ट)। प्रथम निकाय के विचारक सौन्दर्य को विश्लेषण से परे मानते हैं, क्योंकि सौन्दर्य का विश्लेषण नहीं हो सकता, चूंकि वह वस्तु का एक अखण्ड गुण है। किन्तु, 'फॉर्मेलिस्ट' विचारकों का कथन है कि सौन्दर्य का विश्लेषण हो सकता है, क्योंकि उनका सबध वस्तु-विशेष के आकृति-विधान से है।

इंगलैण्ड के 'आइडियलिस्ट' विचारकों मे ये प्रधान हैं—

१ शैफ्ट्सबरी—सौन्दर्य और परम विभु एक हैं।

२. **टॉमस रीड**—सौन्दर्य आध्यात्मिक चैतन्य है।
३. **रस्किन**—सौन्दर्य ईश्वर की विभूति है। रस्किन ने मनुष्य मे दो वृत्तियाँ मानी हैं—सहज वृत्ति और काल्पनिक वृत्ति। सहज वृत्ति के अन्तर्गत ही सौन्दर्य-बोध आता है। इन्होने सौन्दर्य की दो श्रेणियाँ मानी है—'टिपिकल' और 'वायटल'। इन्होने फिर 'वायटल व्यूटी' के भी दो भेद माने हैं—'रिलेटिव' और 'जेनेरिक'।[1]

इगलैण्ड के 'फॉर्मेलिस्ट' विचारको मे निम्नलिखित प्रमुख हैं—
१. **एडिसन**—सौन्दर्य परिवेश और सगति का फल है।
२. **होगार्थ**—सौन्दर्य वस्तु-विशेष के अगो के सन्धिवन्ध, प्रयुक्तियो की रजकता और अनुक्रम मे विद्यमान रहता है।
३. **बर्क**—वस्तु-विशेष की वर्णगत चारुता, आगिक कोमलता और उज्ज्वलता ही सौन्दर्य है।
४. **बेन**—सौन्दर्य सोद्देश्य होता है। हमारा वह सवेग जो जीवन के प्रयोजनो से परे रहता है, सौन्दर्य कहलाता है।
५. **एल्सन**—सौन्दर्य विचारो का प्रवाह है।

च—रूस

१. **चर्नीशेव्सकी**—सौन्दर्य ही जीवन है।
२. **बेलिन्स्की**—सौन्दर्य सामाजिक जीवन के जीवत यथार्थ का ऐसा प्रतिबिम्ब है, जो हमें आनन्द ही नही देता, प्रगतिशील होने की प्रेरणा भी देता है। सौन्दर्य के सबध मे ऐसी ही धारणा हर्जेन और दोब्रोल्यूबाक की भी है।[2]

सक्षेप मे पाश्चात्य सौन्दर्य-चिन्तन के विकास का यही देशाधार विवेचन है।[3] उपर्युक्त विचारको के अलावा सौन्दर्यशास्त्र के कुछ अन्य आधुनिक

---

१. 'लैक्चर्स आन आर्ट', जॉन रस्किन, जार्ज एलेन, १९०४।

२. वेलिन्स्की की कलागत मान्यताओं के सक्षिप्त परिचय के लिए द्रष्टव्य—त्रैमासिक आलोचना, अक ९, अक्तूबर १९५३ में 'वेलिन्स्की की मान्यताओं का विकास' शीर्षक निवन्ध, पृ० १९२-१९८।

३. जेम्स एच० कजिन्स ने पाश्चात्य सौंदर्य-चिन्तन के विकास को तीन धाराओं में बाटा है—१. 'एस्थेटिकल मॉनिज्म', २. 'एस्थेटिकल डुअलिज्म' और ३. 'एस्थेटिकल ट्रिनिटारियनिज्म'। प्रथम धारा मे मुख्यत. सुकरात और प्लेटो आते है, जिनके सौंदर्य-दर्शन

विचारक भी उल्लेखनीय महत्त्व के अधिकारी हैं, जैसे—क्लाइव बेल, रस्किन, क्रोचे, इत्यादि। यहाँ पाश्चात्य सौन्दर्य-चिन्तन के तात्त्विक पक्ष को समझने के लिए हीगेल और क्रोचे के सौन्दर्य-दर्शन पर विचार कर लेना अत्यावश्यक है, क्योंकि इन दोनों की सौन्दर्य-सबधी मान्यताओं ने पाश्चात्य सौन्दर्यशास्त्र के आधुनिक स्वरूप को भूरिश प्रभावित किया है।

हीगेल का सौन्दर्य-दर्शन प्रत्यय-जगत् पर निर्भर है। इनके अनुसार दृश्यमान जगत् आभास-मात्र है। अत ये प्रत्यय (आइडिया) को ही विकास का मूल तत्त्व और शक्ति मानते हैं जिस प्रकार बर्गसाँ ने विश्व के मूल में 'एलान्विता'[1] को, हर्बर्ट स्पेन्सर ने भूतात्मक सघटन (इण्टेग्रेशन ऑव मैटर) को, सेमूएल अलेक्जेंडर ने अनिर्वचनीय प्राकृतिक सवय (नैचुरल पाइटी) को, लाइब्निज ने चिद्बिन्दु को और ल्वायड मॉर्गन ने विभु शक्ति (इम्मानेण्ट फोर्स) को मूल तत्त्व माना है, उसी प्रकार हीगेल ने प्रत्यय को विकास का चरम तत्त्व माना है। अत हीगेल का सम्पूर्ण सौन्दर्य-दर्शन या कला-सिद्धान्त प्रत्यय-जगत् पर निर्भर है।

हीगेलीय सौन्दर्यशास्त्र त्रयात्मक है। द्वन्द्वात्मक प्रक्रिया के अनुसार इनके प्रत्यय का विकास सर्वत्र त्रिस्तरीय है, जिसे प्राय पाश्चात्य सौन्दर्यशास्त्र का हीगेलीय त्रय (हीगेलियन ट्रायड) कहा जाता है। मूल प्रत्यय अपने को तीन अवस्थाओं मे प्रकट करता है—वाद, प्रतिवाद और समन्वय। इन तीन अवस्थाओं का व्यक्तीकरण तीन दार्शनिक धरातलों पर होता है—तर्क, प्रकृति और मन (माइण्ड)। इस प्रकार प्रत्यय तर्क, प्रकृति और मन—इन तीन धरातलों पर क्रमश सूक्ष्मता मे 'तर' से 'तम' की ओर बढ़ता जाता है। पुन प्रत्यय मन तक पहुँचकर तीन अवस्थाओं में प्रकट होता है—'सब्जेक्टिव', 'ऑब्जेक्टिव' और 'एब्सोल्यूट'। जब प्रत्यय 'एब्सोल्यूट' की अवस्था मे पहुँचता है, तब उच्चस्तरीय कला की सृष्टि होती है। यहाँ यह ध्यान रखना है कि अधिकाश भारतीय कला-विचारक भी कला में 'एब्सोल्यूट' को महत्त्व देते हैं, जो 'सत्य शिव सुन्दरम्' की चिरपरिचित त्रयी मे व्यक्त होता रहा है।[2]

प्रत्यय की उपर्युक्त तीन अवस्थाओ के अनुसार उनसे निर्मित कला भी क्रमश. तीन प्रकार की होती है—'सिम्बॉलिक', 'क्लासिकल' और 'रोमाण्टिक'। प्रथम वर्ग मे वास्तुकला, द्वितीय वर्ग मे मूर्तिकला तथा तृतीय वर्ग मे चित्र, सगीत और काव्यकलाएँ आती है। इन सभी कलाओ मे, क्रमश·, आधार की सूक्ष्मता ऊर्ध्वगति से वर्द्धमान होती हुई अन्तिम तीन कलाओ (चित्र, सगीत और काव्य) मे 'एब्सोल्यूट' को स्वायत्त कर लेती है। सक्षेप मे हम हीगेल के सौन्दर्य-दर्शन को इस प्रकार उपस्थित कर सकते हैं—

थीसिस	एण्टिथीसिस	सिन्थीसिस
लॉजिक	नेचर	माइण्ड
सब्जेक्टिव	ऑब्जेक्टिव	एब्सोल्यूट
सिम्बॉलिक	क्लासिकल	रोमाण्टिक
(वास्तुकला)	(मूर्तिकला)	(चित्र, सगीत और काव्य)

हीगेल के अनुसार 'सिम्बॉलिक आर्ट' अर्थात् वास्तुकला मे सौन्दर्य-सृजन की दृष्टि से पिण्डीभूत मूर्त्तन की अधिकता रहती है।[1] अत सिम्बॉलिक कला मे दो प्रकार के दोप या अभाव रहते हैं। एक यह कि इसमे व्यक्त सौन्दर्य या प्रत्यय हमारी चेतना का नाममात्र के लिए स्पर्श करता है और, दूसरे, इसमे अभिव्यक्ति के माध्यम की स्थूलता बहुत अधिक रहती है। किन्तु, मूर्तिकला जैसी 'क्लासिकल' कला मे इन दोनो अभावो का परिहार हो जाता है, क्योकि 'क्लासिकल' कला मे, हीगेल के अनुसार, सौन्दर्य अथवा प्रत्यय का उचित मूर्त्तन होता है। इसमे अभिव्यक्ति का स्वरूप उतना अधिक स्थूल नही रहता है। कुल मिलाकर 'क्लासिकल' कला मे 'आइडिया' तथा 'इमेज' की एक पारस्परिक अनुकूलता स्थापित हो जाती है और इन दोनो मे एक समतोल निष्पन्न हो जाता है। किन्तु, कला का विकास इस स्तर पर आकर रुक नही जाता है। 'क्लासिकल' कला मे भी कुछ दोप रह जाते हैं, जिनका परिष्कार 'रोमाण्टिक' वर्ग की कलाओ मे ही हो पाता है। इस 'रोमाण्टिक' स्तर को हम कला-विकास की पार्यन्तिक दशा कह सकते हैं। 'क्लासिकल' कला मे यह दोप रह जाता है कि उसमे सौन्दर्य या प्रत्यय की सूक्ष्मता का उत्पादन रहता है और प्रत्यय को पिण्डीभूत बनाने की विशेप प्रवृत्ति रहती है। अत

---

१. "· this first type of art (the symbolic type of art) is rather a mere search after plastic configuration than a power of genuine representation" —*Hegel* The Philosophy of Fine Art, Volume I, translated by Osmaston, London, 1920, page 103.

क्लासिकल कला में जहाँ सौन्दर्य-सृजन की इन्द्रियग्राह्य मूर्त्तता की उच्चतम दशा मिलती है, वहाँ यह भी सच है कि इस कोटि की कला का व्यपदेश बहुत सकीर्ण होता है। आशय यह है कि मूर्ति-निर्माण-जैसी क्लासिकल कला सौन्दर्य अथवा प्रत्यय को सर्वत्र शारीरिक आकार की मूर्त्तता (एक प्रकार की सीमा) मे बाँधना चाहती है, जबकि सौन्दर्य एव अन्य प्रकार के प्रत्यय मनुष्य की अन्तर्मुख मनश्चेतना मे अवस्थित रहने के कारण सीमाओ से परे हुआ करते हैं। इस प्रकार सौन्दर्य और प्रत्यय को शारीरिक आकार की लघु सीमाओ और अभिव्यक्ति की पिण्डीभूत दशाओ मे ऊपर रखकर अपेक्षाकृत निस्सीम और कम मूर्त्त अभिव्यक्ति देने के लिए 'रोमाण्टिक आर्ट' की अवतारणा होती है, जिसके अन्तर्गत चित्र, सगीत और काव्य-कला की गणना की जाती है। रोमाण्टिक कला की विवेचना करते हुए हीगेल ने बहुत ही ललित ढग से कहा है कि शेष दो प्रकार की कलाएँ जहाँ आत्मा या चेतना के तटवर्त्ती प्रदेशो मे इधर-उधर भटकती रह जाती हैं, वहाँ रोमाण्टिक कला आत्मा या चेतना की गहराइयो मे उतरकर एक आध्यात्मिक क्रिया बन जाती है। अत रोमाण्टिक कला का उद्देश्य 'सिम्बॉलिक' या 'क्लासिकल' कला की तरह सौन्दर्य के किसी अश या मात्र ऐन्द्रिय प्रत्यक्ष करा देना नहीं रहता है, बल्कि रोमाण्टिक कला मे अभिव्यक्त सौन्दर्य के साथ ही आत्मा या चेतना के गहन अशो की भी अभिव्यक्ति होती है। इसलिए हीगेल का मत है कि रोमाण्टिक कला की विकसित दशा मे पहुँचकर मनुष्य का चेतन जगत् या आत्म-जगत् 'इदम्' के विवर्त्त पर, रूपतन्मात्राओ से भावित बाह्य जगत् पर अपना प्रभुत्व स्थापित कर लेता है और तब रोमाण्टिक कला का उद्देश्य अभिव्यक्ति की मूर्त्तता के ऐन्द्रिय प्रत्यक्षो से ऊपर उठ जाना है।[1] सक्षेप मे हीगेल के उक्त विश्लेषण का निष्कर्ष यह है कि 'सिम्बॉलिकल' कला मे सौन्दर्य अथवा प्रत्यय की अपूर्ण और सकेतात्मक अभिव्यक्ति होती है; मानो, इस कोटि की कला सौन्दर्य की पूर्ण और कलात्मक अभिव्यक्ति के अन्वेषण मे छटपटाकर रह जाती है। इस तरह 'सिम्बॉलिक' कला मे विषय के अनुरूप विधान की परिपूर्णता नहीं रहती है और उसकी अभिव्यक्ति मे वस्तुतात्त्विक पक्ष की प्रधानता हो जाती है। तदनन्तर, क्लासिकल कला मे विषय और विधान की समासमता रहती है, सौन्दर्य या प्रत्यय और उसकी अभिव्यक्ति मे आनुरूप्य तथा सन्तुलन का निर्वाह रहता है, दूसरे शब्दो मे, आत्मनात्मिकता और वस्तुतात्त्विकता का समतोल रहता है। कला के तीसरे प्रकार अर्थात् रोमाण्टिक कला मे हम 'सिम्बॉलिक'

कला का विलोम पाते हैं, क्योंकि इसमे अभिव्यक्ति-पक्ष का सूक्ष्म मण्डन विषय को आयत्त कर लेता है और सौन्दर्य या प्रत्यय का आत्मतात्त्रिक पक्ष विधान की वस्तुनिष्ठता को पराभूत कर देता है।[1] इसी दृष्टिकोण के आधार पर हीगेल ने कला की दो कोटियाँ निर्धारित कर दी है—वस्तुतात्त्रिक कला और आत्मतात्त्रिक कला, प्रथम कोटि मे 'सिम्बॉलिक' और 'क्लासिकल' कलाएँ, अर्थात् स्थापत्य और मूर्ति कलाएँ आती हैं तथा द्वितीय कोटि मे रोमाण्टिक कला, अर्थात् चित्र, काव्य और सगीत कलाएँ आती हैं।[2]

हीगेल के इस वर्गीकरण पर कुछ विचारको ने आपत्ति उठाई है, क्योकि यह वर्गीकरण उभयनिष्ठ आधार लेकर चलता है। एक ओर हीगेल का कहना है कि 'सिम्बॉलिक' वर्ग के अन्तर्गत वास्तुकला, 'क्लासिकल' वर्ग के अन्तर्गत मूर्तिकला और रोमाण्टिक वर्ग के अन्तर्गत चित्र, सगीत एव काव्य कलाएँ आती हैं जबकि दूसरी ओर इनकी यह स्थापना है कि वास्तुकला (जो पूर्वोक्त वर्गीकरण के अनुसार 'सिम्बॉलिक' कला है) अपनी विकसित दशा मे क्लासिकल और रोमाण्टिक भी हो सकती है। इसी तरह अन्य कलाएँ भी अपने विकसित-बोध के अनुसार उक्त तीनो दशाओ से गुज़र सकती है। अत वर्गीकरण के आधार की उभयनिष्ठता के कारण हीगेल का सम्पूर्ण वर्गीकरण ही अस्पष्ट लगता है। आलोचकों की धारणा है कि हीगेल द्वारा स्थापित वर्गीकरण का उक्त आधार ऐतिहासिक दृष्टि और दार्शनिक विश्लेषण की सकर सृष्टि है। जिन विचारको ने हीगेल की इस स्थापना को शका की आँखो से देखा है, उनमे शेस्लर, हर्टमान और त्सिमरमान प्रमुख हैं।[3] सौन्दर्य-विवेचन की दृष्टि से हीगेल के उपर्युक्त मन्तव्यो का निष्कर्ष यह है कि इन्होने सौन्दर्य के प्रति दार्शनिक धरातल पर बहुत ही सूक्ष्य धारणाएँ व्यक्त की हैं। इनकी दृष्टि मे सौन्दर्य प्रत्यय-जगत् की एक आत्मनिष्ठ विभूति है।

हीगेल के बाद पाश्चात्य सौन्दर्यशास्त्र के आधुनिक स्वरूप को प्रभावित करने वाले विचारको मे क्रोचे का बडा ही महत्त्व है। अभिव्यजनावाद के माध्यम से क्रोचे ने पाश्चात्य सौन्दर्यशास्त्र को विकास का एक नया आस्पद प्रदान किया है। इस प्रसग मे क्रोचे के अभिव्यजनावाद को तनिक विस्तार से

---

१. *Hegel*, The Philosophy of Fine Art, translated by Osmaston, London, 1920 Volume II, Pages 3-5

२. *Hegel*, The Philosophy of Fine Art, Volume III, page 217.

३. बोसाके ने हीगेल के वर्गीकरण के दोहरे आधार के पक्ष में फ़ैक्ट्स दैट सपोर्ट द डबल बेसिस, उपशीर्षक के अन्तर्गत कुछ तर्क दिये हैं। हिस्ट्री ऑव एस्थेटिक, बर्नार्ड बोसाके, जार्ज एलेन एण्ड अन्विन, १९४९, पृ० ३५०-३५२।

समझ लेना हमारे लिए आवश्यक है, क्योंकि हिन्दी आलोचना मे इसके विषय मे बहुत भ्रान्तियाँ रही हैं।

क्रोचे के अनुसार आत्मा की दो क्रियाएँ हैं—विचारात्मक और व्यवहारात्मक। व्यवहारात्मक क्रिया कर्मप्रधान (ज्ञानप्रधान नही) होती है और उसका ऋजु सबध लौकिक योगक्षेम अथवा समाज के द्वारा स्वीकृत नैतिक मानदण्डो से रहता है। इसलिए यह व्यवहारात्मक क्रिया दो प्रकार की होती है—आर्थिक और नैतिक। इन क्रियाओ से सौन्दर्य-सृजन का कोई सीधा सबध नही है। सौन्दर्य-सृजन का सबध आत्मा की विचारात्मक (थ्योरिटिक) क्रिया के रूप से है। इस विचारात्मक क्रिया से ज्ञान के दो रूप निष्पन्न होते हैं—सहज ज्ञान (इण्ट्यूशन) और तर्कात्मक ज्ञान (लॉजिकल नॉलेज)। इन दोनो मे सहजज्ञान से ही सौन्दर्य-सृजन अथवा कला का निर्माण होता है। सहजज्ञान से बिम्बों की प्राप्ति होती है, जिनकी अभिव्यक्ति से सौन्दर्य का विधान या कला का आविर्भाव होता है। दूसरी ओर तर्कात्मक ज्ञान से विचार-बोध (कन्सेप्ट) की उपलब्धि होती है, जिससे दर्शन, विज्ञान इत्यादि का प्रवर्त्तन होता है। क्रोचे के इस सिद्धान्त को निम्नलिखित तालिका से अच्छी तरह समझा जा सकता है—
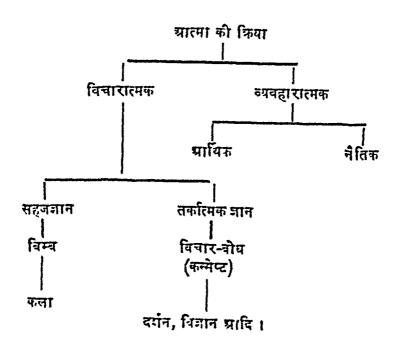
क्रोचे ने सौन्दर्यानुशासित कला-सृजन मे सहजज्ञान को प्राथमिकता दी है। किन्तु, इन्होंने सहजज्ञान और बुद्धि मे वैर-भाव नही माना है। उनका स्पष्ट

कथन है—'इण्ट्यूशन इज ब्लाइण्ड, इण्टेलेक्ट लैण्ड्स हर आईज'। अतः इनका सहजज्ञान साधारण अर्थों से विशिष्ट है। इस सहजज्ञान मे वस्तु-प्रत्यय और बिम्ब की प्रतीति का अन्तरहीन ऐक्य विद्यमान रहता है। इसलिए सहजज्ञान के द्वारा किसी सौन्दर्यात्मक कलाकृति मे देश अथवा काल का नही, विशिष्टता अथवा व्यक्ति-सत्ता का उद्घाटन होता है।

क्रोचे के सौन्दर्यशास्त्र का दूसरा सूत्र सहजज्ञान और अभिव्यक्ति मे सबधित है, जिसके अनुसार इन दोनो मे एकात्म सबध है। अभिव्यक्ति के बिना सहजज्ञान पूर्ण नही हो सकता। पहले के अभाव मे दूसरा अनुद्भूत रह जाता है। इस तरह क्रोचे ने सहजज्ञान और अभिव्यक्ति मे अविनाभाव सबध माना है। उन्होने कला-दर्शन मे अभिव्यक्ति को इतना अधिक महत्त्व दिया है कि इनके अनुसार अभिव्यक्ति के आधार पर ही सुन्दर और कुरूप का निर्णय होना चाहिये। अर्थात्, सहजज्ञान की सफल अभिव्यक्ति ही 'सुन्दर' है और सहजज्ञान की अपूर्ण अभिव्यक्ति 'कुरूप' है। इस सुन्दर या असुन्दर (कुरूप) का सबध मनुष्य की वीक्षामूलक वृत्ति से है। क्रोचे ने मनुष्य मे, सामान्यत, चार प्रकार की वृत्तियो को स्वीकार किया है—वीक्षामूलक वृत्ति, तर्कवृत्ति, व्यवहारात्मक वृत्ति और योगक्षेममूलक वृत्ति। सहजानुभूति और अभिव्यक्ति अथवा सौन्दर्य-भावना और कला-सृजन वीक्षामूलक वृत्ति के अन्तर्गत आते है। अत क्रोचे ने अभिव्यंजना का निकटतम सबध सौन्दर्य की भावना से उत्पन्न आनुषंगिक आनन्द के साथ माना है। इस तरह क्रोचे के अनुसार सहजज्ञान और अभिव्यक्ति मे अविनाभाव सबध है। किन्तु, विश्लेषण करने पर यह मान्यता उचित प्रतीत नही होती है, क्योकि सहजज्ञान एक अन्तर्मुख भावन है— व्यक्ति की अन्तस्थ मनोदशा है और अभिव्यक्ति एक बहिर्मुख क्रिया है। स्वय क्रोचे ने कलाओ की अविभाज्यता को सिद्ध करने के लिए अभिव्यक्ति को 'एक्टिविटी' कहा है। इसलिए मेरे विचार से सहजज्ञान और अभिव्यक्ति मे बहुत अन्तर है। सहजज्ञान के लिए जहाँ हृदय की ग्राहिका-शक्ति और सवेदन-शीलता ही पर्याप्त है, वहाँ अभिव्यक्ति शक्ति-सापेक्ष, समय-सापेक्ष और दीक्षा-सापेक्ष होने के साथ ही व्युत्पत्ति और अभ्यास के अधीन है। इसलिए अभि-व्यक्ति का गुण सामान्य जन नही, कलाकार की विशेषता है।

इस प्रसग मे क्रोचे के समर्थको का तर्क यह है कि मनुष्य का अन्तःकरण उतने ही सहजज्ञान की प्राप्ति करता है, जितने की अभिव्यक्ति उसकी शक्ति के अन्तर्गत है। दूसरी बात यह है कि हमारे भाव और मनोराग जब विकसित होकर सहजज्ञान का रूप ग्रहण करते हैं, तब उनकी अभिव्यक्ति केवल शब्दा-श्रित ही नही होती, बल्कि सहजज्ञान भावक के इंगितो अथवा अन्य चेष्टाओ से भी अपने को अभिव्यक्त करता है। अर्थात्, सहजज्ञान कभी भी अनभिव्यक्ति

होता नहीं होता और इसके अभिव्यजन मे 'सैकेण्ड लॉ ऑव थर्मोडिनैमिक्स' जैसा कोई नियम नही लागू होता, जिसके अनुसार सहजज्ञान के कुछ अश को अभिव्यजना के समय अवर, हीन या अनावश्यक होने के कारण छोड दिया जाना चाहिए अथवा उसे स्वय ही छूट जाना चाहिए। इस तरह सहजज्ञान का एकमात्र लक्षण है—अभिव्यक्ति। जिसकी अभिव्यक्ति नही होती, वह सवेदन या और कुछ हो सकता है, लेकिन सहजज्ञान नही।[1]

इस स्थल पर पहुँचकर दो विचारणीय प्रश्न उपस्थित होते हैं—(१) क्या सहजज्ञान मे विचार-तत्त्व (कन्सेप्ट) की आशिक स्थिति भी नही रहती है ? और (२) क्या सहजज्ञान की सभी अभिव्यक्तियाँ सुन्दर तथा कलात्मक ही होती हैं अथवा कलात्मक अभिव्यजना कुछ लक्षण-विशिष्ट होती है ? जहाँ तक पहले प्रश्न का सबध है, इस मान्यता को स्वीकार करना बहुत कठिन है कि सहजज्ञान मे विचार-बोध का अत्यन्ताभाव रहता है, क्योकि विचार-तत्त्व का आत्यन्तिक अभाव रहने पर सहजज्ञान ही निरर्थक हो जाएगा। क्रोचे ने इस आपत्ति मे आशिक बचाव के लिए इतना स्वीकार किया है कि यदि कभी सन्दर्भित या कलात्मक सहजज्ञान मे विचार-तत्त्व का समावेश भी होता है, तो वे विचार अपना गुण-धर्म खोकर, रूपान्तरित होकर सहजज्ञान का अश बन जाते हैं। किन्तु, यही क्रोचे की इस स्वीकृति से यह निष्पन्न हो जाता है कि ऐसे ही विचार-बोध सकलित सहजज्ञान कला-वरेण्य होते होगे और अन्य प्रकार के सहजज्ञान की तुलना मे गुण-विशिष्ट भी। अत क्रोचे की उक्त स्वीकृति को अपने तर्क का आधार बनाते हुए एस० सी० सेनगुप्त[2] ने यह प्रतिपादित किया है कि सहजज्ञान मे भी विचार-तत्त्व की विद्यमानता रहती है। यदि कुछ क्षणो के लिए यह स्वीकार भी कर लिया जाए कि सहजज्ञान मे विचार-तत्त्व की विद्यमानता नही रहती है और न उसके कलात्मक प्रेषण के लिए सहजज्ञान मे उपचारवक्रता लाने की आवश्यकता होती है, तब भी यह प्रश्न विचारणीय रह जाता है कि उस सहजज्ञान मे व्युत्पन्न बिम्बो को सौन्दर्य-विधान या कला-सृजन के समय क्रम और चयन देने मे विचार या तर्क-बुद्धि की आवश्यकता का कैसे निषेध किया जा सकता है ? सौन्दर्य के सर्वोत्तम निदर्शन काव्यकला मे ही बिम्ब-विधान के अन्तर्गत हम जो चित्रात्मक उत्प्लवन ('पिक्टोरियल लीप') पाते हैं और उनमे पुन सभी बिम्बो का एक ही मुख्यार्थ की ओर जो अनु-धावन पाते हैं, वह विचार अथवा तर्कात्मक ज्ञान के सहयोग के बिना किस

[1] Aesthetic, *Croce*, translated by Anslie Duglas, page 13

[2]. *S C Sengupta*, Towards A Theory of The Imagination, Oxford University Press, 1959, page 82

प्रकार सभव है ? अतः यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि सौन्दर्य-अथवा कलाओ के विधान-पक्ष मे लय, अनुपात इत्यादि की सुरक्षा के लिए तर्कात्मक ज्ञान की सजगता आवश्यक है ।

अब दूसरा प्रश्न यह है कि क्या सहजज्ञान की सभी अभिव्यक्तियाँ सौन्दर्य-विधान या कला के अन्तर्गत आती हैं ? यहाँ पहली वात यह है कि कुछ कारणो के उपस्थित रहने पर, जैसे—घन सवेग (कैथेक्सिस) की उपस्थिति मे या जडीकरण (फिक्सेशन) की अवस्था मे सहजज्ञान की सचाई और तीव्रता के रहते भी सहजज्ञान की सम्यक् अभिव्यक्ति सभव नही है । दूसरी वात यह है कि यदि सहजज्ञान की ईमानदार अभिव्यक्ति भी हो, तो वह सर्वदा और सर्वथा सौन्दर्य-विधान के अन्तर्गत नही आ सकती । उदाहरण के लिए, जब आर्किमेडिज़ ने जान की बाज़ी पर निरन्तर चिन्तन से जलीय ऊर्द्ध्वाधर सिद्धान्त को निकाला, तब उसने अपनी सफलता के आशु आनन्द की सहज अनुभूति को व्यक्त करने के लिए जिस 'युरेका' शब्द का प्रयोग किया, वह एक शब्द उस सहजज्ञान की अभिव्यक्ति को ढोने मे अक्षम नही रहा होगा । किन्तु, इस अभिव्यक्ति को हम कभी भी लनार्द द विंशी की 'मोनालिसा' या रैफेल के महान् चित्र 'मैडोना' जैसे सौन्दर्य-विधान का महत्त्व नही दे सकते ।

फलस्वरूप, कुछ विचारक सामान्य सहजज्ञान और कलात्मक सहजज्ञान मे पर्याप्त अन्तर मानते हैं । उनका मन्तव्य है कि सौन्दर्य-विधान या कला सहजज्ञान की अभिव्यक्ति है, किन्तु सहजज्ञान की सभी अभिव्यक्तियाँ सर्वथा और सर्वदा कला नही है, क्योकि नन्दतिक या कलात्मक सहजज्ञान इतर सहजज्ञान से भिन्न होता है । अत ऐसे विचारक सहजज्ञान के दो भेद मानते है—कलात्मक सहजज्ञान और घनीभूत सहजज्ञान (इण्टेंन्सिव इण्ट्यूशन) ।[1] किन्तु, क्रोचे इस दोटूक विभाजन को अनावश्यक मानते हैं, क्योकि इनके अनुसार कलात्मक सहजज्ञान अधिक विस्तृत अथवा अधिक सकुल हो सकता है, लेकिन इन्द्रिय-बोध तथा मानसिक अनुभवो पर आधारित रहने के कारण साधारण सहजज्ञान और कलात्मक सहजज्ञान की प्रकृति मे कोई वास्तविक अन्तर नही रहता है । (तथाकथित) कलात्मक सहजज्ञान मे केवल विस्तार की अधिकता रहती है, अर्थात् इसमे अनेक प्रकार के मनोवेग, सवेग और प्रभाव की सकुल विद्यमानता रहती है । इसी तर्क के आधार पर क्रोचे ने उन विचारको का भी प्रत्याख्यान किया है, जो सौन्दर्य-विधान को साधारण सहजज्ञान न मानकर 'एन इण्ट्यूशन ऑव एन इण्ट्यूशन' कहते हैं । इसी क्रम मे क्रोचे का दूसरा

---

1. *Jacques Maritain*, Creative Intuition in Art and Poetry, pages, 83-84.

उल्लेख्य मन्तव्य यह है कि उत्कृष्ट सौदर्न्य-विधान का सबंध सहजज्ञान के उस पक्ष से है, जिसमे प्रभाव और सवेदन (इम्प्रेशन एण्ड सेन्सेशन) सचित रहते है। अत उत्कृष्ट सौन्दर्य-विधान अभिव्यक्ति की अभिव्यक्ति न होकर प्रभावो की अभिव्यक्ति हुआ करता है।

क्रोचे के सौन्दर्य-सिद्धान्त और सहजज्ञान की विवेचना मे काण्ट के सहजज्ञान की चर्चा अपेक्षित है, क्योंकि उसने अपने प्रवन्ध मे काण्ट की मान्यताओ का विस्तारपूर्वक विवेचन किया है। उसकी एकाध उक्ति से तो यह स्पष्ट पता चलता है कि वह अपने सौन्दर्यशास्त्रीय सिद्धान्तो के स्थापन मे काण्ट से अत्यधिक प्रभावित था।[1] काण्ट ने सहजज्ञान को ऐसा ऐन्द्रिय ज्ञान माना है, जो वस्तु के गोचर प्रत्यक्ष या सवेद्य सम्पर्क पर निर्भर रहता है।[2] साथ ही यह ज्ञान वस्तु-प्रत्यक्ष के उपरान्त की बौद्धिक प्रतिक्रिया का ऐसा पूर्ववर्ती है, जो देश-काल-सापेक्ष है।[3] तदुपरान्त काण्ट की यह अडिग धारणा है कि विचार-बोध (कन्सेप्ट) से रहित सहजज्ञान अन्धा होता है। इसके विपरीत क्रोचे की यह मान्यता है कि सहजज्ञान का बुद्धि से पृथक् एक स्वतत्र अस्तित्व है। अत विचार-बोध से उसकी विद्यमानता का अनिवार्य अथवा अविनाभाव सबध नही है। इतना ही नही, उसका मत है कि जब सहजज्ञान मे विचार-बोध का समावेश होता है, तब विचार-तत्त्व स्वतत्र अस्तित्व खोकर सहजज्ञान मे अन्तर्हित हो जाता है। काण्ट के विपरीत क्रोचे की दूसरी स्थापना यह है कि कलागत सहजज्ञान देश-काल की सापेक्षता तथा अन्य अचिर सबधो से परे हुआ करता है। तीसरी बात यह है कि क्रोचे सहजज्ञान को ऐन्द्रिय-ज्ञान नही मानते हैं। उनके अनुसार केवल वही ऐन्द्रिय-ज्ञान सहजज्ञान बन सकता है, जो आत्म-चैतन्य से अभिव्यक्तिगत सबध रखता हो।

क्रोचे की सौन्दर्यशास्त्रीय मान्यताओ के उपर्युक्त विश्लेषण से यह निष्कर्ष निकलता है कि अभिव्यक्ति की पूर्णता ही सौन्दर्य है। इसीमे यह बात

---

1 *Croce*, Aesthetic, translated by Anslie Douglas, page 272

२ काण्ट ने सौन्दर्यानुभूति में भी बहिर्वस्तु या गोचर प्रत्यक्ष को आंशिक महत्त्व दिया है। इस सम्बन्ध में काण्ट के मत का सारमर्म उपस्थित करते हुए डॉ० दासगुप्त ने लिखा है—"कान्टेर मतेर सारमर्म एई जे जखाने आमादेर अन्तरंगता कोनो बहिर्वस्तुर मध्ये अन्तरंगतेर निजेर सान्देर परिचय पाय ओ सेई वस्तुटिके निजेर अनुभूतिधारार सहित एकान्तये युक्त करिया परिचय लाभ करे सेई परिचयेर आनन्दई सौन्दर्येर आनन्द।"—दासगुप्त, सौन्दर्य-तत्त्व, पृ० [illegible]।

3 *Norman Kemp Smith*, Commentary to Kant's Critic of Pure Reason, pages 263-270.

निष्पन्न होती है कि जहाँ अभिव्यक्ति अपूर्ण रहती है, वहाँ कुरूप का अवतरण हो जाता है। इस तरह क्रोचे ने अभिव्यक्ति की पूर्णता और अपूर्णता को ही सुन्दर और कुरूप का कारण माना है। दूसरी बात यह है कि क्रोचे ने सौन्दर्य का सबध मुख्यत मनुष्य की वीक्षामूलक वृत्ति के साथ जोडा है। इस स्थापना के विश्लेषण से हमे रोमाण्टिक कविताओ मे प्राप्त सौन्दर्य के चाक्षुष विधान की प्रधानता पर एक आलोक मिलता है, जिसका उपयोग प्रस्तुत शोध-प्रबन्ध के द्वितीय खण्ड मे छायावादी कविता की सौन्दर्य-चेतना और कल्पना-विधान के विवेचन मे किया जायगा। इस तरह आधुनिक सौन्दर्यशास्त्रियो मे क्रोचे सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण हैं, जिनके अनुसार सफल अभिव्यक्ति ही सौन्दर्य है।

क्रोचे के इस स्वच्छद अभिव्यक्तिवाद के ठीक विपरीत रूपविधानवादियो का सिद्धान्त (फॉर्मलिज्म) है, जिनके अनुसार कला-सृष्टि के लिए किसी सहजानुभूति अथवा अन्तःप्रज्ञा की आवश्यकता नही है। इनके अनुसार आवश्यकता है—कुछ निश्चित नियमो के अनुसरण की। इन नियमो के अनुसरण से ही सौन्दर्य की पर्याप्त सृष्टि हो सकती है। इस रूपविधानवादी सिद्धान्त के दो प्रख्यात उद्‌भावक है—डेन्मॉन रौस और जे० हॅम्बिज। रौस के अनुसार बिन्दु, रेखा, कोण, छाया, ज्यामितिक आकृतियो और वर्णच्छटाओ की (अनेक निश्चित नियमो की व्यवस्थित) सहायता से विभिन्न प्रयुक्तियो (डिजाइन) का निर्माण हो सकता है, जो कला-सृष्टि के लिए अलम् है। इस दृष्टि से रौस ने 'सेट पैलेट'[1] पर बहुत बल दिया है। इस 'सेट पैलेट' मे 'वैल्यू' और 'इण्टेन्सिटी' के अनुसार अडतालीस प्रकार की रग-व्यवस्थाएँ है जिनमे से किसी एक का अनुसरण करने पर सौन्दर्य की सृष्टि हो सकती है। इसी सिद्धान्त को रौस ने किंचित् विस्तार से उपस्थित किया है। सक्षेप मे, इसकी मूलभूत मान्यताएँ दो हैं—प्रयुक्तियो की विधि और 'सेट पैलेट'। किन्तु, रौस के इस सिद्धान्त से अशत सहमत होना भी सभव नही है, कारण, इस सिद्धान्त मे काल की उपेक्षा है। सौन्दर्य-बोध की गतिशीलता और उसकी सतत सूक्ष्मगामी विकासमान प्रवृत्ति के कारण रग तथा रेखाओ के प्रति मनुष्य की रुचि बदलती रहती है, जिसकी स्वीकृति के लिए रौस के सिद्धान्त मे कोई गुजाइश नही है। दूसरी बात यह है कि एक ही रग और रेखाकृति से विभिन्न व्यक्ति अपनी नेत्र-रचना की भिन्नता अथवा शारीरिक प्रत्यर्पता (रेस्पान्स) के अन्तर के कारण अलग-अलग प्रकार-स्तर की सवेदना और सवेग प्राप्त कर सकते हैं। यह भिन्नता भी रौस के सिद्धान्त को खण्डित करती है। तीसरी बात यह है कि व्यक्तिगत रुचि-सस्कारो और आसगो के कारण भी एक रग से व्युत्पन्न भावना अथवा सवेग मे व्यक्ति-भेद से अन्तर

---

१. Set Pallete

हो सकता है। अर्थात् व्यक्ति-भेद के कारण एक रंग से भिन्न-भिन्न अथवा विविध संवेग उत्पन्न हो सकते हैं। इसलिए उपर्युक्त विश्लेषण से यह स्पष्टतः सिद्ध हो जाता है कि रौस का सिद्धान्त सौन्दर्यशास्त्र की दृष्टि से कोई विशेष महत्त्व नहीं रखता है।

रूपविधानवादियों के बीच दूसरा अतिवादी सिद्धान्त जे० हैम्बिज का है, जो 'डिनेमिक सिमेट्री' के नाम से प्रसिद्ध है। जिस तरह रौस ने अपने सिद्धान्त में 'डिज़ाइन' पर बल दिया है, उसी तरह हैम्बिज ने अपने सिद्धान्त में 'पैटर्न' पर। हैम्बिज के सिद्धान्त की दो मूलभूत मान्यताएँ हैं—'पैटर्न', विशेषकर, 'प्लैट-पैटर्न' और 'रेक्टैंगल'। इन दोनों—'पैटर्न और रेक्टैंगल'—को किसी कलाकृति में समानुपातिक बनाने के लिए हैम्बिज ने अनेक गणित सूत्र दिये हैं। संक्षेप में, यह कहा जा सकता है कि हैम्बिज का सिद्धान्त सौन्दर्यशास्त्र की दृष्टि से विशेष महत्त्वपूर्ण नहीं है क्योंकि इस पर भी वे सभी आपत्तियाँ लागू होती हैं, जो रौस के सिद्धान्त पर। यदि हैम्बिज और रौस के सिद्धान्तों को हम स्वीकार कर लें, तब तो कलाकार के लिए यह अनावश्यक है कि वह कला-सृष्टि के निमित्त आत्म-चेतना को द्राक्षासव की तरह पिघलाये।

आधुनिक सौन्दर्यशास्त्र का एक और सिद्धान्त है—'थ्योरी ऑव इम्पेथी',[1]

---

१. जर्मन सौन्दर्यशास्त्रियों के इस प्रिय सिद्धान्त की व्याख्या करते हुए *T E Hulme* ने लिखा है—

"The source of the pleasure felt by the spectator before the products of art is a feeling of increased vitality, a process which German writers on aesthetics call empathy (Einfuhlung) in general terms, we can say that any work of art we find beautiful is an objectification of our own pleasure in activity, and our own vitality The worth of a line or formconsists in the value of the life which it contains for us" *T E Hulme*, Speculations, edited by Herbert Read, Routledge & Kegan Paul Ltd , London, 1960, p 84 85

कुछ विचारकों ने 'थ्योरी ऑव इम्पेथी' की समता कला में भावनाओं के वस्तुनिष्ठीकरण वाले सिद्धान्त के साथ स्थापित की है। जैसे प्रवासजीवन चौधरी ने कला में भावनाओं के वस्तुनिष्ठीकरण पर विचार करते हुए लिखा है—

" theory of objectification of feelings is more or less like that of Empathy (of Lipps and Volkelt) in which internal feelings are said to be projected or read into external objects which really excite the feelings so that feelings, as embodied in some sensuous form, may be said to be objectified These

जिसे हम समानुभूति का सिद्धान्त कह सकते हैं। इस सिद्धान्त को अनेक सौन्दर्य-शास्त्रियो ने अपने-अपने ढग से समृद्ध किया है। फलस्वरूप यह सिद्धान्त इतना लचकीला हो गया है कि कभी-कभी पहली नजर मे अनबूझ-सा प्रतीत होने लगता है। समानुभूति का सिद्धान्त हमारे प्रत्यक्षीकरण की गतिशील प्रत्यर्थताओ (मोटर रेस्पान्सेज़) पर आधारित है। इस प्रत्यक्षीकरण की गतिशील प्रत्यर्थता मे हमारी पूर्वानुभूतियो का महत्त्वपूर्ण योग रहता है। पूर्वानुभूतियो की सापेक्षिकता मे ही हमारा कोई प्रत्यक्षीकरण सार्थक होता है। यदि हम कौए को देखकर कहते हैं कि यह पक्षी बहुत काला है, तो हमारे इस कथन का आधार मात्र उस कौए का प्रत्यक्ष नही है, बल्कि इस 'प्रत्यक्ष' के पूर्व अनेक पक्षियो और काले रग के पदार्थों तथा प्राणियो के प्रत्यक्ष की अनुभूतियाँ भी उसमे सम्मिलित हैं। उन पूर्वानुभूतियो के सापेक्ष सन्दर्भ मे ही हमारा यह कथन सभव और सार्थक हो पाता है कि कौआ बहुत काला है।

समानुभूति के सिद्धान्त पर विलहेल्म वोरिंगेर ने अपने प्रसिद्ध प्रबन्ध 'एब्स्ट्रैक्शन एण्ड इम्पैथी' में विस्तारपूर्वक विचार किया है। इनके अनुसार समानुभूति का अधिक सबध रूपात्मक कलाओ या आकृतिमूलक कलाओ (प्लास्टिक आर्ट्स) के साथ है, श्रव्य और अमूर्त कलाओ से कम। कारण यह है कि समानुभूति के सिद्धान्त के अनुसार कलानुभूति सदैव एक वस्तुसम्पृक्त अनुभूति होती है, और यह जानी हुई बात है कि आकृतिमूलक या रूपात्मक कलाओ मे वस्तु-सम्पृक्तता अधिक रहती है। अत. लिप्स ने समानुभूति-सबधी अपनी धारणाओ के अनुसार यह मान्यता प्रस्तुत की है—"Aesthetic enjoyment is objectified self-enjoyment."[1] विहेल्म वोरिंगेर ने भी लिप्स की समानुभूति-सबंधी धारणाओ का ही विशेष उल्लेख किया है। लिप्स की प्रधान धारणा यह है कि समानुभूति के दो प्रकार होते हैं—भावात्मक समानुभूति और अभावात्मक

theories bring out a fundamental principle involved in aesthetic experience, viz fixation of feeling in some sensuous medium and thus making it an object of apprehension"—*Dr Pravasjiwan Chaudhury*, Studies in Comparative Aesthetics, Viswa Bharti, Santiniketan, 1953, page 19.

१. सन्तायना ने भी सौन्दर्यानुभूति में वस्तुनिष्ठता को महत्त्व दिया है, किन्तु सन्तायना की वस्तुनिष्ठता लिप्स की वस्तुनिष्ठता से भिन्न है, कारण सन्तायना की वस्तुनिष्ठता आनन्द की वस्तुनिष्ठता है, जबकि लिप्स की वस्तुनिष्ठता 'आत्मानन्द' की वस्तुनिष्ठता है।—"... beauty is constituted by the objectification of pleasure. It is pleasure objectified"—*George Santayana*, The Sense of Beauty, New York, 1955, page 52.

समानुभूति। तदनन्तर, लिप्स की दूसरी मान्यता यह है कि कला का संबंध भावात्मक समानुभूति से रहता है। अर्थात्, भावात्मक समानुभूति से ही कला-सृजन या कलानुभूति की प्रेरणा मिलती है।[1]

समानुभूति के सिद्धान्त का दूसरा पक्ष हमारे शरीरस्थ संचरण, चेता और संवाहिनी नाडियों की गति तथा भावक की माँसपेशियों के विकार से संबंधित है। इसका आशय यह है कि जब हम किसी वस्तु अथवा प्राणी को आलम्बन रूप में स्वीकार करते हैं, तब उससे हमें किसी-न-किसी प्रकार के भाव, भावना अथवा संवेग की प्राप्ति होती है। किन्तु, यह प्राप्ति आश्रय के मनःप्रदेश-मात्र तक ही सीमित नहीं रहती, बल्कि उसकी शारीरिक व्याप्ति भी होती है, जिसे भारतीय काव्यशास्त्र अनुभाव, व्यभिचारी अथवा संचारी के अन्तर्गत स्वीकार करता है। अर्थात् किसी वस्तु को देखकर उसी के अनुरूप हमारे शरीर में भी गति और विकार पैदा होते हैं। अतः समानुभूति-सिद्धान्त के अनुसार कला की सफलता इसमें है कि वह 'निबद्ध वस्तु' से हमारे शरीर में उस संचार को भर दे, जो संचार 'मूल वस्तु' के वास्तविक प्रत्यक्ष से जगता है। उदाहरणार्थ, किसी प्रलम्ब-प्रच्छाय वट-वृक्ष का वह चित्र सफल माना जायेगा, जो हममें वैसा ही नेत्र-विस्फार, उपराम की भावना, श्रान्त पेशियों में ढीलापन अथवा प्ररोह की संकुलता के दर्शन से (उत्पन्न विस्मय के कारण) नाडियों में स्फीति भर दे, जैसा कि वस्तुतः विशाल वटवृक्ष के दर्शन से हुआ करता है। समानुभूति सिद्धान्त के इस पक्ष पर विशेष बल देने वालों में थियोडोर लिप्स[2] और 'इनर मिमिक्री' के सिद्धान्त को तूल देने वाले विचारक कार्ल ग्रूज उल्लेखनीय हैं। संक्षेप में समानु-

---

१. विल्हेल्म वोरिंगेर ने लिप्स की इस मान्यता का विश्लेषण करते हुए लिखा है—

"Apperceptive activity becomes aesthetic enjoyment in the case of positive empathy, in the case of the unision of my natural tendencies to self-activation with the activity demanded of me by the sensuous object In relation to the work of art also, it is this positive empathy alone which comes into question"—*Wilhelm Worringer*, 'Abstraction and Empathy', translated by Michael Bullock, London, 1953, age 7.

२. कुछ विचारकों, जैसे—डॉ० रामानन्द तिवारी शास्त्री का कहना है कि लिप्स का समानुभूति का सिद्धान्त स्पष्ट रूप से मनोवैज्ञानिक और वस्तुवादी है। इसमें किसी भी प्रकार का आधार अथवा आग्रह नहीं है। किसी सीमा तक यह समानुभूति हमारे सामान्य व्यवहार का एक मुख्य तत्त्व है। किसी वस्तु अथवा व्यक्ति में हमारी जो प्रीति होती है, तो हम उसके साथ अपने को तद्रूप कर लेते हैं तथा उसी के समान अनुभव और व्यवहार करने लगते हैं। —डॉ० रामानन्द तिवारी शास्त्री, 'सत्यं शिवं सुन्दरम्', राजस्थान वि० वि० द्वारा पी-एच० डी० की उपाधि के लिए स्वीकृत शोध-प्रबन्ध, १९५८, पृ० ८१।

भूति के सिद्धान्त का यही स्वरूप है। किन्तु इस प्रसग मे हमें इतना स्वीकार करना पडता है कि यह सिद्धान्त कलाभावन मे 'शारीरिक विकार' और सौन्दर्य के आकलन मे स्पार्शिक मूल्य को आवश्यकता से अधिक महत्त्व देता है।

तदुपरान्त आधुनिक सौन्दर्यशास्त्र का एक महत्त्वपूर्ण सिद्धान्त है—'थ्योरी ऑव साइकिकल डिस्टेन्स', जिसके मूल भाव को हिन्दी मे अच्छी तरह व्यक्त करने के लिए हम 'तटस्थ भावन का सिद्धान्त' कह सकते है।[1] इस सिद्धान्त के उद्भावक हैं—ई० बुल्लो। यहाँ 'तटस्थता' का आशय 'आशिक अनासक्ति' से है। आसक्त भावन भ्रान्त फल देता है, क्योकि आसक्ति के क्षणो मे भावक की चेतना व्यक्तिगत कुशल-क्षेम और वासना से इस प्रकार मुद्रित हो जाती है कि वस्तु का वस्तुगत मूल्य कुछ भी नही रह पाता। और, यह जानी हुई बात है कि उपयोगिता तथा स्वार्थादि के बन्धनो मे आबद्ध रहने पर न 'सौन्दर्य' का सृजन हो सकता है और न सृष्ट-सौन्दर्य का समुचित भावन। अत कला के क्षेत्र मे उचित 'भावन' के लिए 'आशिक अनासक्ति' आवश्यक है। सौन्दर्य-भावन इस आशिक अनासक्ति की अवस्था को हम 'तन्मनस्कता' कह सकते हैं। सौन्दर्य-भावन की दूसरी स्थिति आसक्ति की हो सकती है, जिसमे सहृदय-चित्त कलाकृति मे लीन हो जाता है। इसे हम 'तन्मयता' की अवस्था कह सकते हैं। किन्तु, भावक के लीन हो जाने अथवा आत्यन्तिकरूपेण तन्मय हो जाने के कारण कृति-विशेष का मूल्याकन नही हो सकता, कारण, समुचित मूल्याकन के लिए तटस्थता चाहिए—एक अनुपेक्षणीय पार्थक्य। पुन इस 'तन्मयता' के विपरीत एक पार्यन्तिक स्थिति हो सकती है, जिसमे भावक 'वस्तु' अथवा 'कृति' से एकदम अनासक्त हो। इसे हम अन्यमनस्कता की अवस्था कह सकते है। इस अवस्था मे सहृदयता के अभाव के कारण न तो निबद्ध सौदर्य का अभिशंसन हो सकता है और न हार्दिकता अथवा 'सहअनुभूति' के अभाव के कारण कलाकार के दृष्टिकोण का ग्रहण ही। अत: कला-भावन मे कृति और सहृदय के बीच कुछ ऐसा पार्थक्य[2] होना

---

१. 'साइकिकल डिस्टेन्स' एक प्रकार का मानसिक सन्तुलन है, जो कला-भावन के लिए आवश्यक है। इसलिए *John Dewey* ने साइकिकल डिस्टेन्स को 'साइकिकल बैलेन्स' कहा है—

John Dewey, Art As Experience, George Allen & Unwin Ltd London, 1934, page 258.

२. जार्ज सन्तायना ने भी सौन्दर्य-भावन से प्राप्त होनेवाली आनन्दानुभूति के लिए एक प्रकार के पार्थक्य या अनासक्ति को आवश्यक माना है—"Every real pleasure is in one sense disinterested"—*George Santayana,* The Sense of Beauty, Dover Publication, Inc New York, 1955, page 39

चाहिए, जो आवेग-संवेग को संयमित रख सके और मूल्य-दृष्टि को सुरक्षित भी। अर्थात् 'थ्योरी ऑव साइकिकल डिस्टेन्स' कला-भावन मे 'मध्यम मार्ग' का विश्वासी है और तन्मयता, अन्यमनस्कता तथा तन्मनस्कता के बीच 'अन्तिम' का पक्षपाती है। इसलिए इस सिद्धान्त को 'तन्मनस्कता का सिद्धान्त' कहना अधिक अच्छा लगता है। तन्मनस्कता को हम तन्मयता और अन्यमनस्कता के बीच की कला-वरेण्य स्थिति कह सकते है।[1] ई० बुल्लो के अलावा लांगमान और मुन्स्टरवर्ग ने इस सिद्धान्त की ऐसी व्याख्या की है, जो शुक्लजी के इस काव्य-सिद्धान्त से मेल खाती है कि कविता (कला) के द्वारा स्वार्थ के क्षुद्र बन्धन टूट जाते हैं और व्यक्ति लोक-सत्ता मे लीन हो जाता है। इस धारणा को आगे बढाते हुए उक्त विद्वानो ने नन्दतिक अभिशमन अथवा कलासृष्टि के लिए निर्वैयक्तीकरण और हृदय की मुक्तावस्था को उसी प्रकार आवश्यक बतलाया है, जिस प्रकार, क्रमश, टी० एस० इलियट ने और आचार्य शुक्ल ने।

इसी प्रकार आधुनिक सौन्दर्यशास्त्र मे अनेक सिद्धान्तो की स्थापना की गई है, जिसमे अन्विति-सिद्धान्त, सोद्देश्यता और कल्पनाशील जीवन की पृथकता का सिद्धान्त तथा सन्तुलन-सिद्धान्त महत्त्वपूर्ण हैं। किन्तु, ये सभी सिद्धान्त पूर्वविवेचित सिद्धान्तो के ही उच्छिष्ट हैं, अत इनका विस्तृत विवेचन आवश्यक नही है।

इस विवेचन के उपरान्त प्रायोगिक सौन्दर्यशास्त्र (एक्सपेरिमेंटल एस्थेटिक्स) की उपलब्धियो पर भी विचार कर लेना उचित है, क्योंकि मनोविज्ञान की सहायता से इसने सौन्दर्यानुचिन्तन के लिए कुछ नूतन आलोक प्रस्तुत

---

१ सौन्दर्यशास्त्र के भारतीय लेखकों के बीच डॉ० प्रवासजीवन चौधरी ने उक्त सिद्धान्त की मनोविज्ञानोत्तर अर्थवत्ता (metapsychical significance) का निर्देश करते हुए इसका सम्बन्ध भारतीय सौन्दर्यशास्त्र से जोड़ना चाहा है। श्री चौधरी ने इस प्रसंग में अभिनवगुप्त के विचारों की अधिक चर्चा की है। इनका निष्कर्ष है कि पाश्चात्य सौन्दर्यशास्त्र में 'थ्योरी ऑव साइकिकल डिस्टेन्स' का विवेचन भले ही नवीन हो, किन्तु, सिद्धान्त या तत्त्व की दृष्टि से वह भारतीय सौन्दर्यशास्त्र में, विशेषकर, अभिनवगुप्त के निरूपणों में विद्यमान है। द्रष्टव्य—*Dr Pravasjivan Chaudhury*, Studies in Comparative Aesthetics, Visva Bharati, Santiniketan, 1953, pages 35,40 आनन्दप्रकाश दीक्षित ने भी अपने शोध-प्रबन्ध में श्री जोग, डॉ० वाटवे और काका कालेलकर की चर्चा करते हुए जिस तटस्थ-सिद्धान्त का विश्लेषण किया है, वह बहुत दूर तक 'थ्योरी ऑव साइकिकल डिस्टेन्स' का ही परिवर्तित रूप है। द्रष्टव्य—आनन्दप्रकाश दीक्षित, 'रस-सिद्धान्त स्वरूप-विश्लेषण', राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, १९६०, पृष्ठ १५८-१५७। निष्कर्ष यह है कि भारतीय सौन्दर्यशास्त्र में भी 'थ्योरी ऑव साइकिकल डिस्टेन्स' तात्त्विक दृष्टि से किसी-न-किसी रूप में अवश्य विद्यमान रहा है।

किया है। प्रायोगिक सौन्दर्यशास्त्र का उद्देश्य सौन्दर्य का वैज्ञानिक विश्लेपण है, क्योकि अब तक सौन्दर्य का विवेचन, अधिकतर, भावुक भाषा मे ही होता रहा है। प्रायोगिक सौन्दर्यशास्त्र का प्रारम्भ जी० टी० फेकनर ने किया, किन्तु इसका कुछ व्यवस्थित रूप बहुत बाद मे अध्येताओ के समक्ष उपस्थित हुआ। प्रायोगिक सौन्दर्यशास्त्र नन्दतिक सस्थितिऔर सौन्दर्यानुभूति को एक प्रकार की सवेगावस्था मानकर उसका मनोवैज्ञानिक अध्ययन प्रस्तुत करता है। उदाहरणार्थ, जेम्स-लैग सिद्धान्त के अनुसार सौंदर्यानुभूति वह दशा है, जिसमे ('विसेरल' और 'सोमेटिक रिसेप्टर्स' से प्राप्त) अनेक प्रकार के सवेदन एक साथ जगकर और परस्पर मिश्रित होकर व्यक्ति के तन-मन को सवेग-सकुल बना देते हैं। इस प्रसग मे यह भी ध्यातव्य है कि प्रायोगिक मनोविज्ञान के अनुसार कभी-कभी सुन्दर रुचि-निर्भर होता है अर्थात्, कौन वस्तु सुन्दर है—यह द्रष्टा की रुचि पर निर्भर करता है। इस तथ्य को हम दो दृष्टियो से समझ सकते है। पहली बात यह है कि किसी वस्तु के प्रति व्यक्ति की प्रत्यर्थता (रेस्पान्स) उसके आसग, सगीत, वातावरण और अभ्यास पर निर्भर करती है। इसलिए एक ही वस्तु के प्रति विभिन्न आसंग, सगति, वातावरण और अभ्यास मे पले हुए व्यक्तियो की प्रत्यर्थताएँ भी भिन्न होती हैं। व्यक्ति की यह प्रत्यर्थता ही वस्तु के प्रति नन्दतिक आकर्षण अथवा सौंदर्यानुभूति पैदा करती है। इसलिए यह सिद्ध होता है कि 'सुन्दर-असुन्दर' की परख व्यक्ति के उस रुचि-परिवेश पर निर्भर करती है, जो आसग, सगति, वातावरण और अभ्यास की सापेक्षता मे उसकी प्रत्यर्थता का नियमन करता है। अर्थात् कौन वस्तु सुन्दर है—यह द्रष्टा की प्रत्यर्थता की प्रणाली पर निर्भर करता है। दूसरी बात यह है कि व्यक्ति के सवेग मूलत. दो प्रकार के होते हैं—भावात्मक सवेग (पॉज़िटिव इमोशन्स) और अभावात्मक सवेग (नेगेटिव इमोशन्स)। भावात्मक सवेग हम उस सवेग को कहते हैं, जिसमे उद्दीपन (स्टिमुलस) के प्रति स्वीकृति का भाव अर्थात् आकर्षण रहता है और अभावात्मक सवेग हम उसे कहते हैं, जिसमे उद्दीपन के प्रति अस्वीकृति का भाव अर्थात् विकर्पण रहता है। यह स्पष्ट है कि सौंदर्यानुभूति का सम्बध मुख्यत. हमारे भावात्मक सवेगो से रहता है। किन्तु, यह निश्चित नही है कि किसी एक वस्तु के प्रति सभी व्यक्तियो का समान भावात्मक सवेग अथवा अभावात्मक सवेग जगे। अत इस दृष्टि से यह भी सिद्ध होता है, कि 'सुन्दर-असुन्दर' का निर्णय व्यक्ति-सापेक्ष होता है। पुन प्रायोगिक सौंदर्य-शास्त्र इन्द्रियो और चेता नाडियो के वर्गीकरण के आधार पर भी सौंदर्य-भावन को समझने की चेष्टा करता है। इन इन्द्रियो और सवेगवाहिनी नाडियो के तीन वर्ग माने गये हैं—'नौसीसेप्टर्स', 'वेनेसेप्टर्स' और 'न्यूट्रोमेप्टर्स'। प्रथम वर्ग से

पीड़ादायिनी अनुभूतियाँ—जैसे ठंडक, कड़वापन, भूख, दुर्गन्ध, इत्यादि—प्राप्त होती है, दूसरे वर्ग से सुखदायिनी अनुभूतियाँ—जैसे, मिठास, सुगन्ध, सुस्वादु, तृप्ति इत्यादि—प्राप्त होती है और तीसरे वर्ग से शेष सभी प्रकार की अनुभूतियाँ प्राप्त होती हैं। सौंदर्यानुभूति का सम्बन्ध दूसरे वर्ग में आनेवाली इन्द्रियों और संवेगवाहिनी नाड़ियों से है।

प्रायोगिक सौंदर्यशास्त्र की दृष्टिभंगी और उपलब्धियों के ये कुछ नमूने है, जिनके आधार पर इतना निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि प्रायोगिक सौंदर्यशास्त्र का स्वरूप अभी सुनिश्चित नहीं हो सका है और उसकी विधायें कला-जगत् के लिए अधिक उपयोगी नहीं हैं। प्रायोगिक सौंदर्यशास्त्र को समृद्ध करनेवाले विचारकों में मार्टिन, वैलेण्टाइन और मिल्टन एच० वर्ड उल्लेखनीय महत्त्व के अधिकारी हैं। संक्षेप में प्रायोगिक सौंदर्यशास्त्र के अनुसार 'सौंदर्य' के सम्बन्ध में निम्नलिखित निष्कर्ष निकाले जा सकते हैं—

१ सौंदर्य का अपने-आपमें कोई पृथक् अस्तित्व नहीं होता है।

२ सौंदर्य का सत्य, शिव और नैतिकता से कोई अनिवार्य अथवा ऋजु सम्बन्ध नहीं रहता है।

३ यह आवश्यक नहीं है कि 'सुन्दर' सर्वदा सत्य हो, प्राकृतिक हो अथवा प्रकृति का अनुकरण हो।

४ कोई भी रूप सर्वत्र, सर्वदा और सर्वथा निश्चितरूपेण 'सुन्दरतम' नहीं कहा जा सकता, कारण यह आवश्यक नहीं है कि कोई एक वस्तु सबको सुन्दर प्रतीत हो।

५ सन्तुलन सौंदर्य का एक महत्त्वपूर्ण तत्त्व है, किन्तु सौंदर्य की सृष्टि सन्तुलन के बिना भी संभव है।

६ संगति (हार्मनी) सौंदर्य के लिए वाञ्छनीय है, आवश्यक है, किन्तु कौन-सी वस्तु संगतिपूर्ण है—यह निर्णय व्यक्तिगत रुचि की बात है।

७ सौंदर्य-विधान में रंग-परिज्ञान का महत्त्वपूर्ण स्थान है, क्योंकि रंग का प्रभाव परिस्थिति-भेद और व्यक्ति-भेद से बदलता रहता है। वर्ण-बोध पर उम्र और मन:स्थिति का भी प्रभाव पड़ता है।[1]

अन्ततोगत्वा, हमें यह स्वीकार करना पड़ता है कि प्रायोगिक सौन्दर्यशास्त्र की सीमाएँ अत्यन्त स्पष्ट हैं, क्योंकि जिस प्रयोग-विधि और जैसी प्रयोगशाला को प्रायोगिक सौन्दर्यशास्त्र तूल देता है, उस प्रयोग से अथवा वैसी प्रयोगशाला में न तो सौन्दर्य की कलात्मक सृष्टि होती है और न सृष्ट कलात्मक सौन्दर्य का नाप होता है। फिर भी प्रायोगिक सौन्दर्यशास्त्र की यह उपलब्धि अत्यन्त महत्त्व-

[1] मिल्टन एच० वर्ड द्वारा लिखित 'ए स्टडी इन एस्थेटिक्स', पृ० २८-२९।

पूर्ण है कि सुन्दर-असुन्दर का निर्णय अथवा सौन्दर्य-भावन व्यक्ति को अपनी-अपनी प्रत्यर्थता की प्रणाली, नेत्र-रचना और शरीर-निर्माण पर निर्भर करता है। जीव-विज्ञान भी इस स्थापना का समर्थन करता है। मानव क्या, मानवेतर प्राणियो पर भी यह बात चरितार्थ होती है। उदाहरण के लिए, क्यो कुछ जीवधारियो को प्रकाश सुन्दर लगता है और कुछ जीवधारियो को अन्धकार ? क्यो पागल पतगा दीपक की लौ के सौन्दर्य से आकृष्ट होकर उस पर मर मिटता है, क्यो स्नेही चातक चाँदी की किरण-मजूषा चन्दा की ओर सदा उन्मुख रहता है और क्यो 'टर्गर प्रेसर' से झुकने वाली पीताभ सूर्यमुखी दिनकर का आलोक-वरण कर उसके पीछे फिदा रहती है—सध्या के आते ही विरह मे नत-ग्रीव हो जाती है, किन्तु ठीक इसके विपरीत क्यो उलूक को प्रकाश का सौन्दर्य आकृष्ट नही करता और क्यो जोक को छाया ही प्रिय होती है ?[1] इसका उत्तर जीव-विज्ञान के अनुसार शरीर-रचना तथा आवश्यकताओ की भिन्नता है। किरण-सवेदना की दृष्टि से जीव प्राय दो प्रकार के होते है—'पॉज़िटिवली हेलियोट्रॉपिक' और 'निगेटिवली हेलियोट्रॉपिक'।[2] प्रथम कोटि मे वे प्राणी आते हैं, जिन्हे प्रकाश अथवा सूर्य की किरणें सुन्दर लगती हैं, जैसे—पतंगा, चातक इत्यादि और दूसरी कोटि मे वे प्राणी आते हैं, जिन्हे प्रकाश अथवा सूर्य की किरणें असुन्दर या विकर्षक लगती हैं, जैसे—उल्लू, चाली इत्यादि। इसी भिन्नता के आधार पर इन प्राणियो की सौन्दर्य-चेतना के अन्य आयाम और पक्ष भी निर्भर रहते हैं। साराश यह है कि प्राणी की सौन्दर्य-चेतना का बहुत बडा अश उसकी शरीर-रचना और इन्द्रियो (सेन्स-आर्गेन्स) के 'प्रकार' से निर्मित तथा नियन्त्रित होता है।[3] इसी तरह मनुष्यो मे भी नेत्र-मस्तिष्क सम्बन्ध की विशेषता के कारण सौन्दर्य के प्रति उनकी प्रत्यर्थता मे पर्याप्त अन्तर आ जाता है। बात यह है कि मानव-मस्तिष्क के मुख्यर तीन भाग हैं—'सेरेब्रम', 'सेरेब्रल' और 'ऑप्टिक थैलमस'। 'सेरेब्रल' और 'सेरेब्रम' के अन्तर्गत मस्तिष्क का वह अश आता है, जो अतीत और वशानुगत सस्कारो को सुरक्षित रखता है। इसलिए मस्तिष्क के इस अश का मनुष्य की सौन्दर्य-चेतना से कोई ऋजु-सबंध नही है। किन्तु, मस्तिष्क का वह अश, जो 'ऑप्टिक थैलमस' कहलाता है,

---

१ महाकवि बिहारी के अनुसार इसका उत्तर है रुचि-भेद—

समैं समैं सुन्दर सबै, रूप कुरूप न कोय।
जाकी रुचि जेति जितै, तित तेतो सुन्दर होय॥

—बिहारी-सतसई, दोहा सख्या ७२२; साहित्य-सेवा-सदन, बनारस, षष्ठ संस्करण।

२. 'हेलियो' ग्रीक शब्द है, जिसका अर्थ होता है सूर्य।

३. 'एन इन्ट्रोडक्शन टु बॉयलॉजी', ले० हेटफील्ड, आक्सफोर्ड, १९५८, पृ० १५।

मनुष्य की सौन्दर्य-चेतना से निकट सबध रखता है। कारण, 'ऑप्टिक थैल्मस' ही मस्तिष्क का वह अश है, जो कुछ तन्तुओ को नेत्रो की ओर भेजता है, फलस्वरूप किसी वस्तु (आलम्बन अथवा उद्दीपन) के प्रत्यक्षीकरण के उपरान्त नेत्रो की अनुकूल अथवा प्रतिकूल प्रतिक्रियाओ को वह मस्तिष्क के निर्णय-क्षेत्र तक पहुँचाता है। अत जिस व्यक्ति का 'ऑप्टिक थैल्मस' जितना ही सक्रिय, सजग और समर्थ होता है, उसकी सौन्दर्य-चेतना उतनी ही प्रखर होती है।

जीववैज्ञानिक दृष्टिकोण से यह ध्यातव्य है कि मानवेतर प्राणी-जगत् मे भी सौन्दर्य-चेतना का क्रमश. विकास हो रहा है। सौन्दर्य-चेतना और प्रेम के विषय मे जीव-विज्ञान यह मानता है कि सौन्दर्य और प्रेम सामाजिक सस्कार हैं, अत. ये केवल बहुकोषी (मिल्टीसेलुलर) प्राणियो मे पाये जाते हैं, क्योकि एककोषी (युनिसेलुलर) प्राणियो मे सौन्दर्य और प्रेम की आधारभूत भावना—सामाजिकता—ही नही रहती है। किन्तु, अब एककोषी प्राणियो मे भी सामाजिकता की आकाक्षा के कारण बहुकोषी होने की प्रवृत्ति, अत, सौदर्य-प्रिय और प्रेमी होने की वृत्ति पाई जाती है। उदाहरणार्थ, हम एक जलीय घास—'वालवॉक्स'—को देख सकते हैं। यह 'वालवॉक्स' मूलत एककोषी है, किन्तु अब शनै-शनै सामाजिक भावना के उदय के कारण यह लाखो-लाख की सख्या मे बहुकोषी प्राणियो की तरह उपनिवेश बनाकर एक जगह रहता है, जिसे वनस्पतिशास्त्री 'वॉलवॉक्स कोलोनी' कहते हैं। वह विकास 'मेटाबॉलिज्म' के अन्तगत सामाजिक प्रवृत्ति के उदय को प्रकट करता है, जिसकी अगली परिणति सौन्दर्य-चेतना और प्रेम-भावना के विकास मे होगी। अर्थात्, भविष्य मे मानवेतर प्राणियो के बीच सौन्दर्य-चेतना का और भी विस्तार होगा, जिसके वैज्ञानिक अध्ययन से सौन्दर्यशास्त्र को कुछ नूतन आलोक मिलेगा।[1]

किन्तु, सौन्दर्यशास्त्र का यह मनोवैज्ञानिक अथवा जीववैज्ञानिक दृष्टिकोण कला-चिन्तन के लिए बहुत उपयोगी नही सिद्ध हो सकता। कला-चिन्तन के लिए सौन्दर्य के प्रति भारतीय दृष्टिकोण ही सर्वोत्तम प्रतीत होता है। इस दृष्टिकोण के अनुसार सौन्दर्य और आनन्द सहगामी हैं। जहाँ सौन्दर्य है, वहाँ आनन्द अवश्य ही रहता है। इसलिए सौन्दर्य-भावन मे स्वाभाविक एकाग्रता रहती है। उसमे किसी प्रकार की मानसिक चचलता अथवा विघ्न नही रहता है। सभवत, इसी कारण **पंचपगेश शास्त्री** ने सौन्दर्यानुभूति को **अभिनवगुप्त** के शब्दो मे 'वीतविघ्ना प्रतीति' कहा है।[1] सौन्दर्य की ऐसी प्रतीति मे सात प्रकार के विघ्न माने गए हैं—

१ प्रतिपत्तावयोग्यता सभावना विरह. (अर्थ न समझ पाने की अयोग्यता)।

२ स्वगतत्वनियमेन देशकाल विशेषावेश. (देश और काल की आत्मगत सीमाएँ)।

३ परगतत्वनियमेन देशकाल विशेषावेश (देश और काल की वस्तुगत सीमाएँ)।

४. निज सुखादि विवशी भाव. (अपने सुखादि भावो से ही ग्रस्त)।

५ प्रतीत्युपाय वैकल्य स्फुटत्वावभाव. (उपचित अनुभूति पैदा करने के लिए आवश्यक उद्दीपन का अभाव)।

६. अप्रधानता और ७ सशययोग।[2]

सचमुच 'वीतविघ्ना प्रतीति' ही उत्कृष्ट सौन्दर्यानुभूति हो सकती है। इसी 'वीतविघ्ना प्रतीति' को आचार्य **रामचन्द्र शुक्ल** ने 'अन्तस्सत्ता की तदाकार-परिणति' के रूप मे स्वीकार किया है। सौन्दर्यानुभूति का विवेचन करते हुए इन्होने लिखा है कि "कुछ रूप-रग की वस्तुएँ ऐसी होती हैं, जो हमारे मन में आते ही थोडी देर के लिए हमारी सत्ता पर ऐसा अधिकार कर लेती है कि उसका ज्ञान ही हवा हो जाता है और हम उन वस्तुओ की भावना के रूप मे ही परिणत हो जाते हैं। हमारी अन्त सत्ता की यही तदाकार-परिणति सौन्दर्य की अनुभूति है।"

सौन्दर्यानुभूति के सवध मे **कालिदास** ने भी (एफ० डब्ल्यू० **रकस्टल** की

---

१. 'फिलासफी ऑव एस्थेटिक प्लेजर,' ले० पचपगेश शास्त्री, अनामलय यूनिवर्सिटी, १९४०।

२. इन सात विघ्नों का विवेचन डॉ० राकेश गुप्त ने 'साइकोलाजिकल स्टडीज इन रस', अलीगढ, प्रथम सस्करण में और डॉ० के० सी० पाण्डेय ने 'काम्पेरेटिव एस्थेटिक्स' नामक ग्रथ में भी किया है।

तरह) विकलता (उत्सुकता) का प्रश्न उठाया है। रफस्टल का कथन है कि सौन्दर्यानुभूति की अवस्था वाह्य प्रभावों के कारण 'आत्मा की विकल दशा' (एजिटेटेड स्टेट ऑव द सोल) होती है। इसी तरह कालिदास का भी विश्वास है कि सौन्दर्यानुभूति में सर्वदा—आलम्बन के प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष रहने पर—विकलता का अंश विद्यमान रहता है। उदाहरणार्थ, हम प्रथम स्थिति को इन पंक्तियों से देख सकते हैं—

रम्याणि वीक्ष्य मधुराश्च निशम्य शब्दान
पर्युत्सुकी भवति यत् सुखितोऽपि जन्तुः।
—(अभिज्ञान शाकुन्तल, अंक ५)

और, दूसरी स्थिति को हम 'विक्रमोर्वशीयम्' नाटक के अन्तर्गत पुरूरवा की उस उक्ति में ढूंढ सकते हैं—

त्वया विना सोऽपि समुत्सुको भवेत
सखीजनस्ते किमुतार्द्रसौहृद ।

इतना ही नहीं, कालिदास की एक और मान्यता पाश्चात्य वस्तुनिष्ठ सौन्दर्य-शास्त्रियों से साम्य रखती है। वस्तुनिष्ठ सौन्दर्यशास्त्रियों का कहना है कि सौन्दर्य वस्तु में है, द्रष्टा के मन में नहीं। अत जो वस्तु सुन्दर है, वह सर्वत्र सुन्दर है। कालिदास ने भी इसे एकाधिक बार स्वीकार किया है कि सौन्दर्य (सुन्दर वस्तु) सर्वदा मनोज्ञ (रमणीय और सुन्दर) होता है,[1] उसे किसी अभि-विन्यसन अथवा प्रसाधन की आवश्यकता नहीं होती। इसलिए इन्हें रूक्ष वल्कल में सिमटी कोमलांगी अच्छी लगती है और पिचमिच सेंवार में लिपटी कमलिनी भी आकर्षक लगती है—

---

[1] हिन्दी के कुछ रीतिकालीन कवियों की भी यह धारणा रही है कि 'सुन्दर' की रमणीयता न वर्तमान निकटता में घटती है और न निरन्तर भोग में छीजती है, बल्कि सुन्दर वस्तु अपने अटल सौन्दर्य के कारण सौन्दर्य-द्रष्टा के लिए हर क्षण नवीन होती जाती है। मुसकान की मिठाई गानेवाले मतिराम ने एक बाँकी अदा के साथ इस तथ्य को व्यक्त किया है—

कुंदन को रंग फीको लगै, झलकै अति अंगनि चारु गोराई।
आँखिन में अलसानि, चितौन में मंजु विलासनि की सरसाई॥
को बिनु मोल बिकात नहीं, मतिराम लहै मुसकान मिठाई।
ज्यों ज्यों निहारिये नेरे ह्वै नैननि, त्यों त्यों खरी निकरै सी निकाई।

मतिराम ही नहीं, विरही सुजान में डूबे घनानन्द की भी यही उक्ति है—

रावरे रूप की रीति अनूप नयो नयो लागत ज्यों ज्यों निहारिये।
त्यों इन आँखिन बानि अनोखी अघानि कहूँ नहिं आन निहारिये॥

इयमधिक मनोज्ञा वल्कलेनापि तन्वी।
किमिवहि मधुराणा मंडनं नाकृतीनाम् ॥ (अभिज्ञान शाकुन्तलम्)
और
यथाप्रसिद्धैर्मधुरं शिरोरुहैः जटाभिरप्येवमभूत्तदाननं।
न षट्पदश्रेणिभिरेव पंकजं सशैवलासंगमपि प्रकशते॥ (कुमारसभव)

इसी तरह प्रयास करने पर भारतीय सौन्दर्य-चिन्तन मे अनेक ऐसे स्थल मिल सकते हैं, जो पाश्चात्य सौन्दर्यशास्त्र की आधुनिकतम उपलब्धियो से आश्चर्य-जनक साम्य रखते हो, कारण, भारतीय सौन्दर्य-चिन्तन की यह एक महत्त्वपूर्ण विशेषता है कि उसमे प्राय· सभी आधुनिक एव अत्याधुनिक विचारणाओ के बीज सुरक्षित हैं। उदाहरण के लिए, आधुनिक सौन्दर्य-चिन्तन मे अत्यधिक विचारित क्रोचे का नूतन अभिव्यजनावाद बुद्धघोष के कला-सिद्धान्त से साम्य रखता है। बुद्धघोष ने बहुत पूर्व यह उद्भावना की थी कि चित्त का सहजज्ञान ही सौन्दर्य-विधान या कला मे अभिव्यक्त होता है, बिम्ब, प्रतीक रग इत्यादि जैसी चीजें उस सहजज्ञान के व्यक्तीकरण मे केवल माध्यम का काम करती हैं। इस प्रकार की समग्र अभिव्यक्ति चित्त की स्वयम्भू क्रिया का वस्तुनिष्ठ प्रक्षेपण है। अत. बुद्धघोष के अनुसार, जैसा कि दासगुप्त का मन्तव्य है, सौन्दर्य-विधान या कला बाह्य न होकर आन्तर है और उसका नित्य सबध आन्तरिक सहज-ज्ञान की सृजनात्मक चेतना के साथ निर्भर है।[1] इतना ही नही, दासगुप्त का यह भी कहना है कि बुद्धघोष ही नही, हेमचन्द्र और भट्टतोत ने भी सहजज्ञान (क्रोचे का 'इण्ट्यूशन') को अत्यधिक महत्त्व दिया है तथा उसे शिव का तृतीय नेत्र माना है, जिसके चलते कवि अतीत और वर्तमान के अलावा भविष्य को भी जानकर क्रान्तदर्शी कहलाता है।

इस प्रसग मे यह भी ध्यातव्य है कि देश और काल के आधार पर सौन्दर्य के मूल्य एव मान बदलते रहते हैं, अर्थात् कालकृत और देशकृत भेदो से सौन्दर्य-दृष्टि बदलती रहती है, जैसे, भारतीय दृष्टि के अनुसार सौंदर्य सर्वथा और सर्वदा अन्तरग है। इसी भारतीय विशेषता को स्वामी विवेकानन्द ने एशियाव्यापी प्राच्य प्रवृत्ति कहा है। उदाहरण के लिये श्री हरिवंशसिंह शास्त्री ने शाकर अद्वैत सिद्धान्त के आधार पर सौन्दर्य की परिभाषा प्रस्तुत की है— "स्थूल या सूक्ष्म जगत् मे आत्मा की अभिव्यक्ति ही सौन्दर्य है।" इस प्रसग मे इन्होने हीगेल के शिष्य विशर को अपना आदर्श माना है। इन्होने अपने दृष्टि-कोण का स्पष्टीकरण करते हुए लिखा है कि "जब कभी हमारी बुद्धि निष्काम होगी, तभी हमे सौन्दर्य-बोध होगा, क्योकि उस समय हमारी दृष्टि वस्तुओ के नाम-रूप पर, बाहरी बनावट पर नही पडती, प्रत्युत उस नाम-रूप के आधार

१. दासगुप्त, 'फण्डामेण्टल्स ऑव इण्डियन आर्ट', पृष्ठ ९३।

पर, उस परब्रह्म पर पडती है, जिनमे ये सब नाम-रूप कल्पित है एव जो हमारा अपना स्वरूप है।" इतना ही नही, सौन्दर्य के 'अन्तरग' गुण को प्रधानता देने के कारण उन्होंने सौन्दर्यानुभूति और सौन्दर्याभिव्यक्ति का सबध सप्रज्ञात समाधि की अवस्था से जोडा है। इनके अनुसार सप्रज्ञात समाधि के अन्तर्गत सवितर्क योग, सविचार योग और आनन्दयोग की अवस्था मे सौन्दर्यानुभव होता है तथा सप्रज्ञात समाधि की अन्तिम अवस्था—अस्मिता योग—मे सौन्दर्याभिव्यक्ति होती है। इस तरह शास्त्रीजी ने सौन्दर्यज आनन्द को निष्काम आनन्द सिद्ध करते हुए सौन्दर्य-बोध को ऋतम्भरा प्रज्ञा से सबधित माना है।[1] दूसरे भारतीय कला मे सौन्दर्य को प्राय रहस्यमय माना गया है, जिसके सर्वोत्तम उदाहरण सन्त अथवा सूफी साहित्य और युगनद्ध मुद्रा की मैथुनी मूर्तियाँ है। इसलिए जेम्स कजिन्स ने उचित ही कहा है कि जहाँ हीगेल ने वैचारिक दृष्टि से ललितकलाओ को विश्व-जीवन की अनुभूति के लिए सम्पर्क-साधन (मीन्स ऑव पोलराइजेशन) कहा है, वहाँ भारतीय दृष्टि कभी-कभी योग-साधना अथवा यौगिक चिन्तन को कला का लक्ष्य मान लेती है।[2] वस्तुत साधारणीकरण का मधुमती भूमिका मे सबध जोडना इसी दृष्टि का द्योतक है।

सौन्दर्य-विवेचन मे 'कुरूप' की चर्चा अत्यावश्यक है, क्योकि कला के 'कुरूप' मे भी सौन्दर्य रहता है।[3] पाश्चात्य सौन्दर्य-चिन्तन मे अरस्तू के काल से कुरूप

---

१. 'सौन्दर्य-विज्ञान', ले० हरिवंशसिंह शास्त्री, काशी विद्यापीठ १९३६, क्रमश: पृष्ठ संख्या ५६, ११८, १२२-१२३।

२. 'द फिलासफी ग्राव ब्यूटिफुल', ले० जेम्स एच० कजिन्स, पृ० ३५।

३. कला में एक ऐसी शक्ति रहती है, जिसके द्वारा वह सामान्य जगत् की तथाकथित कुरूप वस्तु को भी सुन्दर बना देती है। चित्रकला की दृष्टि से एक आसन्न-प्रसवा गदही का चित्र उतना ही महत्वपूर्ण और कलात्मक हो सकता है (बशर्ते चित्रकार की तूलिका का उसे चामत्कारिक पारस स्पर्श प्राप्त हुआ हो) जितना अम्बपाली या अकीको कोजिमा और मेरिना जुनोगा जैसी विश्व-सुन्दरी का चित्र। कला के इस राज को स्पष्ट करने में मौलाना शिवली की ये पंक्तियाँ सहायक सिद्ध हो सकती हैं—"मुहाकात का असली कमाल यह है कि असल के मुताबिक हो। यानी जिस चीज का बयान किया जाय, इस तरह किया जाय कि खुद वह शै मुजस्सम होकर सामने आ जाय। शायरी का असली मकसद तबीयत का इन्बेसात है। किसी चीज की असली तस्वीर खींचना खुद तबीयत में इन्बेसात पैदा करता है (वह शै अच्छी हो या बुरी हो—इससे बहस नहीं) मसलन छिपकली एक बदसूरत जानवर है जिसको देखकर नफरत होती है, लेकिन अगर एक उस्ताद मुसव्विर छिपकली की ऐसी तस्वीर खींच दे कि बाल बराबर फर्क न हो तो उसको देखने से खामखाह लुत्फ आएगा। इसकी यही वजह है कि नकल का असल के मुताबिक होना खुद एक मुअस्सर चीज है। अब अगर वे चीजें, जिनकी मुहाकात की गई है, खुद भी दिलावेज और लुत्फ-अंगेज हों, तो मुहाकात का असर बहुत बढ़ जाएगा।—शेरुलअजम, ले० मौलाना शिबली नोमानी, मआरिफ प्रेस आज़मगढ़, १९२३, जिल्द चहारुम, पृ० १५-१६। इस तरह स्पष्ट है कि सौन्दर्यशास्त्रीय दृष्टि से

के सबध मे विमर्श होता रहा है और दिनानुदिन उसे अधिक व्यापकता प्रदान की जाती रही है। अरस्तू ने तो कुरूप मे हास्यास्पद की भी गिनती की है, जिसके उदाहरणस्वरूप उन्होने 'कैरिकेचर' (विडम्बन) को प्रस्तुत किया है। कुरूप के सबध मे उनकी मुख्य धारणा यह है कि अनुकरण के माध्यम से कला मे प्रवेश पाने के कारण वह कुरूप सुन्दर, अत , सुखद हो जाता है। किन्तु, लेसिंग ने कुरूप को काव्य मे केवल 'कौमिक' या भयानक के प्रत्यक्षीकरण का साधन माना है। उसे अरस्तू की यह स्थापना स्वीकार नही है कि दुखद (जिसका धर्म है कुरूप होना) भी अनुकरण के द्वारा सहृदय-चित्त के लिए सुखद बन सकता है । इस सबध मे हीगेल ने, अशत , स्पष्ट बात कही है। इनके अनुसार कुरूप मे कुछ-न-कुछ विकृति (डिस्टार्शन) अवश्य रहती है, जैसे कुरूप-चर्चा मे 'कैरि-केचर' का उदाहरण देते हुए इन्होने चरित्र-चित्रण की विकृति को निर्दिष्ट किया है। रोजेन्क्रा ने और भी स्पष्टता के साथ यह मन्तव्य व्यक्त किया है कि कुरू-पता सौन्दर्य का भावात्मक निषेध (पॉजिटिव निगेशन) है।

मेरी दृष्टि मे सौन्दर्य के साथ कुरूपता का निरन्तर वैपरीत्य है। सौन्दर्य का विपरीतार्थक अथवा प्रतीप असौन्दर्य नही, बल्कि कुरूपता है। कुरूपता भी हमारी सौन्दर्य-चेतना से सबधित है। व्यपदेश-निर्धारण की दृष्टि से हम यह कह सकते है कि कुरूपता उस वस्तु मे है, जो चाक्षुष, श्रावण अथवा अन्य ऐन्द्रिय प्रत्यक्ष के उपरात आश्रय की बोध-वृत्ति या इन्द्रियो को अरुचिकर प्रतीत होती है। किन्तु यह अरुचिकरता भावदशा-सापेक्ष है और इस भाव-दशा के परिवर्तन मे देश, काल एव परिस्थिति सघ रूप मे अथवा पृथक्-पृथक् भी सक्षम हैं। ससर्ग-सम्पर्क अथवा पूज्य भाव के आरोपण से कुरूप भी आकर्षक बन जाता है या उसकी अरुचि-करता घट जाती है। पुन विशिष्ट आन्तरिक गुण के कारण कुरूपवर्जना का भाव बदल जाता है। उदाहरण के लिए स्वर-लालित्य के कारण काली कोयल और पाण्डित्य के कारण अष्टावक्र स्मरणीय हैं। जो हो, कुरूप को कला मे अवश्यस्थान मिलना चाहिए, क्योकि पूर्णता अपूर्णता से श्रेयस्कर है, और, यदि कला कुरूपता के प्रति अडिग वर्जना का भाव रखेगी, तो उसकी पूर्णता अवश्यमेव विघटित होगी। दूसरी बात यह है कि सुन्दर और कुरूप एक-दूसरे के मूल्यो एव सीमाओ का

कुरूप भी सौन्दर्य का एक अग या प्रकार है। जब सामान्य लौकिक दृष्टि से घोषित कुरूप को कलाकार कला-जगत् में प्रतिष्ठित कर सौन्दर्य का अग बना देता है, तब उसकी गणना, जैसा कि *A C. Bradley* और *S Alexander* ने कहा है, 'difficult beauty' में होने लगती है। द्रष्टव्य—

—*S Alexander*, Beauty and Other Forms of Value, 1933, page 164.

निर्धारण करते है । शायद, इसीलिए वाल्मीकि ने राम के सौन्दर्य को अधिक प्रभविष्णु एव शूर्पणखा की कुरूपता को अधिक विकर्षक बनाने के लिए सौन्दर्य और कुरूपता का समानान्तर वर्णन किया है—

सुमुख दुर्मुखी राम वृत्तमध्य महोदरी ।
विशालाक्ष विरूपाक्षी सुकेश ताम्रमूर्धजा ॥
प्रीतिरूप विरूपा सा सुस्वर भैरवस्वरा ।
तरुण दारुण वृद्धा दक्षिण वामभाषिणी ॥

(वाल्मीकि रामायण)

साराश यह है कि कुरूपता के प्रति शिथिलता हमारी सौन्दर्य-चेतना के लिए अशोभन है और कुरूपता के प्रति तीव्र प्रतिक्रिया हमारी सौन्दर्य-चेतना के लिए शुभकर है ।

सौन्दर्य-विवेचन मे उदात्त की चर्चा भी अपेक्षित है ।[1] उदात्त (सब्लाइम) वह सौन्दर्य है जो आश्रय को पहले पराभूत और तदनन्तर आकर्षित करता है। जैसे, गरजते हुए सागर को देखकर तटस्थ व्यक्ति पहले भयकरता से आक्रान्त होकर या विस्मय भाव से हक्का-बक्का हो जाता है, किन्तु, तत्पश्चात् उसकी विशालता से अभिभूत होकर वह चित्त-स्फीत हो जाता है । अत उदात्त-भावन मे पहले घात, तदुपरान्त आह्लादन है । इस पूर्वावस्था के कारण ही कुछ विचारक उदात्त और सुन्दर को सकोटिक नही मानते हैं । कभी-कभी कुरूप भी अपनी विशालता और रोमातिशयता के कारण उदात्त बन जाता है ।[2] सुन्दर और उदात्त मे दूसरा अन्तर यह है कि सुन्दर जहाँ रुचि-बोध से सबधित है, वहाँ उदात्त बुद्धि-सवेग (इमोशन ऑव इन्टेलिजेन्स) से । तीसरी बात यह है कि सुन्दर के लिए सर्वदा आकृति-विधान आवश्यक है, जबकि उदात्त के लिए आकृतिहीनता और विकृति समरूप श्रेयस्कर है । चौथा अन्तर यह है कि उदात्त सुन्दर की अपेक्षा अधिक आत्मनिष्ठ है, फलत उसमे आश्रय पक्ष की दृष्टि से मानस-चाप (मेण्टल प्रेशर) अधिक है । कभी-कभी 'उदात्त' वस्तु-विशेष मे पूर्णता का ऐसा भीमकाय अथवा विराट् निदर्शन प्रस्तुत करता है कि उसके

आस्वादन, चर्वण या ग्रहण मे आश्रय की इन्द्रियाँ असमर्थ सिद्ध होती हैं, और यदाकदा वह प्रकृति की शक्ति-सत्ता का ऐसा विस्फोटक विभ्राट् उपस्थित करता है कि आश्रय की धारण-शक्ति विखण्डित हो जाती है। इसलिए कुछ लोग उदात्त को 'सौन्दर्य का विस्तार' ('एक्सटेन्शन ऑव ब्यूटी') कहते है।

हीगेल के अनुसार उदात्त सौन्दर्य का दौवारिक है, जो प्रतीकात्मक कला-विभाग (सिम्बालिक आर्ट-फार्म) के अन्तर्गत आता है। जब 'असीम' दृश्य जगत् की वस्तु-विशेष मे अपनी अभिव्यक्ति चाहता है, किन्तु चाहकर भी न अभिव्यक्त हो पाता है और न पुन प्रत्यक्षित, तब वह वृथा प्रयत्न वस्तु-समेत उदात्त बन जाता है, अर्थात्, 'उदात्त' वस्तु-विशेष मे असीम की अपूर्ण अभिव्यक्ति है। उदात्त का दूसरा लक्षण यह है कि वह ससीम-निस्सीम का बोधक होता है। प्रत्यक्षीकरण के उपरान्त उदात्त, एक ओर, मानव-हृदय पर अपनी असीमता का रोब गाँठता है और, दूसरी ओर, मानव-चित्त को उसकी सकोची ससीमता का बोध देता है। किन्तु, उदात्त की विशेषता यह है कि इस ससीमता अथवा हीनता की अनुभूति के क्षणो मे भी मानव-चित्त पहले की अपेक्षा महानता के किंचित् ऊँचे धरातल पर पहुँच जाता है।

कुछ आत्मनिष्ठ विचारक उत्कृष्ट सवेग की सशक्त अनुभूति को उदात्त कहते हैं। इस दृष्टि मे उदात्त उन्मेषपूर्ण सवेग की चूडान्त घनीभूत अवस्था है। अत प्रकृति की विराटता और आध्यात्मिक शक्ति की पराव्याप्ति उदात्त की भावना के सर्वोत्तम उद्दीपन है।

कला के सभी निदर्शनो मे उदात्त का समावेश नही हो सकता। वही कला उदात्त का उचित अधिकरण बन सकती है, जिसमे पर्याप्त विस्तार या भावन के स्तम्भन की शक्ति विद्यमान हो, क्योकि उत्कृष्ट सवेग को उत्कृष्टता के परिपाक की प्राप्ति एव घनीभूत अवस्था को 'तर' से 'तम' तक ले जाने के लिए एक विलम्बित एव सुपुष्ट काल-खण्ड की आवश्यकता होती है। इसलिए कला के उदात्त मे नही, उदात्त कला मे 'मैग्निच्युड' की आत्यन्तिक आवश्यकता रहती है। इस दृष्टि से दृश्य कलाओ की अपेक्षा कालिक कलाओ (टाइम आर्ट्स)—जैसे, सगीत और काव्य—मे उदात्त का आधान सरल हुआ करता है।

'उदात्त' ललितकला और उपयोगी कला का विशिष्ट विभाजक गुण है। हम देख चुके है कि लालित्य और उपयोगिता के आधार पर ललितकला एव उपयोगी कला का दो टूक विभाजन तर्कसम्मत नही है, क्योकि उपयोगिता मे भी लालित्य रहता है और लालित्य की भी उपयोगिता होती है। किन्तु, हम उदात्त के आधार पर (यद्यपि इसकी सर्वत्र उपस्थिति नही रहती) ललितकला के अन्तर कोअधिक स्पष्ट कर सकते हैं। उपयोगी कलाओ, विशेषकर

औद्योगिक कलाओं में उदात्त का समावेश या उसका आधार कभी नहीं हो सकता है। उपयोगी कला और औद्योगिक कला अन्य दृष्टियों से—पूर्णता, सघटन अथवा सचाई की दृष्टि से—ललितकलाओं के साथ 'सम' पर खड़ी हो सकती हैं, किन्तु उदात्त की दृष्टि से वे सर्वथा पगु हैं।

परिमाण अथवा आकृति-विस्तार में सबधित होने के कारण कुछ विचारक उदात्त के कई स्तर मानते हैं। जैसे, प्रो० ब्रैड्ले ने 'द सब्लाइम'[1] शीर्षक निबन्ध में परिमाण, मात्रा अथवा आकृति-विस्तार के भेद से सौन्दर्य की पाँच अवस्थाओं को स्वीकार किया है और उदात्त को उनमें सर्वोत्तम माना है। वे पाँच अवस्थाएँ इस प्रकार हैं—रजक (प्रेटी), लावण्यमय (ग्रेसफुल), सुन्दर (ब्यूटिफुल), कमाल (ग्रैण्ड) और उदात्त (सब्लाइम)।[2] 'ललित लघु' उदात्त का पक्तिबद्ध विपरीतान्त है, जो सुखद और रजक हुआ करता है, किन्तु किसी उत्कृष्ट तथा गभीर भाव को जगाने में अक्षम रहता है। इस ललित लघु के भावन या चर्वण में इन्द्रियाँ सक्रिय रहती हैं। किन्तु इसके विपरीत 'उदात्त' इन्द्रियों से परे अर्थात् अतीन्द्रिय हुआ करता है। यह इतना महान् होता है कि इन्द्रियाँ इसे ग्रहण नहीं कर पातीं। इन्द्रिय-ग्राह्य न होने के कारण ही उदात्त क्षणस्थायी होता है, क्योंकि किसी भाव-दशा का ठहराव इन्द्रियों की सजोने की शक्ति पर निर्भर रहा करता है। शेष अवस्थाएँ—लावण्यमय, सुन्दर और

---

१ Oxford Lectures on Poetry by *A C* Bradley, Macmillan & Co, London, 1950

२ 'सब्लाइम' के लिए नदिन सौन्दर्य, भव्य या भावोत्कर्ष का भी प्रयोग किया जाता है। आनन्दशंकर बापूभाई ध्रुव ने सब्लाइम के लिए गीता का 'ऊर्जित' शब्द प्रयुक्त किया है। इन्होंने गुर्जर भाषा के कवि श्री अर्देशर फरामजी खबरदार के अभिनन्दन-ग्रन्थ में 'सुन्दर और भव्य' शीर्षक एक लेख लिखा है, जिसमें इन्होंने 'ऊर्जित' शब्द की चर्चा की है। इस लेख का हिन्दी भाषान्तर 'जागरण' पत्रिका के मधुसचय शीर्षक स्तम्भ में उपस्थित किया गया है, जिसकी कुछ महत्त्वपूर्ण पंक्तियाँ इस प्रकार हैं—"सुन्दर और भव्य" (sublime) को गीता में श्रीमत् और ऊर्जित शब्दों से व्यक्त किया गया है। श्रीमत् और ऊर्जित—यद्यपि ये दोनों एक-दूसरे से भिन्न ही रूप हैं, तथापि इनका समन्वय इनके अधिष्ठानभूत परमात्मा में होता है। परमात्मा की विभूतिरूप वस्तु की प्रतिमा में भी ये सामानाधिकरण्य प्राप्त करते हैं। हमारी दृष्टि में ये दोनों भिन्न-भिन्न रूप में भासित होते हैं। एक का तत्त्व समान, प्रमाणबद्ध और मनोहर होना है—इसके [illegible] और अप्रतिहत [illegible]। एक का [illegible] विशाल [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] 'जागरण', (साहित्यिक पाक्षिक पत्र) [illegible], अक [illegible], [illegible], [illegible] काशी, पृष्ठ [illegible]

कमाल—इन्द्रियो के साथ ताल-मेल रखती हैं, अतः इन्द्रियरजक होती है, अर्थात्, इन अवस्थाओं मे आश्रय की इन्द्रियो और आलम्बन के बीच पूर्ण रागात्मक निर्वाह रहता है।

कुछ विचारक कलाकार की शैली मे भी उदात्त की विद्यमानता स्वीकार करते हैं। अर्थात्, असामान्य अभिव्यक्ति का कमाल या चमत्कार उदात्त का सृजन कर सकता है। जैसे, लोजाइनस पाटवपूर्ण वाग्मिता मे उदात्त की सभावना को मानते हैं। इनके अनुसार कलाकार की शैली उदात्त हो सकती है और उदात्त शैली के साक्षात्कार से आत्मा का उन्नयन तथा उत्तोलन हो सकता है।[१] अपनी इस मान्यता को स्थापित करते हुए इन्होने उदात्त शैली के पाँच नियामक तत्त्वो को निर्दिष्ट किया है—१. चिन्तन की गरिमा, २. आवेगो का स्फूर्त और उत्तेजित निर्वाह, ३. वाक्यालकारो (फिगर्स ऑव स्पीच) का सुष्ठु प्रयोग, ४. शब्द-चयन, सादृश्य-विधान एव अलकार-योजना तथा ५ स्थापत्य-कौशल का महिमामडित प्रयोग। इन पाँच तत्त्वो मे से प्रथम दो, लोजाइनस के अनुसार, उदात्त के अन्तरग तत्त्व हैं, शेष तीन बहिरग। डॉ० नगेन्द्र ने इन दो तत्त्वो के लिए 'उदात्त विचार और प्रेरणा प्रसूत भव्य आवेग' का प्रयोग किया है और इन दो मे भी आवेग की मुख्यता को प्रतिपादित किया है। "भव्य आवेग से अभिप्राय ऐसे आवेग का है, जिससे हमारी आत्मा जैसे अपने-आप ही ऊपर उठकर गर्व से उच्चाकाश मे विचरण करने लगती है तथा हर्ष और उल्लास मे परिपूर्ण हो उठती है। इसी प्रकार का आवेग उदात्त की सृष्टि करता है। इसके विपरीत कुछ ऐसे भी आवेग होते हैं, जो औदात्य से बहुत दूर हैं और जो निम्नतर कोटि के है, जैसे, दया, शोक, भय, आदि……। इस प्रकार के भाव उदात्त की सृष्टि मे सर्वथा असमर्थ ही नही, वरन् बाधक भी होते हैं।"[२]

१. "When a passage is pregnant in suggestion, when it is hard, nay impossible, to distract the attention from it, and when it takes a strong and lasting hold on the memory, then we may be sure that we have lighted on the true sublime"—*Longinus*, On The Sublime, translated by H L. Havel, Every Mans Library, No 901.

२ 'काव्य में उदात्त तत्त्व'—डॉ० नगेन्द्र, भूमिका-भाग, पृ० १०-११, राजपाल एण्ड सन्ज, दिल्ली, १९५८। हिन्दी के कुछ अन्य लेखकों ने भी लोंजाइनस के द्वारा निरूपित 'सब्लाइम' पर छिटपुट विचार किया है। जैसे, कन्हैयालाल सहल ने 'लाजीनस और भावोत्कर्ष' शीर्षक निबंध में लोंजाइनस की उदात्त-सबंधी स्थापनाओं का सार-सक्षेप प्रस्तुत किया है और तुलनात्मक दृष्टि से यह सकेतित किया है कि लोंजाइनस के आनन्दातिरेक तथा मम्मट के 'विगलित वेद्यान्तर' में बहुत-कुछ साम्य दिखलाई पडता है। 'प्रो० कन्हैयालाल सहल,'लांजिनस

उदात्त की विचित्रता यह है कि वह विशाल होकर भी सूक्ष्म मे समाहित हो सकता है, अर्थात् उसकी भूमिकाएँ बहुवर्णी है। अत उसके कई प्रकार माने जाते हैं, जैसे—सूक्ष्मोदात्त, श्रेयोदात्त, परोदात्त, विस्तारोदात्त इत्यादि।[1]

इस प्रसग मे यह भी विचारणीय है कि 'सौन्दर्यानुभूति की अवस्था' क्या है ? आइ० ए० रिचर्ड्स ने 'प्रिन्सिपुल्स ऑव लिटररी क्रिटिसिज्म' मे यह मत व्यक्त किया है कि मन की कोई ऐसी विशिष्ट दशा नही है, जिसे हम सौन्दर्यानुभूति की अवस्था (एस्थेटिक स्टेट) के नाम से अभिहित कर सकते हैं।[2] वास्तविकता यह है कि मानव-मन अत्यधिक सवेदनशील और सक्रिय है। उसके पास क्षण-क्षण बदलने वाली दशाओ और अनुभूतियो की एक सकुल शृखला है। ये अनेक किस्म की दशाएँ एव अनुभूतियाँ क्रमबद्ध या सुलझी हुई न होकर विशृंखल रहती हैं। इनके परिवर्तन का कारण स्थिति और परिस्थिति मे हेरफेर है। अर्थात्, प्रश्न यह है कि देश, काल एव परिस्थिति के सघात से बदलने वाली आश्रय की बहुवर्णी मनोदशाओ और अनुभूतियो के बीच सामान्य ढग से वह दशा या अनुभूति भी आ जाती है, जिसे हम सौन्दर्यानुभूति की अवस्था कहते है अथवा उसके कुछ विशिष्ट लक्षण होते है ? जीव-विज्ञान के अनुसार हमारे ऐन्द्रिय ज्ञान और सवेदन मूलत दो प्रकार के है—'प्रोटोपैथिक' और 'एपिक्रिटिक'। ये दोनो स्वक्चेतना के साधन और आधार है। 'प्रोटोपैथिक' सवेदन जीव की प्राथमिक वृत्तियो से सबधित है और 'एपिक्रिटिक' सवेदन का सबध उसकी चयनशील (डिस्क्रिमिनेटिंग) वृत्ति से है। इसलिए हेड और रिवर्स ने यह निष्कर्ष निकाला है कि हमारे चेतन जीवन का सबध द्वितीय (एपिक्रिटिक) से है और उपचेतन का प्रथम (प्रोटोपैथिक) से। इस दृष्टिकोण से सोचने पर सौन्दर्यानुभूति का सबध 'एपिक्रिटिक' सवेदन के ही साथ हो सकता

और मार्गोत्कर्ष' शीर्षक निबन्ध, साहित्य-सन्देश, आगरा, अगस्त, १९५०, पृष्ठ ४९-५०। यहां यह ध्यातव्य है कि सस्कृत काव्यशास्त्र में रस-विवेचन के प्रसग मे भी 'उदात्त' शब्द का व्यवहार किया गया है। जैसे, भोज ने शृगारप्रकाश मे 'उद्धत रस' के प्रतिपक्ष में 'उदात्त रस' का उपस्थापन किया है। भोज के शृगारप्रकाश पर कार्य करनेवाले विद्वानों, यथा डॉ० राघवन और [illegible] गुप्त ने उदात्त शब्द पर रस-विवेचन की दृष्टि से थोड़ा विचार किया है।

[1] उदात्त के सैद्धान्तिक पक्ष पर वस्तु-दृष्टि से विचार के लिए द्रष्टव्य—'उदात्त सिद्धांत और शिल्पन', ले० जगदीश पाण्डेय, [illegible] प्रकाशन, आरा, १९६८, पृष्ठ १३-१८।

[2] भारतीय सौन्दर्यशास्त्रियों ने सौन्दर्यानुभूति की अवस्था मे इन चार प्रकार के उपादानों को स्वीकार किया है—[illegible], [illegible], [illegible] और [illegible]। कुछ सौन्दर्यशास्त्री [illegible] पर अधिक जोर देते है, तो कुछ [illegible] और [illegible] पर। आधुनिक सौन्दर्यशास्त्री, [illegible], व्यापार और अभिव्यक्ति पर जोर देते है।

है, क्योकि वह हमारे चयन और उन्नत सवेदन पर निर्भर करती है । किन्तु, वही प्रश्न पुन: सामने आता है—क्या इस कोटि मे भी सौन्दर्यानुभूति लक्षण-विशिष्ट है ? इस प्रश्न का नकारात्मक उत्तर देते हुए रिचर्ड्स ने लिखा है कि सौन्दर्यानुभूति अन्य अनुभूतियो के साथ गाढ साहश्य रखती है । अन्तर है विकास की मात्रा मे । अर्थात् किसी सामान्य अनुभूति का विकसित रूप ही सौन्दर्यानुभूति है, फलत उनमे प्रकार-भिन्नता नही है । उदाहरणार्थ, कविता पढने या सगीत सुनने के समय हम उससे भिन्न कदापि कोई काम नही करते, जो हम दर्शक-दीर्घा मे जाते अथवा सुबह मे पोशाक पहनते समय करते है ।

किन्तु, दूसरी कोटि के विचारको का मत है कि सौन्दर्यानुभूति अन्य अनुभूतियो से विशिष्ट है, क्योकि सौन्दर्यानुभूति का आविर्भाव दो ही स्थितियो मे होता है—सौन्दर्य-सृष्टि मे सुन्दर के अवलोकन या प्रशसन मे । इस विशिष्टता के पक्ष मे रोजर फ्राय का एक तर्क यह है कि सौन्दर्यानुभूति सर्वथा और सर्वदा आनन्दोन्मुख होती है जबकि अन्य अनुभूतियो का आनन्द से अविनाभाव सबध नही है । वस्तुत. यह स्वीकार्य सत्य है कि सौन्दर्यानुभूति का, अगर, आनन्द से वर्तमान सबध न भी हो, तो आगमिष्यत् सबध अवश्य ही रहता है । इसलिए आनन्दकुमार स्वामी ने सौन्दर्यानुभूति को 'प्रज्ञानघन आनन्दमयी' अवस्था के रूप में स्वीकार किया है ।[1] पुन सौन्दर्य से प्राप्त आनन्दानुभूति और अन्य सुखो मे अन्तर है । अन्य सुखो मे इन्द्रियानुभूति ही सीमा बन जाती है, किन्तु सौन्दर्य-प्रदत्त आनन्दानुभूति मे इन्द्रियाँ अविकरण मात्र रहती है, उसकी सीमा नही बनती ।[2] फिर भी हम, जैसा कि कश्मीरी शैव दर्शन और विशेषकर अभिनव गुप्त की मान्यता है, सौन्दर्यानन्द को ब्रह्मानन्द नही कह सकते, क्योकि सौन्दर्यानन्द ब्रह्मानन्द से भिन्न कोटि का होता है । ब्रह्मानन्द की स्थिति मे 'प्रज्ञा' स्थिर हो जाती है, जो स्थिरता किसी प्रकार के सृजन-कार्य मे अक्षम सिद्ध होती है, अत यदि सौन्दर्यानन्द ब्रह्मानन्द की कोटि का हो जाय, तो कलाकार प्रज्ञा की स्थिरता के कारण कला-सृजन मे असमर्थ हो जाएगा । अर्थात्, सौन्दर्यानन्द ब्रह्मानन्द की तुलना मे निम्न स्थिति का होता है ।

---

१. 'द ट्रान्सफार्मेशन ऑव नेचर इन आर्ट', ले० आनन्द के० कुमारस्वामी, डोवर, पब्लिकेशन्स, न्यू यार्क, १९५६, पृष्ठ ५१ ।

२. *George Santayana*, The Sense of Beauty, Dover Publications, New York, page 36. इसलिए सन्तायना ने सौन्दर्य का सबंध 'रोम ऑव इसेन्स' से माना है और उसे एक 'इन्ट्रिंजिक वैलू' के रूप में स्वीकार किया है ।—*Irving Singer*, Santayana's Aesthetics . A Critical Introduction, Cambridge, 1957, pages 69-74.

इस विश्लेषण के उपरान्त यह मत उचित प्रतीत होता है कि सौन्दर्यानुभूति कुछ अर्थों में विशिष्ट होती है। एक तो सौन्दर्यानुभूति की अवस्था भावक के घन संवेग (कैथेक्सिस)[1] की दशा होती है। दूसरे सौन्दर्यानुभूति में चमत्कार (संस्कृत काव्यशास्त्र के प्रयुक्त अर्थ में) की अनिवार्य उपस्थिति रहती है। तीसरे, सौंदर्यानुभूति की उत्पन्न प्रक्रिया के विधायक तत्त्व अनेक, किन्तु, क्रमबद्ध होते हैं। जैसे, वस्तु-प्रत्यक्ष, उसका मानस-चित्रांकन, इन दोनों का एक विधान में ग्रथन, इस समीकृत रूप के प्रति आश्रय के मन का प्रतिसंवेदन और सौंदर्यास्वादन की लब्धि। वस्तुत, सौंदर्यानुभूति और उसकी अभिव्यक्ति, दोनों की प्रक्रियाएँ बहुत उलझी हुई है।[2] भारतीय विचारकों में अभिनवगुप्त ने सौंदर्यानुभूति को सार्वभौम माना है। इनके अनुसार सौदर्यानुभूति देश, काल और कारण-कार्य की सारिणी से परे है, अतः सौदर्यानुभूति के क्षणों में भावक दैन-दिन जीवन की सासारिकता से कुछ समय के लिए ऊपर उठ जाता है। अभिनवगुप्त ने इस बात पर एकाधिक बार बल दिया है कि सौदर्यानुभूति की अवस्था में मनुष्य कारण-कार्य-नियम के द्वारा सचालित ससार से पृथक् हो जाता है। यह पार्थक्य जितना ही सशक्त होता है, सौदर्यानुभूति उतनी ही विशिष्ट होती है। इस दृष्टि से अभिनवगुप्त भट्ट लोल्लट और शकुक से दूर तथा भट्टनायक के निकट पड़ते हैं, क्योंकि भट्टनायक की तरह ही अभिनवगुप्त का दृष्टिकोण है कि सौंदर्यानुभूति (जिसे भारतीय काव्यशास्त्र में प्राय रसानुभूति कहा जाता है) व्यक्ति की वह सन्दतिक चेतना (एस्थेटिक कांशसनेस) है, जो वाह्य विघ्नों, घातों अथवा प्रभावों से मुक्त रहती है। इस सन्दतिक चेतना का कोई बाह्य उद्देश्य भी नहीं होता है। यह मनुष्य की प्रयोजनहीन दशा है।[3]

---

१ 'एक्यूमुलेशन ऑव मेण्टल एनर्जी ऑन सम पर्टिकुलर आइडिया, मेमोरी ऑर लाइन ऑर प्लॉट ऑफ एक्शन'—ए डिक्शनरी ऑव साइकॉलॉजी, जेम्स ड्रेवर, पेंग्विन बुक्स, १९५६, पृष्ठ ३४।

२. 'द इण्डियन कान्सेप्ट ऑव द ब्यूटीफुल', ले० रामस्वामी शास्त्री, पृ० ५।

३. किन्तु, ऐसा कहकर भी अभिनवगुप्त ने सौन्दर्यानुभूति को जीवन-निरपेक्ष नहीं माना है। इसलिए अभिनवगुप्त की उक्त मान्यता पर टिप्पणी देते हुए ग्नोली ने लिखा है—

"In aesthetic experience, however, the feelings and facts of everyday life even if they are transfigured, are always present In respect of its proper and irriducible character, therefore, which distinguishes it from any form of ordinary consciousness, aesthetic experience is not of a discursive order. On the other hand, as regards its content—which is nothing but ordinary life purified and freed from every individual reln

इस विश्लेषण के उपरात भी सौंदर्यानुभूति को समझने के लिए कलानुभूति की परख आवश्यक है। प्रथमत. कलानुभूति एक ऐसी सुखद अनुभूति है, जो सत्य-मिथ्या के विधि-निषेवो से किंचित् ऊपर है। प्रवृत्ति की दृष्टि से यह अनुभूति चयनशील होती है, क्योकि इसका सबध आलम्बन के सम्पूर्ण परिसर से न होकर उसके सवेद्य अश तक सीमित रहता है। अत कलानुभूति वस्तु-विशेष के सवेद्य अशो के चयन पर जीवित रहती है और सुखद, अत , रसात्मक होती है। भारतीय दृष्टि से भी कला का आशु अथवा समीपी मूल्य विशिष्ट सुख (आनन्द) ही माना गया है।

अभिज्ञान की दृष्टि से निर्वैयक्तिकता का अभ्युदय कलानुभूति का सर्वोपरि लक्षण है। सामान्य अनुभूतियो मे मनुष्य अपने व्यक्तित्व और वैयक्तिकता की परिधि से आवद्ध रहता है, किन्तु कलानुभूति के क्षणो मे वह इन सीमाओ से ऊपर उठ जाता है। अत कलानुभूति एक विशिष्ट सवित् है, जो भावक मे सत्वोद्रेक पैदा करती है।

काल की दृष्टि से कलानुभूति क्षणिक होती है और उसका सातत्य उद्दीपन-सापेक्ष होता है। अधिक सुस्थ कथन यह होगा कि कलानुभूति की अवधि विभावो की विभावनशील उपस्थिति के ठहराव पर निर्भर करती है।

पुन निर्वैयक्तिकता से सपृक्त होने के कारण कलानुभूति स्वनिष्ठ और और स्वयसाध्य होती है तथा चरम मूल्य रखती है।[१] साथ ही निर्वैयक्तिक और चरम होने से कलानुभूति मे यथार्थ के साथ आदर्श का अल्पाधिक समावेश अवश्य रहता है। इसीलि एकला सत्य-मिथ्या या यथार्थ-आदर्श की धूप-छाँही मे प्राय निर्विघ्न रहती है।

दूसरी बात यह है कि कलानुभूति की दो मुख्य किस्मे हैं—उपज्ञात और प्रेरित । उपज्ञात कलानुभूति का सबध कारयित्री प्रतिभा से, अत , सहृदय से है। प्रथम कला-सृष्टि के क्षणो की अनुभूति है और द्वितीय कला-दर्शन के क्षणो की। कलानुभूति ही विकास और उपचिति की मात्रा के अनुसार हृदय-संवाद,

---

tionship—aesthetic consciousness is no different from any other form of discursive consciousness Art is not absence of life—every element of life appears in aesthetic experience—but it is life itself, pacified and detached from all passions"

—The Aesthetic Experience According to Abhinav Gupta by *Ramero Gnoli*, Series Orientale Roma, XI, 1956, Introduction, pages XXIV-XXV.

१. 'आर्ट एक्सपिरियेन्स', ले० प्रो० एम० हिरियन्ना, मैसूर काव्यालय पब्लिशर्स, पृ० २७।

तन्मयीभवन्, योग्यता और रसानुभव की अवस्थाओं में बदलती रहती है। दूसरे प्रकार की कलानुभूति भोगीकरण-प्रधान होती है, जबकि उपज्ञात कलानुभूति में भोग से अधिक महत्त्व इन तीन कार्यों का रहता है—अनुभूति का निविडीकरण, अनुभूति का मार्जन और अनुभूति की व्याख्या।

कलानुभूति के और दो प्रकार स्पष्ट हैं—सहज और सकुल। शैशवावस्था और किशोर वय की कलानुभूति अथवा प्रौढ व्यक्ति की भी ('फिक्सेशन' से उद्भूत) शिशु अथवा कैशोर कलानुभूति 'सहज' होती है। इसके विपरीत जो व्यक्ति जितना ही परिपक्व-बुद्धि और आवेष्टनों के प्रति सजग होता है, उसकी कलानुभूति उतनी ही 'सकुल' होती है।

प्रस्तुत अध्याय के सम्पूर्ण विवेचन का निष्कर्ष सक्षेप में इस प्रकार उपस्थित किया जा सकता है—

(क) सौन्दर्य काव्य एव अन्य कलाओं का अपरिहार्य (साथ ही प्रधान) तत्त्व है।

(ख) सौन्दर्य-सृजन और सौन्दर्य-भावन में स्रष्टा और सहृदय की स्वादरुचि का सापेक्षिक महत्त्व है, क्योंकि स्रष्टा (कलाकार) या सहृदय की स्वादरुचि उसके आगम, परिवेश और अभ्यास पर निर्भर करती है।

(ग) कुछ विचारक सौंदर्य को वस्तुनिष्ठ और कुछ विचारक सौंदर्य को आत्मनिष्ठ कहते हैं। किन्तु, इसे निर्विवाद मान लेना चाहिये कि सौंदर्य-बोध का सबध अशत ऐन्द्रिय प्रत्यक्ष से अवश्य है, साथ ही, सौंदर्य के ग्रहण में अन्तःकरण का योग अपेक्षित है।

(घ) सौंदर्य-चेतना का बहुत ही ऋजु सबध हमारे भावात्मक सवेगों के साथ है।

(च) प्रायोगिक सौंदर्यशास्त्र में विवेचित सौंदर्य के साथ काव्य एव अन्य ललितकलाओं का कोई सीधा सबध नहीं है।

(छ) प्राणियों की सौंदर्य-चेतना कुछ दूर तक उनकी शरीर-रचना और इंद्रियों के 'प्रकार' से नियंत्रित रहती है।

(ज) कला-चिंतन की दृष्टि से सौन्दर्य के प्रति भारतीय दृष्टिकोण ही सर्वोत्तम प्रतीत होता है, क्योंकि इसमें आध्यात्मिक वृत्ति, आन्तरिकता और प्रकृति-प्रेम को प्रचुर महत्त्व दिया गया है।

(ट) 'उदात्त' सौंदर्य का चरम रूप है।

(ठ) सौन्दर्यानुभूति का आनन्द से अनिवार्य सबध है।

(ड) सौन्दर्यानुभूति जब सृजन की ओर सक्रिय होती है, तब वह कलानुभूति बन जाती है।

कल्पना
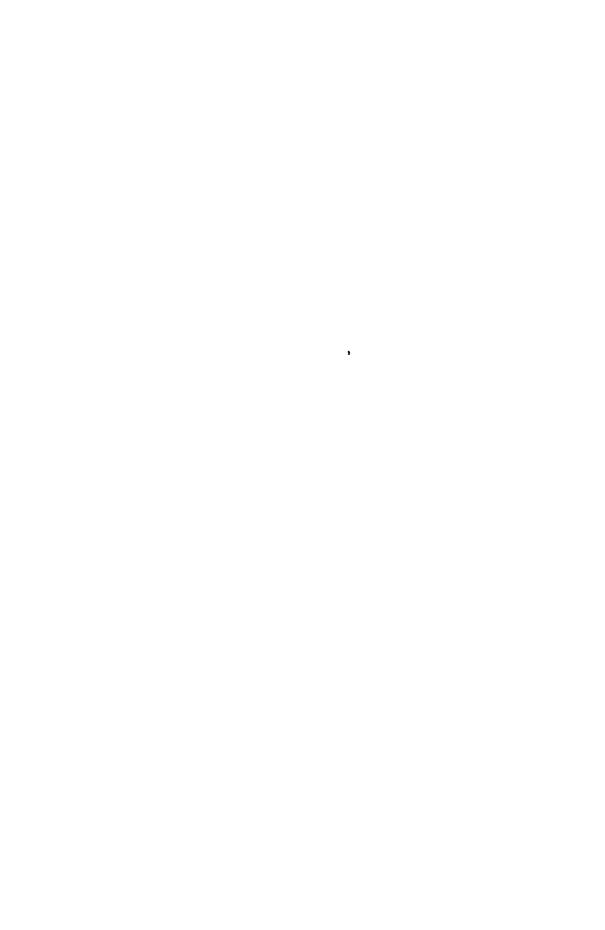
कल्पना

ललित कला के प्रमुख तत्त्वो मे रचना की दृष्टि से कल्पना सर्वोपरि स्थान रखती है। कल्पना ही वह तत्त्व है, जिससे कलाकार को नूतन सृजन और अभिनव रूप-व्यापार-विधान की शक्ति प्राप्त होती है। सक्षेप मे हम कह सकते है कि कल्पना कलाकार की सृजन-शक्ति है। व्युत्पत्ति (√क्लृप्+अन+आ) की दृष्टि से भी कल्पना का शाब्दिक अर्थ 'सृष्टि करना' ही है। 'इमेज' से बना 'इमाजिनेशन' शब्द अग्रेजी मे इसी कल्पना का पर्याय है। नटाल्स स्टैण्डर्ड डिक्शनरी मे 'इमाजिनेशन' की अच्छी परिभाषा की गई है।[1] किन्तु, इसका अन्तिम अश 'एन अनसॉलिड ऑर फैन्सीफुल ओपिनियन' अपने प्रारम्भिक अश 'द स्ट्रिक्ट्ली पोयेटिक ऑर क्रियेटिव फैकल्टी' का विरोधी है। अत इस अर्थापन मे स्वतोव्याघात दोष है। इस गडबडी का एक सबल कारण यह है कि 'इमाजिनेशन' शब्द के प्राय दो अर्थ प्रचलित हैं। लित्रे (Littre) ने इन दो अर्थों को इस प्रकार स्पष्ट किया है—१ "ए फैकल्टी दैट वी हैव ऑव रिकॉलिग विविड्ली, एण्ड ऑव सीइग, सो टु स्पीक, आब्जेक्ट्स दैट आर नो लोगर बिफोर आवर आईज।" २ "पर्टिकुलरली इन लिट्रेचर एण्ड द फाइन आर्ट्स, द फैकल्टी ऑव इन्वेण्टिग, ऑव कन्सीविंग, ज्वायण्ड टु द टेलेण्ट ऑव रेण्डरिंग कन्सेप्शन्स इन ए लाइवली मैनर।" इस दूसरे अर्थ मे प्रयुक्त कल्पना को लित्रे ने 'क्रियेटिव इमाजिनेशन' कहा है।[2] अन्य विचारको ने भी कल्पना के दो अर्थो को स्वीकार किया है। एक अर्थ मे कल्पना वस्तु-सन्निकर्ष के सामान्य प्रभावो को सुरक्षित रखती है और दूसरे अर्थ मे कल्पना वस्तु-सन्निकर्ष के मानसिक प्रभावो से निर्मित बिम्बो को सगृहीत कर उन्हे सहस्रो प्रकार के सयोजन प्रदान करती है। इस दूसरे अर्थ की कल्पना ही कला-वरेण्य होती है। वेब्स्टर ने भी कल्पना का द्विविध अर्थापन किया है।

---

१. "द स्ट्रिक्टली पोयेटिक ऑर क्रियेटिव फैकल्टी ऐज एक्जिबिटेट इन द विविड कन्सेप्शन्स एण्ड कॉम्बिनेशन्स, मोर स्पेशली ऑव द फाइन आर्ट्स; इमेज इन द माइण्ड: आइडिया, कण्ट्राइवेन्स ऑर डिवाइस; एन अनसॉलिड ऑर फैन्सीफुल ओपिनियन।"

२. *De E Littre*, Par A. Beaujean, Dictionnaire De La Langue Francaise, Librairie Hachette Et. C. Paris, 1918, page 571.

उनके अनुसार कल्पना का एक अर्थ यह है कि कल्पना एक चित्रविधायिनी शक्ति है। इस कल्पना-शक्ति के द्वारा व्यक्ति पूर्वप्रत्यक्षित वस्तुओं अथवा पूर्वानुभूत प्रत्ययों या भाव-स्थितियों का पुनर्भावन करता है। दूसरे अर्थ में कल्पना एक पुनरुत्पादक या पुन प्रत्यक्षाधायक शक्ति है, जिसके द्वारा व्यक्ति अपने अनुभव अथवा अनुमान से प्राप्त सामग्रियों का नवीन संयोजन, क्रम या रूप-विधान प्रस्तुत करता है। इसी संकुल कल्पना को, सामान्यत., कला-आलोचना में मूर्तविधायिनी शक्ति या सृजनात्मक शक्ति ('प्लास्टिक ऑर क्रियेटिव पावर') कहते हैं।[1] इस दूसरे अर्थ के आधार पर हम कह सकते हैं कि कल्पना एक ऐसी मानसिक शक्ति है, जिसके द्वारा हम अप्रत्यक्ष वस्तुओं के बिम्बों को प्रत्यक्ष करते हैं और इन बिम्बों को संयोजित, परिवर्तित अथवा परिवर्द्धित कर एक कलात्मक रूप प्रदान करते हैं। अत कला के अन्तर्गत आलम्बन-विधान, उद्दीपन-योजना और व्यापार-विधान में इस कल्पना-शक्ति का प्रचुर महत्त्व है। इस तरह कला-सृष्टि में कल्पना के तीन विशिष्ट कार्य हैं—१. अप्रत्यक्ष वस्तुओं के बिम्बों का मानसिक पुनराह्वान, २ इन बिम्बों का पुन प्रत्यक्ष और ३ इन बिम्बों के समीकरण से कला-सृष्टि में योगदान।

उक्त विवेचन के उपरान्त भी कल्पना की परिभाषा, प्रक्रिया अथवा स्वरूप के विषय में कोई एक दृष्टिकोण सर्वथा पूर्ण नहीं प्रतीत होता है। स्पीयरमैन ने भी सृजनक्षम मन शक्ति अर्थात् कल्पना के समुचित विश्लेषण के लिए अनेक प्रचलित सिद्धान्तों—जैसे बिम्ब-सिद्धान्त, संयोजन-सिद्धान्त, 'गेस्टॉल्ट' सिद्धान्त तथा मनोविश्लेषण-सिद्धान्त—का परीक्षण किया है और निष्कर्ष रूप में यह घोषित किया है कि ये सभी सिद्धान्त सृजनक्षम मन शक्ति अर्थात् कल्पना के राज को स्पष्ट करने में सर्वथा असमर्थ हैं।

आधुनिक सौन्दर्यशास्त्र, मनोविज्ञान और जीवविज्ञान के अध्येताओं ने कल्पना पर विविध दृष्टि से चिन्तन-मनन किया है। यद्यपि ज्ञान की इन सभी शाखाओं के समवेत अध्ययन से कल्पना पर कुछ नई रोशनी पड़ी है तथा उनके कई नए पूर्व अनुद्घाटित आयाम हमारे सामने प्रकट हुए हैं, तथापि मनोविज्ञान अथवा जीवविज्ञान की 'कल्पना' हमारी विवेच्य 'कल्पना' से भिन्न है। अत विवेच्य कल्पना, अर्थात्, सौन्दर्यशास्त्र की कल्पना को स्पष्ट करने के लिए हम शेष दो विषयों की कल्पनाओं पर भी चलदृष्टि से विचार करेंगे।

मनोविज्ञान की कल्पना कला-साहित्य की कल्पना से भिन्न है। मनोविज्ञान की कल्पना मे पात्र, स्थान, आसग और गुण-निबन्धन का चरम महत्त्व रहता है। जैसे, पर्वत के आसग से स्वर्ण-लुब्ध होने के बाद स्वर्ण-पर्वत अथवा 'एल्डोरेडो' की कल्पना कर लेना मनोविज्ञान की विवेच्य कल्पना है। इस तरह मनोवैज्ञानिको के अनुसार कल्पना के मुख्य भेद इस प्रकार हैं—दृष्टि-कल्पना, ध्वनि-कल्पना, स्पर्श-कल्पना, घ्राण-कल्पना, क्रिया-कल्पना और रस-कल्पना।[1]

दृष्टि-कल्पना का सबसे निकट सबध स्मृति के साथ है। इस कल्पना मे प्रत्यभिज्ञान की प्रचुर क्षमता होती है। कला का वर्ण-बोध, रूप-परिज्ञान और मूर्तविधान बहुत अशो मे इसी कल्पना पर निर्भर रहते है। इसी प्रकार ध्वनि-कल्पना श्रुत स्वर-लहरी को आनुपूर्वी रूप मे दोहराने मे समर्थ होती है। इसमे एक प्रकार की सरक्षण-शक्ति रहती है। सगीत कला मे इस कल्पना से पुष्कल सहायता ली जाती है। यो तो काव्य-कला के ध्वनि-प्रतीक भी इसी कल्पना के उपजीवी होते है। स्पर्श-कल्पना के सहारे स्पार्शिक बिम्बो का विधान सरल हो जाता है। अधिक मूर्त आधारवाली कलाओ के कलाकार इस कल्पना से उपादानो की काट-छाँट और उनके अभिज्ञान मे अधिक काम लेते है। इसी तरह क्रिया-कल्पना कला के उन निदर्शनो मे प्रचुर महत्त्व रखती है, जिनमे स्मृति अथवा सस्मरण के सहारे बिम्ब-विधान प्रस्तुत किया जाता है। साराश यह है कि अतीत से सबधित कलात्मक सन्दर्भ क्रिया-कल्पना से सहायता लेते हैं, क्योंकि इनमे आश्रय और आलम्बन के पारस्परिक व्यवहार, क्रिया और प्रतिक्रिया को स्मृति के सहारे दोहराया जाता है। इसलिए क्रिया-कल्पना पर निर्भर बिम्ब-विधान प्राय गतिशील होते है। उपर्युक्त छह कल्पनाओ मे घ्राण-कल्पना का भी कम महत्त्व नही है। कट्टर प्रतीकवादियो न कला मे जिस 'पर्फ्यूम' को आवश्यक-सा माना, वह गध-बोध इसी कल्पना पर निर्भर है। हमारे सस्कृत कवियो की भी घ्राण-कल्पना बहुत तीव्र थी। हल के नासे से सद्य कर्षित भूमि की सोधी गध और 'आपाढसिक्त क्षितिवाष्प

---

१. मनोविज्ञान की दृष्टि से कल्पना पर विचार करनेवाले चिन्तकों में सार्त्र का नाम उल्लेखनीय महत्त्व का अधिकारी है। सार्त्र ने अपने विवेच्य विषय को चार खण्डों में विभाजित कर इमेज, पोर्ट्रेट, साइन, 'सिम्बल' इत्यादि पर गम्भीर विमर्श करते हुए यह प्रतिपादित किया है कि कल्पना और चैतन्य या बोध में अविनाभाव सम्बन्ध है। चैतन्य या बोध के बिना कल्पना का आविर्भाव नहीं हो सकता और कल्पना के बिना चैतन्य या बोध की स्थिति ही सम्भव नहीं हो सकती। अत जहां चैतन्य होगा, वहां कल्पना अवश्य रहेगी और जहाँ कल्पना होगी, वहा चैतन्य की पूर्वस्थिति अनिवार्य है।—Sartre, The Psychology of Imagination London, page 211

गन्ध:' को वे कला मे लाना न भूल सके थे। इसी प्रकार रस-कल्पना से भी कलाकार अप्रस्तुत योजना मे गुणमूलक साम्य उपस्थित करने के लिए भोग्य वस्तुओं के स्वाद-बोध मे काम लेता है। इन्द्रिय-बोध पर निर्भर इन कल्पना-प्रकारो के अलावा मनोविज्ञान सृजनात्मक पक्ष की दृष्टि से कल्पना के मुख्य तीन भेद मानता है—निष्क्रिय तथा सक्रिय कल्पना, धारणात्मक तथा रचनात्मक कल्पना और बौद्धिक, व्यावहारिक तथा सौन्दर्यपरक कल्पना। इन सभी प्रकार की कल्पनाओं मे ये पाँच गुण मात्रा-भेद से उपस्थित रहते है—सार-ग्रहण, समाहार, सग्रह, स्मरण तथा समजस सयोजन।

मनोवैज्ञानिको का कहना है कि भिन्न-भिन्न अवसरो पर कल्पना की क्रियाएँ या उपक्रियाएँ परिवर्तित होती रहती है, इसलिए कल्पना का स्वरूप बहुत सकुल होता है। मनोविज्ञान की दृष्टि मे कल्पना की प्रमुख उपक्रियाएँ इस प्रकार है—विस्तार, लघिमा, परस्थापन, सयोगीकरण और पृथक्करण। हम जहाँ कल्पना मे किसी वस्तु को उसकी वास्तविकता से अधिक विस्तार देते है, वहाँ विस्तार की क्रिया मिलती है। जैसे—रामकाव्य मे सुरसा राक्षसी का मुख-विस्तार या कुम्भकर्ण की योजनविनिन्दक मूँछो की लम्बाई इस विस्तार के उदाहरण है। आधुनिक काव्य मे भी अश्रु-सागर, रक्त-सरिता या किसी की आँखो के आकाश मे कवि के अनजान खग का खो जाना, इत्यादि जैसी उक्तियो मे हमे कल्पना के विस्तार का ही कमाल मिलता है। अत हम कह सकते है कि कला-सृजन के क्षेत्र मे कल्पना की इस विस्तार-शक्ति से कलाकार को अतिशयगर्भ अप्रस्तुत-योजना उपस्थित करने मे सहायता मिलती है। ठीक इसके विपरीत 'लघिमा' की उपक्रिया मे कल्पित वस्तु को खूब घटाकर उपस्थित करने से विगत अनुभूति को नया रूप मिल जाता है। इस प्रकार की कल्पना दूर की कौडी लाने अथवा ऊहात्मक उक्तियो को प्रस्तुत करने मे बहुत सहायक होती है। 'घटप्रतिभटस्तनी' नायिकाओ की मिट-सी कमर या मुष्टि-मेय कटि के वर्णन मे कवियो ने प्राय इसी लघिमा का सहारा लिया है। बिहारी के कुछ दोहे तो इस कल्पना का पार्यान्तिक उदाहरण प्रस्तुत करते है—

करी विरह ऐसी तऊ, गैल न छाड़त नीचु ।
दीने हू चसमा चखनि, चाहे लहै न मीचु ॥[1]

अथवा

लगी अनलगी सी जु विधि, करी खरी कटि छीन ।
किये मनो वाही कसरि कुच नितम्ब अति पीन ॥[2]

तदनन्तर, परस्थापन (सब्स्टीच्यूशन) की उपक्रिया से गुजरने वाली कल्पना मे प्राप्त अनुभूतियो अथवा उनके आलम्बनो मे गुण-विपर्यय किया जाता है या उन पर किसी नवीन धर्म का आरोप किया जाता है। कल्पना की इस उपक्रिया से अधिकतर रूपको की योजना की जाती है। कमलनयन, चन्द्रमुख, निर्झर-केश इत्यादि जैसी कल्पनाओ मे यही परस्थापन विद्यमान रहता है। सयोगी-करण-प्रधान कल्पनाओ के प्रयोग से कलाकृति मे औत्सुक्य, विस्मय और औदात्य जगाने की शक्ति आती है। इस कल्पना की प्रचुरता हमे विशेपकर मूर्त्तिकला (मुख्यत देवताओ की कल्पित मूर्त्तियो) मे मिलती है, जहाँ विविध प्रकार की विशेषताओ, शक्तियो एव शारीरिक अवयवो को एक साथ मिला दिया जाता है। नरसिंह, नागकन्या, अर्द्धनारीश्वर, टायरेसिया स्फिक्स, इत्यादि की कल्पना मे यह सयोगीकरण की उपक्रिया ही विद्यमान है। ठीक इस उपक्रिया के विपरीत कल्पना मे पृथक्करण की भी प्रवृत्ति पाई जाती है, जिसके अनुसार अनेक विगत अनुभूतियो अथवा उनके आलम्बनो को अनेक भागो मे बाँटकर कुछ को विलुप्त कर दिया जाता है और कुछ भागो मे नवीन विशिष्ट गुणो का समावेश कर दिया जाता है। इस प्रकार की कल्पना का प्रयोग पौराणिक कथाओ अथवा तिलस्मी और ऐयारी की कथाओ मे अधिक किया जाता है। कबन्ध, बर्बरीक या टैटेशिया की कल्पना को हम इसी कोटि मे गिन सकते हैं।

कुछ मनोवैज्ञानिको ने कल्पना का भेद-निरूपण करते समय कल्पना के दो प्रमुख प्रकारो—पुनर्निमायक (रिप्रोडक्टिव) कल्पना और रचनात्मक (क्रियेटिव) कल्पना— का उल्लेख किया है। पुनर्निमायक कल्पना मे विगत घटनाओं अथवा प्राप्त अनुभूतियो को स्मृति से उद्‌बुद्ध कर मानसिक बिम्बो मे बदला जाता है और उनका कलात्मक प्रेषण किया जाता है। यह कल्पना अधिकतर स्मृति निर्भर होती है। वर्ड्‌स्वर्थ की 'डैफोडिल्स' विषयक कविता पुनर्निमायक कल्पना का एक सुन्दर उदाहरण है। तदनन्तर, रचनात्मक कल्पना पूर्वानुभूत

१. बिहारी-बोधिनी, लाला भगवानदीन, साहित्य-सेवा-सदन, बनारस, षष्ठ सस्करण, पृष्ठ ११८।

२. बिहारी-बोधिनी, टीकाकार लाला भगवानदीन, साहित्य-सेवा-सदन, बनारस, षष्ठ सस्करण, पृष्ठ ४७।

वस्तुओं का नवीन रूपों में सृजन करती है। यह कल्पना अपेक्षाकृत अधिक कलावरेण्य होती है। इसी कल्पना को हम नूतन निर्माणक्षम नवनवोन्मेषशालिनी प्रतिभा कह सकते हैं। विश्लेषण की दृष्टि से इसके दो उपभेद किये जाते हैं—नन्दतिक रचनात्मक कल्पना (एस्थेटिक क्रियेटिव इमाजिनेशन) और व्यावहारिक रचनात्मक कल्पना (प्रैक्टिकल क्रियेटिव इमाजिनेशन)। नन्दतिक रचनात्मक कल्पना के द्वारा कला-जगत् में नयी कृतियों, प्रयुक्तियों और ललित प्रयुक्तियों का प्रसार होता है। यह नन्दनिक रचनात्मक कल्पना ही सौन्दर्यशास्त्र का विवेच्य विषय है, क्योंकि व्यावहारिक रचनात्मक कल्पना का क्षेत्र दैनन्दिन शिष्टाचार या वैज्ञानिक-प्राविधिक अन्वेषणों का क्षेत्र है। इसलिए कला-चर्चा में कल्पना से नन्दतिक रचनात्मक कल्पना का ही आशय ग्रहण किया जाता है, जिसमें कलाकार अपनी अनुभूतियों में आवश्यक चयन और वर्जन करके सहृदय की प्रत्यंता को आकृष्ट करने वाले बिम्बों या अप्रस्तुतों का विधान करता है। कैथेरिन पैट्रिक ने कुछ प्रयोगों के द्वारा इस कल्पना की चार प्रमुख अवस्थाओं का निरूपण किया है—उपक्रमण (प्रिपेरेशन), गर्भीकरण (इन्क्यूबेशन), विकिरण (इल्यूमिनेशन) और आवृत्ति या परीक्षण। कैथेरिन पैट्रिक के अनुसार प्रत्येक कलाकार को किसी भी कलाकृति का सृजन करते समय कल्पना की उक्त अवस्थाओं से गुजरना पड़ता है।

तनिक विस्तार में हम अधुनातन मनोवैज्ञानिकों के द्वारा कल्पना पर किये गए विचार को समझने की चेष्टा करेंगे। अधुनातन मनोवैज्ञानिकों, उदाहरणार्थ फ्रैंक बैरोन ने रचनात्मक कल्पना का मौलिकता के साथ घनिष्ठ संबंध माना है।[1] जहाँ रचनात्मक कल्पना रहती है, वहाँ मौलिकता भी रहती है और जहाँ मौलिकता रहती है, वहाँ रचनात्मक कल्पना अवश्य रहती है, अर्थात् रचनात्मक कल्पना के बिना मौलिकता की धारणा संभव नहीं है। वस्तुत भावना के क्षेत्र में जो कल्पना है, चिन्तन के क्षेत्र में वही मौलिकता है। जब कल्पना भाव के क्षेत्र से निकलकर चिन्तन-जगत् में प्रविष्ट होती है, तब वह मौलिकता बन जाती है। इस तरह कल्पना और मौलिकता में मात्र अधिकरण-भेद है। अत इस रचनात्मक कल्पना की आवश्यकता कलाकार और वैज्ञानिक—दोनों को पड़ती है। मनोवैज्ञानिकों के अनुसार कल्पनाशील और मौलिक व्यक्ति अव्यवस्था और संकुलता को अधिक पसन्द करता है, क्योंकि अव्यवस्थित और संकुल वस्तुओं, रेखाओं, रंगों अथवा कलात्मक उपादानों को ही एक नवीन संयोजन प्रदान कर शोभात्मक बनाया जा सकता है। अत कल्पनाशील व्यक्ति उस सतही

---

१. साइन्टिफिक अमेरिकन, वाल्यूम १९९, नम्बर ३, सितम्बर १९५८ में फ्रैंक बैरोन-लिखित 'द साइकोलॉजी ऑफ इमैजिनेशन' शीर्षक लेख।

असन्तुलन और अपूर्णता को अधिक पसन्द करता है, जिसके अन्तराल मे अखण्ड पूर्णता और सन्तुलन छिपे रहते है। फलस्वरूप, कल्पनाशील कलाकार प्राय मौलिक चिन्तक की तरह स्वतत्र निर्णयवाला व्यक्ति होता है।[1] मनोवैज्ञानिक दृष्टि मे कल्पनाशील व्यक्तियो मे कुछ विशेष लक्षण पाए जाते हैं। जैसे— १ इनमे सामान्य जनो से अधिक पर्यवेक्षण-प्रियता रहती है, २ इनमे प्रत्येक वस्तु, विभावन अथवा धारणा के किसी एक खण्ड-सत्य को अन्य की अपेक्षा ज्वलन्त रूप मे उभारकर रखने की प्रवृत्ति होती है, ३ इन्हे अनदेखे को देखने और उसके अभिज्ञान को प्रस्तुत करने मे विशेष आनन्द मिलता है, ४. इनकी वृत्तियो मे स्वार्थ की सद्य तुष्टि के बदले सास्कृतिक शील की ओर विशेष झुकाव रहता है, ५ इनके पास अनेक विचारो को एक साथ धारण करने और उनके तुलनात्मक अवगाहन से किसी वृहत् समन्वय को पाने की विशेष शक्ति रहती है, ६ इन्हे अचेतन या अवचेतन मे दबी हुई कुठाओ और दमित वासनाओ को पुचकारने मे विशेष आनन्द मिलता है, इत्यादि। इस प्रकार मनोवैज्ञानिको ने जिस दृष्टि से कल्पना और कल्पनाशील व्यक्तियो पर प्रयोग-समर्थित विचार किया है, वह सौन्दर्यशास्त्रीय अध्ययन के लिए आशिक उपयोग ही रखता है।

मनोवैज्ञानिको की तरह जीववैज्ञानिको और शरीरशास्त्रियो ने कल्पना पर विचार करने की चेष्टा की है, क्योकि विज्ञान-जगत् मे भी कल्पना का विशिष्ट महत्त्व है। बात यह है कि कला और विज्ञान—दोनो मे बुद्धि और कल्पना की आवश्यकता है। जिस तरह कल्पना का धनी, किन्तु बुद्धि का दरिद्र कलाकार प्रथम पक्ति का अधिकारी नही हो सकता, उसी तरह बुद्धि का समृद्ध, किन्तु कल्पना का अकिंचन वैज्ञानिक भी प्रथम कोटि मे गण्य नही बन सकता। इसीलिए जिस युग मे कल्पना और बुद्धि का समन्वय रहता है, उसी मे महान् कलाकार या महान् वैज्ञानिक को पैदा करने की क्षमता रहती है। कलाकार और वैज्ञानिक को इसलिए भी कल्पना की आवश्यकता होती है कि कल्पना मे अदृश्य को दृश्य बनाने की एक अद्भुत शक्ति रहती है। कला मे कल्पना के विनियोग से अप्रस्तुतो तथा नूतन वस्तु-व्यापार-विधानो का निर्माण होता है और विज्ञान मे कल्पना के द्वारा आनुमानिक पूर्वमान्यताओ (हाइपोथेसिस) और नवान्वेषण (इन्नोवेशन) का अवतरण होता है।

---

१. प्रो० सोलोमन आश (Solomon Asch) ने इस स्थापना को अनेक मनोवैज्ञानिक प्रयोगों के द्वारा प्रमाणित किया है। सोलोमन आश के ये प्रयोग 'आश एक्सपेरिमेण्ट' के नाम से मनोविज्ञान-जगत् में प्रसिद्ध हैं। उसी 'आश प्रयोग' को और भी नये तरीकों पर आगे बढाकर सदर्न कैलिफोर्निया विश्वविद्यालय के जे० पी० गिलफोर्ड ने भी यह सिद्ध किया है कि कल्पनाशीलता अथवा मौलिक चिन्तन का स्वतन्त्र निर्णय (इण्डिपेण्डेण्ट जजमेंण्ट) के साथ घनिष्ठ सबध रहता है।

जीववैज्ञानिकों और शरीरशास्त्रियों ने कल्पना को मस्तिष्क से ही सबद्ध माना है। जैसे, जॉन सी० इक्लेस की मान्यता है कि रचनात्मक कल्पना मस्तिष्क की क्रिया से उत्पन्न होती है। इनके अनुसार कल्पना मानसिक अनुभूतियों की वह सर्वोपरि सतह है, जो ऐन्द्रिय अनुभूति, मानसिक बिम्ब, स्मृति और मनोविभ्रम की अनेक निम्नवर्तिनी सतहों पर निर्भर रहती है। अतः मस्तिष्क की क्रिया से सबद्ध होने के कारण कल्पना का अनिवार्य सबध प्रमस्तिष्क वाह्यक (सेरेब्रल कोर्टेक्स) के साथ रहता है। इस वाह्यक (कोर्टेक्स) के अन्तर्गत बहुत से चेताकोश (न्यूरोन्स) रहते हैं और इनकी अनेक परतें होती हैं। ये सबद्ध चेताकोश (न्यूरोन्स) बहुत ही सकुल होते हैं और इनकी सख्या भी शताधिक होती है। किन्तु इन चेताकोशों में इतनी घनिष्ठता रहती है कि इनसे बने वाह्यक (कोर्टेक्स) को हम, अन्ततोगत्वा, अन्तर्ग्रथित क्रिया की एक इकाई कह सकते हैं। सारांश यह है कि ऐसे चेताकोशों और वाह्यकों से बना हुआ मानव-मस्तिष्क मनुष्य द्वारा निर्मित किसी भी मशीन (विद्युतगणक जैसे यत्र) से अधिक सकुल होता है। यह उलझन इस बात से और भी बढ़ जाती है कि वाह्यक में ग्रथित रहने वाले अनेक चेताकोशों में से प्रत्येक चेताकोश अपने-आपमें स्वतत्र एक जीवित इकाई है। यह चेताकोश केन्द्र-शरीर से सबद्ध अनेक चेताकोशीय तन्तुओं (डेण्ड्राइट फाइबर्स) के सहारे अन्य अनेक कोशों (सेल्स) से प्रेरणा (इम्पल्स) प्राप्त करता है और प्राप्त प्रेरणाओं को अन्य कोशों तक वैसे ही कृश तन्तुओं या लागूलों (स्लैण्डर फाइबर्स या एक्सान—Axon) के सहारे प्रेषित करता है। इस तरह कोश पृथक् रहकर भी परस्पर सबद्ध रहते हैं।[1] अर्थात्, उन कोशों में निश्चितरूपेण पारस्परिक

---

1 "Connections between cells are established by the synapses, specialized junctions, where the cell-membranes are separated by cleft only 200 angstrom units across At these synapses the transmitting cell secrets highly specific chemical substance whose high speed reaction carries the signal from one cell to the next the neuron is characteristically an 'all-or-nothing' relay. An impulse arriving across a synapse produces a very small and transient electrical effect, equivalent to 001 volt and lasting 01 to 02 second It requires an excitation of about 10 times this voltage to cause the neuron to fire its discharge" 'The Physiology of Imagination' by *John C. Eccles*, Scientific American, September 1958, page 141

सगति और सामाजिकता रहती है। अत इनमे प्रेरणा की लयात्मक तरगो का प्रतिध्वनन चलता रहता है। वाह्यक के अन्तर्गत पडनेवाला एक चेताकोश केवल समीपी चेताकोश को ही अपनी प्रेरणा से तरगित नही करता, बल्कि बाह्यक के अन्तर्गत अन्य दूरवर्त्ती चेताकोशो को भी वह समान रूप से तरगित करता है। इस तरह कोई भी हल्की-से-हल्की प्रेरणा सम्पूर्ण मस्तिष्क को आन्दोलित कर देती है। वैज्ञानिको ने वैद्युत-मस्तिष्कीय बिन्दुरेख (इलेक्ट्रो एन्सेफेलोग्राफी) के सहारे इसकी सचाई का परीक्षण किया है। इन तथ्यो के आधार पर कल्पना की जीववैज्ञानिक व्याख्या करने वाले विद्वानो की धारणा है कि साधारण ऐन्द्रिय अनुभूनियाँ ही कल्पना के लिए कच्चा माल तैयार करती हैं, क्योंकि प्रत्येक इन्द्रिय अपनी प्रतिक्रिया, प्रत्यर्थता अथवा अनुभूति का सवाद वाह्यक के पास, अत मस्तिष्क के पास भेजा करती है।

मस्तिष्क मे एक ऐसी शक्ति है, जिसके सहारे वह पूर्वानुभूत ऐन्द्रिय सवेदनो और अनुभूतियो को फिर से बुला लेता है, जिसे हम सामान्यत. 'स्मृति' कहते हैं। अनुभूतियो के इस पुनरावर्त्तन अथवा पुनराह्वान (अर्थात् स्मृति की एक जैव पद्धति होती है, जिसके सहारे हम मानसिक चित्रो (इमेज) को पाते हैं, जो कल्पना का सरलतम धरातल है। इस तरह हम कह सकते हैं कि स्मृति किसी-न-किसी रूप मे बाह्यक के पूर्वाघात-विशेष पर निर्भर करती है। यहाँ यह भी स्मरणीय है कि प्रत्येक पूर्वानुभूत इन्द्रियानुभूति कुछ काल के वाद स्मृति के क्षेत्र मे नही आ सकती। प्रायोगिक परीक्षण से यह सिद्ध किया गया है कि वही इन्द्रियानुभूति स्मृत हो सकती है, जिसका मस्तिष्कीय आघात या झटका या वैद्युत संक्षोभ (सेरेब्रल ट्रॉमा ऑर कान्फ्रूसन ऑर इलैक्ट्रिक शॉक) कम-से-कम बीस मिनट तक ठहरता हो। जिस तरह स्मृति की भारतीय व्याख्या मे यह माना जाता है कि स्मृति के लिए सस्कारो को उद्‌बुद्ध करनेवाली परिस्थितियाँ अथवा वस्तुओ की आवश्यकता है, उसी तरह ये वैज्ञानिक भी मानते हैं कि स्मृति को जगाने के लिए बाह्यक पर अंकित प्रभावो या सस्कार-लेखो (कोर्टैक्स एन्ग्राम्स) को आन्दोलित अथवा उद्‌बुद्ध करने की जरूरत होती है। इसलिए एक स्मृति को जगाने मे सहस्रो चेताकोशो को एक साथ सक्रिय होना पडता है। इन्ही चेताकोशो की सन्तुलित, किन्तु घनी सक्रियता के कारण कुछ स्मृतियाँ इतनी बलिष्ठ हो जाती हैं कि वे जीवन-सगिनी बन जाती हैं।

उक्त वैज्ञानिको के अनुसार कल्पना, स्मृति पर निर्भर रहने के कारण, मानव-चित्रो की पुन अनुभूति है। इन मानस-चित्रो मे साहचर्य और सहगामिता का एक विशिष्ट गुण रहता है। अत ये मानस-चित्र विवर्त्तशील होने के साथ ही उद्‌बोधात्मक (इवोकेटिव) होते हैं, अर्थात्, एक मानस-चित्र दूसरे मानस-चित्र को पैदा करता है, फिर दूसरा मानस-चित्र तीसरे को ··एवं

प्रकारेण यह सृजन का चक्र चलायमान हो जाता है। इसी मानसिक बिम्ब-विधान का एक विशिष्ट रूप कल्पना है। यह कल्पना मस्तिष्क को एक ऐसा प्रकाश देती है, जिसमे विज्ञान के क्षेत्र म आनुमानिक पूर्वमान्यता (हाइपोथिसिस) की उपलब्धि होती है। इस प्रकाश अथवा कल्पना मे एक आकस्मिकता रहती है, जिसका प्रमाण हम डार्विन के विकासवाद-सिद्धान्त या हैमिल्टन के समीकरणो (इक्वेशन्स) की स्थापना मे पाते हैं। इस सृजन-चमत्कार या कल्पना को भी अचेतन अथवा उपचेतन से चेतन मन तक पहुंचाना बाह्यक पर अंकित प्रभावो या संस्कार-लेखो का ही कार्य है। जब बाह्यक पर अंकित संस्कार-लेख कल्पना को चेतन मन तक पहुँचा देते हैं, तब हम उस कल्पना का विचार-दृष्टि से मूल्यांकन करते हैं, उसके औचित्य-अनौचित्य का विचार करते ह। जिस तरह काव्य के क्षेत्र मे हम बांझ कल्पना को नही, उस कल्पना को महत्त्व देते हैं, जिसका आरोहण बिम्बविधान तक हो सके, उसी तरह विज्ञान के क्षेत्र मे भी वह रचनात्मक कल्पना फलद और सफल मानी जाती है, जो प्रयोग के निकष पर खरी उतरनेवाली आनुमानिक पूर्वमान्यताओ का आविर्भाव कर सके।

जीववैज्ञानिको ने इस पर भी विचार किया है कि किस तरह का मस्तिष्क कल्पना के लिए विशेष समर्थ होता है। इनकी धारणा यह है कि जिस मस्तिष्कधारी के पास चेताकोशो की पर्याप्त संख्या रहती है, साथ ही जिसके सभी चेताकोश चेतोपागमिक (साइनैप्टिक) योजना-सूत्रो मे परस्पर सम्यक्-रूपेण सुसबद्ध रहते है, उसी के पास रचनात्मक कल्पना करने की शक्ति रहती है। किन्तु चेताकोशो की संख्या और सक्रियता के आधार पर किसी मस्तिष्क को कल्पनाशील घोषित करना निरापद नही है, क्योकि चिम्पनजी के मस्तिष्क मे भी मनुष्य के मस्तिष्क की तरह असंख्य प्रतिशत चेताकोश होते है, किन्तु उसमें रचनात्मक कल्पना का अत्यन्ताभाव रहता है। तथापि जीववैज्ञानिको की धारणा है कि मानव क्या, मानवेतर प्राणियो मे भी कल्पना की शक्ति रहती है और उनका मानस भी कल्पना की तरगो से दोलायित होता है।[1]

इन वैज्ञानिको की तरह कुछ अन्य विद्वानो ने भी अर्द्धवैज्ञानिक पद्धति से कल्पना पर विचार किया है। यह विचार-पद्धति एक विचित्र सम्मिश्रण है, जिसमे तत्त्ववाद और पदार्थविज्ञान को मिला दिया गया है। इस कोटि के विचारको मे आर्थर लॉयेल का एक विशिष्ट स्थान है। इन्होने भारतीय तत्त्ववाद और पाश्चात्य पदार्थ-विज्ञान की तत्कालीन नव्यतम मान्यताओ के सामान्य आधार पर कल्पना-सम्बन्धी विचारणाओ के लिए एक नूतन क्षितिज

[1] Charles Darwin, 'The Descent of Man', London, 1936, page 82.

उपस्थित किया।[1] कल्पना के सम्बन्ध मे इनकी दो मुख्य स्थापनाएँ हैं। एक यह कि कल्पना मानसिक बिम्ब-विधान की क्षमता है। यह मानसिक बिम्ब-विधान की क्षमता केवल कला-सृजन के लिए ही महत्त्वपूर्ण नही है, बल्कि दार्शनिक और बौद्धिक चिन्तन के लिए भी, अर्थात् मानसिक बिम्ब-विधान की क्षमता (कल्पना) न केवल कवियो और कलाकारो के लिए अपेक्षित है, बल्कि दार्शनिको और चिन्तकों के लिए भी।

आर्थर लॉवेल की दूसरी मान्यता यह है कि कल्पना ईथर की त्वरा का एक विशिष्ट रूप है। कारण, ईथर ही वह तत्त्व है, जिससे कल्पना-प्रसूत बिम्ब निर्मित होते हैं। **आर्थर लॉवेल** ने इस ईथर को 'आकल्ट साइन्स' की प्राचीन शब्दावली मे 'आस्ट्रल लाइट' या आकाश भी कहा है। **लॉवेल** की तरह **इमर्सन** ने भी मनोबिम्बो को ईथर-निर्मित (लिटरली मेड आॅव द फाइन सब्स्टान्स आॅव द ईथर) माना है। किन्तु **आर्थर लॉविल** और **इमर्सन** की यह स्थापना अभी निश्चित और सर्वसम्मत नही मानी जा सकती; कारण, आधुनिक विज्ञान ने (भले ही) 'कॉस्मिक ईथर' के अस्तित्व को स्वीकार कर लिया है, किन्तु उस ईथर से मनोबिम्बो का क्या सम्बन्ध है—यह अद्यावधि विचारणीय है तथा नवीन और व्यवस्थित शोध की अपेक्षा करता है। **आर्थर लॉवेल** के विरुद्ध इस शका को तनिक विस्तार मे समझने की आवश्यकता है।

पदार्थ विज्ञान मे ईथर पर व्यवस्थित विचारणा का प्रारम्भ 'प्रकाश' (लाइट) के सिद्धान्तो के निरूपण के साथ हुआ। पहले **न्यूटन** ने 'एमीसन थ्योरी' की स्थापना की, जिसके अनुसार प्रकाश के कण अत्यन्त तीव्रता के साथ सरल रेखा मे निरन्तर आगे बढते हैं। **न्यूटन** के अनुसार इसी प्रकार प्रकाश का प्रसार होता है। किन्तु **हाइजेन्स** ने एक दूसरे सिद्धान्त की स्थापना की, जो 'अनड्युलेटरी थ्योरी आॅव लाइट' अथवा 'वेम थ्योरी आॅव लाइट' के नाम से प्रसिद्ध है। इस सिद्धान्त के अनुसार प्रकाश तरगो मे बढता है और उसके बढने का माध्यम है 'ईथर'। यहाँ यह स्मरणीय है कि **हाइजेन्स** ने ही सर्वप्रथम ईथर की धारणा को पदार्थ-विज्ञान के क्षेत्र मे सुव्यवस्थित ढग से उपस्थित किया। किन्तु **न्यूटन** की सर्वग्रासी सर्वप्रियता के कारण **हाइजेन्स** का उक्त सिद्धान्त कम प्रचारित हो सका। तथापि परवर्ती प्रयोगो ने **न्यूटन** के

---

१. 'इमाजिनेशन एण्ड इट्स वण्डर्स,' ले० आर्थर लॉवेल, निकोल्स एण्ड को०, २३ आॅक्सफोर्ड स्ट्रीट, लन्दन, १८९९ ई०।

२. Imagination And Its Wonder by *Arther Lovell*, Nichols and Co., London, 1899, Page 16.

सिद्धान्त को अपूर्ण और भ्रान्त सिद्ध कर दिया। फलस्वरूप, वैज्ञानिकों की दृष्टि पुनः हाइजेन्स के प्रकाश-सम्बन्धी तरंग-सिद्धान्त की ओर गई और ईथर पर बहुत ही व्यवस्थित विचार-विमर्श का प्रारम्भ हुआ। हाइजेन्स की ईथर वाली धारणा को (किंचित मतभेदों और संशोधनों के साथ) तूल देकर विचार करने वाले वैज्ञानिकों में यंग और फ्रैनेल उल्लेखनीय महत्त्व के अधिकारी हैं। तत्पश्चात् मैक्सवेल[1] और हर्ज ने ईथर को मानते हुए हाइजेन्स के तरंग-सिद्धान्त का इस अर्थ में विरोध किया कि तरंग यान्त्रिक नहीं हैं, वह वैद्युतिक और चुम्बकीय हुआ करती है। इस प्रकार मैक्सवेल और हर्ज के बाद विज्ञान-जगत् में ईथर का महत्त्व बहुत विघटित हो गया। कारण, अन्य प्रमुख वैज्ञानिकों—माइकेलसन हाइजेनबर्ग, आइन्स्टाइन, लुइडीब्रोई इत्यादि—ने ईथर को गौण दृष्टि से देखा। अतः अत्याधुनिक काल में ईथर की धारणा गौण नहीं, उपेक्षित हो गई है। आज के वैज्ञानिक ईथर को 'सुपरफ्लुअस' मानते हैं और एतावत्व-प्रिय विज्ञान में 'सुपरफ्लुअस' का क्या महत्त्व हो सकता है—यह सर्वविदित है। इसलिए हम आधुनिक विज्ञान की अधुनातन मान्यताओं के आलोक में आर्थर लॉवेल की कल्पना-सम्बन्धी ईथरवादी धारणा को अधिक समीचीन और पूर्णतः वैज्ञानिक नहीं मान सकते हैं।

कल्पना की तरह ही सौन्दर्यशास्त्र के अन्य तत्त्वों—संवेग, सौंदर्य, इत्यादि पर उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध के सौन्दर्यशास्त्रियों ने भी शरीर-विज्ञान तथा पदार्थ-विज्ञान की दृष्टि से सोचने का प्रयत्न किया था, जिसके समवेत रूप को हम एक प्रकार का 'फिजियोलाजिकल एस्थेटिक्स' अथवा 'फिजिकल एस्थेटिक्स' (दैहिक सौंदर्यशास्त्र या भौतिक सौंदर्यशास्त्र) कह सकते हैं।[2]

---

१ मैक्सवेल के सिद्धान्त की आलोचनात्मक जानकारी के लिए द्रष्टव्य—आपेक्षिकता का अभिप्राय, मूल लेखक—डॉ० अलबर्ट आइन्स्टाइन, अनुवादक—डॉ० देवीराम रघुनाथ सवालकर तथा डॉ० निहालकरण सेठी, प्रकाशन शाखा, उत्तर प्रदेश, १९६०, पृष्ठ संख्या—२६–२७, ३८, ४७, ९३, १०१, १२८, १३३, १५१।

२ सौंदर्यशास्त्र के क्षेत्र में शरीरविज्ञान-सम्बन्धी दृष्टिकोण की चर्चा करनेवाले भारतीय विद्वानों में अवनीन्द्रनाथ ठाकुर और अहमद सिद्दीक़ मजनूँ उल्लेखनीय महत्त्व के अधिकारी हैं। अवनीन्द्रनाथ ठाकुर ने 'शिल्प ओ देहतत्त्व' शीर्षक अध्याय में शरीरविज्ञान के अनुसार कला की दैहिक व्याख्या प्रस्तुत की है। (द्रष्टव्य—बागेश्वरी शिल्प प्रबन्धावली, अवनीन्द्रनाथ ठाकुर, कलकत्ता विश्वविद्यालय प्रकाशन, १९४१, पृ० १०१–११५) तदनन्तर, मजनूँ गोरखपुरी ने यद्यपि शरीरविज्ञान या जीवविज्ञान की दृष्टि से सौन्दर्यशास्त्र पर विचार करना [illegible] माना है, तथापि इन्होंने अपनी पुस्तक के प्रारम्भ में दर्शन या [illegible] शरीरविज्ञान और जीवविज्ञान की आवश्यक चर्चा की है। (द्रष्टव्य—[illegible], ले०—अहमद सिद्दीक़ मजनूँ, १९५० ई०, [illegible], [illegible], १९५१, पृष्ठ १५)

पदार्थ-विज्ञानवादी सौदर्यशास्त्रियो ने अपनी विवेचना मे विशेषकर दृग्विपय-विज्ञान (ऑप्टिक्स) और ध्वनि-विज्ञान (एकुस्टिक्स) को आधार बनाया था। इसी तरह सौंदर्यशास्त्रीय तत्त्वो की दैहिक व्याख्या करने वाले विचारको ने विभिन्न अगो एव नाडी-सस्थानो—प्रधानत प्रमस्तिष्क रज्जु-चेतासहति के अग्रभागीय पारिणाहिक अगो (टर्मिनल पेरिफेरिक ऑर्गेन्स ऑव द सेरेब्रोस्पाइनल नर्वस सिस्टम)—के आधार पर सौदर्यशास्त्र के विभिन्न तत्त्वो को विवेचित करने का प्रयास किया। किन्तु यहाँ हम इसकी अधिक चर्चा न कर कल्पना, सवेग इत्यादि पर कलाशास्त्रीय दृष्टि से ही विचार करने का प्रयास करेंगे, कारण, कला और विज्ञान की कल्पना एवं अन्य तत्त्वो मे पर्याप्त अन्तर है। जैसे, कलाकार की कल्पना भावनाओ के सहारे उद्‌बुद्ध होती है, जबकि वैज्ञानिक की कल्पना किसी व्यावहारिक उपयोगिता अथवा भौतिक कार्य की पूर्णता के उद्देश्य से उद्‌बुद्ध होती है। इसलिए वैज्ञानिक की कल्पना पर तर्क-सकुल बुद्धि का निर्मम अकुश रहता है।

इस विवेचन के उपरान्त कल्पना के अनेक प्रचलित अर्थों को समझ लेना हमारे लिए आवश्यक है। कल्पना के मुख्यत छह अर्थ या प्रयोजन प्रचलित हैं—

१ जीवत चित्र-विधान, विशेषकर, दृश्य अथवा गोचर प्रत्यक्षीकरण से सम्बन्धित।

२. अलकृत भाषा का प्रयोग, जिसमे प्रकृष्ट प्रेक्षणो से काम लिया गया हो।

३. दूसरे की मन स्थिति का सहानुभूतिपूर्ण कथन। इस प्रकार की कल्पना भाव-सप्रेपण की आवश्यकता से उद्‌भूत होता है।

४. सादृश्य-विधान या अप्रस्तुतयोजना, अर्थात् ऐसी वस्तुओ मे पारस्पर्य-स्थापन या सम्बन्ध-निबन्धन करना, जो सामान्यत नही मिलता हो।

५. उदाहरणो का सचयन। इस प्रकार की कल्पना विज्ञान के लिए उपयोगी है। इसे हम किसी दृश्य या वस्तु के प्रति अपनी क्रमबद्ध अनुभूतियो को एक क्रम से और एक निश्चित उद्देश्य के लिए अनुशासन मे बाँधना कह सकते हैं। इसमे अनुभूतियो का याथातथ्य रहता है। कला की शिल्पीय उपलब्धियाँ भी इसी प्रकार की कल्पना के फल हैं।

६ कल्पना वह केन्द्रणशील और जादूभरी शक्ति है, जो विरोधी अतिवादो या कोटिवादो (एक्स्ट्रीमिज्म) के बीच सन्तुलन उपस्थित करती है और परिचित अथवा प्राचीन वस्तुओ मे भी असाधारण भाव-बोध

के कारण नवीनता का आधान करती है।[1]

आधुनिक काव्यालोचन अथवा सौंदर्यशास्त्र में कल्पना का प्रयोग लगभग इसी अर्थ में होता है। कल्पना का यह अर्थादेश सर्वप्रथम कॉलरिज ने 'बायग्राफिया लिटरेरिया' में प्रस्तुत किया, किन्तु, यहाँ हम कॉलरिज अथवा उसके पूर्ववर्ती और परवर्ती कल्पना के पाश्चात्य व्याख्याताओं की विवेचना करने के पहले यह देखना चाहेंगे कि भारतवर्ष के प्राचीन काव्यशास्त्रियों ने कल्पना पर कुछ विचार किया है अथवा नहीं। कल्पना के प्रसग में हिन्दी के आधुनिक विचारकों ने पाश्चात्य विवेचनों का ही पूर्णत अथवा आंशिक अनुगमन किया है। अत भारतीय मनीषा की तत्त्वदर्शिनी मौलिकता से लाभ उठाने के लिए यह आवश्यक है कि हम प्राचीन काव्यशास्त्रियों के उन मन्तव्यों का अवगाहन करें, जिनमें कल्पना से सम्बन्धित विचारणाओं के लिए हमें उपयुक्त चिन्तामणि मिल सके।

प्राचीन काव्यशास्त्र और संस्कृत साहित्य में 'कल्पना' शब्द के अनेक प्रयोग मिलते हैं, किन्तु सर्वथा भिन्न अर्थ में। यहाँ कल्पना का अधिकतर प्रयोग मिथ्याज्ञान या मिथ्या रचना के लिए हुआ है। संस्कृत साहित्य में कहीं-कहीं 'कल्पना' का व्यवहार सिद्धि और हाथी को सजाने के अर्थ में भी हुआ है। श्रीहर्ष के 'नैषधचरित' में श्रद्धालु सकल्पित कल्पनायाम् में कल्पना शब्द का प्रयोग सिद्धि के अर्थ में है।[2] इसी प्रकार 'अमरकोष' की रामाश्रयी टीका में 'सज्जा[illegible]' को कल्पना का पर्याय माना गया है। इतना ही नहीं, भामह ने 'काव्यालंकार' के पंचम परिच्छेद में (प्रत्यक्ष कल्पनापोढ ततोऽर्थादिति केचन। कल्पना नामजात्यादियोजना प्रतिजानते।), धर्मकीर्ति ने 'न्यायबिन्दु' में (कल्पनापोढम् भ्रान्त प्रत्यक्षम्) और आर्यदेव ने 'चित्तशुद्धिप्रकरण' नामक पुस्तक में, जिसका उल्लेख एस० एन० दासगुप्त ने 'भारतीय दर्शन का इतिहास' नामक ग्रन्थ के प्रथम भाग में 'मीमांसादर्शन' के अन्तर्गत किया है,) 'कल्पना' शब्द का प्रयोग किया है। किन्तु इनमें से एक भी प्रयोग कल्पना के आधुनिक अर्थ के समतुल्य नहीं है। लेकिन आधुनिक सौंदर्यशास्त्र में कल्पना का प्रयोग जिस (सामर्थ्य) अर्थ में किया जाता है, उस अर्थ को अभिप्रेत करने के लिए प्राचीन

काव्यशास्त्रियो ने एक दूसरे शब्द का प्रयोग किया है। वह शब्द है 'प्रतिभा'। डॉ० श्यामसुन्दरदास, आचार्य रामचन्द्र शुक्ल प्रभृति विद्वानो ने भी ऐसा ही मत प्रस्तुत किया है।[1] अत आधुनिक सौदर्यशास्त्र या पाश्चात्य कला-चिन्ता की कल्पना को हम भारतीय काव्यशास्त्र की 'प्रतिभा' कह सकते है। इस 'प्रतिभा' का (अपूर्ण) अग्रेजी पर्यायवाची है—'जिनियस'। तथापि अनेक आग्ल आलोचको ने भी प्रतिभा (जिनियस) को कल्पना के अर्थ मे स्वीकार किया है।[2] इसलिए भारतीय काव्यशास्त्र के प्रतिभा-निरूपण पर कुछ विस्तृत विचार करने से हमे कल्पना पर तात्त्विक चिन्तन के लिए अवश्य ही आशिक आलोक मिलेगा।

प्राचीन आचार्यों ने काव्य-हेतु के प्रसग मे प्रतिभा[3] का तर्कपुष्ट विश्लेषण किया है। भामह ने काव्यहेतुओ मे प्रतिभा को सर्वश्रेष्ठ स्थान प्रदान किया है। इनके अनुसार, प्रतिभा के बिना काव्य-रचना की तो बात दूर रही, काव्य का आस्वादन तक (गुरु-उपदेश के बाद भी) नही हो सकता—

> गुरूपदेशादध्येतु शास्त्र जडधियोऽप्यलम्।
> काव्य तु जायते जातु कस्यचित् प्रतिभावतः॥[4]

इस तरह इन्होने प्रतिभा को ही काव्य का एकमात्र कारण माना है और इसका अत्यन्त आत्मनिष्ठ स्वरूप निर्धारित किया है। प्रतिभा के स्वरूप-निर्धारण की दृष्टि से इन्ही की परम्परा मे आनेवाले ध्वनिवादी आचार्यो ने प्रतिभा की वैसी

---

१. आनन्दकुमार स्वामी ने भी कल्पना (इमाजिनेशन) को 'प्रतिभा' के ही अर्थ में स्वीकार किया है। द्रष्टव्य—द ट्रॉन्सफार्मेशन ऑव नेचर इन आर्ट, लेखक आनन्दकुमार स्वामी, न्यूयार्क, १९५६। दार्शनिक दृष्टि के कुछ विद्वान 'कल्पना' का साम्य दिङ्नाग और धर्मकीर्त्ति (कल्पनापोढमभ्रान्त प्रत्यक्षम्) द्वारा अभिहित 'मानस प्रत्यक्ष' के साथ बिठाते हैं। मानस-प्रत्यक्ष एक प्रकार का प्रत्यक्षीकरण है। इसका स्थान सवेदना और बुद्धि के बीच में बतलाया जाता है। दिङ्नाग ने बोध के दो प्रकारों को स्वीकार किया है—प्रत्यक्ष-बोध और कल्पना-बोध। द्रष्टव्य—*Jwala Prasad*, History of Indian Epistemology, published by Munshi Ram Manoharlal, pages 205-207. निश्चय ही दिङ्नाग का यह कल्पना-बोध काव्यशास्त्र या सौंदर्यशास्त्र की विवेच्य कल्पना से नितान्त भिन्न है।

२. उदाहरणार्थ इमर्सन ने 'एसे ऑन पोइट्री एण्ड इमाजिनेशन' शीर्षक निबन्ध में 'प्रतिभा' (जीनियस) को कल्पना का समानार्थक माना है।

३. 'प्रतिभा' के मनोवैज्ञानिक विश्लेषण की संक्षिप्त जानकारी के लिए द्रष्टव्य—साइकोएनालिसिस एण्ड लिटरेरी क्रिटिसिज्म, ले० के० अहमद, अजन्ता प्रेस, पटना के अन्तर्गत 'जीनियस एण्ड लूनेसी' तथा साइकोएनालिटिक स्टडी ऑव इण्डिविजुअल जीनियस' शीर्षक लेख।

४. भा०, काव्यालंकार, १-५।

व्याख्या की है, जो आधुनिक काव्यालोचन की 'कल्पना' से पर्याप्त साम्य रखती है। भामह के बाद दण्डी ने प्रतिभा के महत्त्व को संकुचित कर दिया। उन्होंने प्रतिभा के साथ ही शास्त्रज्ञान तथा अभ्यास को काव्य-साधक हेतुओं में स्थान दिया है। इनके अनुसार केवल प्रतिभा से काव्य की स्फूर्ति नहीं हो सकती। प्रतिभा पर विचार करने वाले आचार्यों में दण्डी ने भामह के विपरीत (काव्य हेतु) प्रतिभा की वस्तुनिष्ठ व्याख्या की है। यहाँ यह स्पष्ट कर देना आवश्यक है कि दण्डी की 'प्रतिभा' से पाश्चात्य अथवा आधुनिक काव्यालोचन की 'कल्पना' का कोई साम्य नहीं है।[1] साथ ही हम कह सकते हैं कि दण्डी का प्रतिभा-विवेचन भामह का प्रतिपक्ष है। वामन ने भी दण्डी के ही विचारों का अनुगमन किया है। यद्यपि इन्होंने प्रतिभा अथवा प्रतिभान को कवित्व का बीज कहा, तथापि इन्होंने प्रतिभा के साथ ही काव्य-स्फूर्ति के लिए गुरु-सेवा, शास्त्र ज्ञान, अवधान (चित्त की एकाग्रता) इत्यादि को अनिवार्य माना है। प्रतिभा के प्रति वस्तुपरक दृष्टिकोण रखने के कारण इन्होंने लोक-ज्ञान और विद्या को पहले स्थान दिया है तथा प्रतिभा का तीसरे काव्यांग प्रकीर्ण के अन्तर्गत उल्लेख किया है। इस तरह वामन प्रतिभा की आत्मपरक व्याख्या करने वाले उन आचार्यों की परम्परा से दूर मालूम पड़ते हैं, जिनके प्रतिभा-निरूपण से आधुनिक काव्यालोचन की कल्पना का मेल है। डॉ० नगेन्द्र का तो कथन है कि वामन ने 'प्रतिभा को वाछित गौरव नहीं दिया' है।[2] तदनन्तर, रुद्रट ने 'प्रतिभा' के स्थान पर 'शक्ति' का प्रयोग किया है और 'शक्ति' को काव्य का प्रधान हेतु माना है।[1] रुद्रट ने इस 'शक्ति' के दो भेदों का उल्लेख किया है—सहजा और उत्पाद्या। सहजा स्वाभाविक शक्ति है और उत्पाद्या

व्युत्पत्तिलभ्य ।[1] कुल मिलाकर रुद्रट ने शक्ति अर्थात् प्रतिभा के साथ व्युत्पत्ति और अभ्यास को भी महत्त्व दिया है और इन्होने स्वीकार किया है कि केवल समाहित चित्त मे प्रतिभा का उन्मेष होता है तथा इसी उन्मेष के उपरान्त अभिधेय अर्थ रमणीय शब्दावली मे अभिव्यक्त हो पाता है । **महिमभट्ट** ने भी प्रतिभा के सम्बन्ध मे कुछ ऐसा ही मत व्यक्त किया है ।[2] इसके बाद **आनन्दवर्द्धन** ने प्रतिभा और व्युत्पत्ति के बीच प्रतिभा को ही विशेष महत्त्व दिया है। इन्होने **भामह** की परम्परा के निकट आकर घोषित किया है कि प्रतिभा महाकवियो का 'अलोक-सामान्य गुण' है । यह मान्यता 'प्रतिभा' को आधुनिक काव्यालोचन की 'कल्पना' के पास ले आती है, जिसका विवेचन हम आगे चलकर करेंगे ।

प्रतिभा पर विचार करने वाले आचार्यों मे **राजशेखर** अत्यन्त महत्वपूर्ण हैं । इनके अनुसार प्रतिभा कवि के हृदय मे काव्य की सामग्री को प्रतिभासित करनी है । इसे प्रमाणित करने के लिए **राजशेखर** ने मेधाविरुद्र, कुमारदास आदि जन्मान्ध कवियो का उल्लेख किया है । इससे ऐसा प्रकट होता है कि **राजशेखर** भी **भामह** की तरह प्रतिभा का आत्मनिष्ठ और स्वयविधायक रूप स्वीकार करते हो । किन्तु बात ऐसी नही है । **राजशेखर** ने **भामह** और **दण्डी**, दोनो की परम्परा का समन्वय उपस्थित किया है । इनका मत है कि प्रतिभा और व्युत्पत्ति मे लावण्य तथा रूप-सौदर्य जैसा सम्बन्ध है, अर्थात् प्रतिभा और व्युत्पत्ति दोनो सयुक्त रूप से काव्य-रचना मे उपकारिणी होती हैं—"प्रतिभा व्युत्पत्ति-मिथ समवेते श्रेयस्यौ ।" तथापि **राजशेखर** ने प्रतिभा को व्युत्पत्ति से अधिक महत्त्व दिया है । इन्होने प्रतिभा की मूर्त्तिविधायिनी शक्ति को स्वीकार करते हुए लिखा है कि "जिसमे प्रतिभा नही है, उसके लिए प्रत्यक्ष दीखते हुए भी अनेक पदार्थ परोक्ष-से मालूम पडते हैं और प्रतिभासम्पन्न व्यक्ति के लिए अनेक अप्रत्यक्ष पदार्थ भी प्रत्यक्ष-से प्रतीत होते हैं ।" **राजशेखर** की 'प्रतिभा' का

---

१. प्रतिमेत्यपरैरुदिता सहजोत्पाद्या च सा द्विधा भवति ।
पुंसा सह जातत्वादनयोस्तु ज्यायसी सहजा ।।
स्वस्यासौ सस्कारे परमपर मृगयते यतो हेतुम् ।
उत्पाद्यो तु कथञ्चिद् व्युत्पत्त्या जन्यते परया ।।

—काव्यालंकार, १।१६ और १।१७

२. महिमभट्ट के अनुसार प्रतिभा प्रज्ञा का एक ऐसा विशेष रूप है, जिसके द्वारा कवि शब्द-अर्थ के वास्तविक स्वरूप का साक्षात्कार करता है और जिसका सहसा उन्मेष केवल समाहित चित्त की अवस्था में होता है—

रसानुगुण शब्दार्थ चिन्तास्तमितं चेतसः ।
क्षण स्वरूपस्पर्शोत्था प्रज्ञेव प्रतिभा कवेः ।।

यह पक्ष आधुनिक काव्यालोचन की 'कल्पना' से अत्यन्त साम्य रखता है, क्योंकि कल्पना में भी अदृश्य अथवा अदृष्ट को दृश्य अथवा दृष्ट रूप में उपस्थित करने की शक्ति होती है। काव्य में वर्णित कल्पवृक्ष, राजहंस, नन्दनकानन, स्वर्ग-वर्णन, तिलस्मी और ऐयारी उड़ानें, तालतटगामी कवि का समुद्र-वर्णन इत्यादि इसी प्रतिभा अर्थात् कल्पना-शक्ति के उदाहरण हैं। राजशेखर ने भी अप्रत्यक्ष देशान्तर, द्वीपान्तर एवं कथा-पुरुषों के प्रत्यक्षोपम सजीव वर्णन को इसी मूर्त्तिविधायिनी और अदृश्य-गोचरकारिणी प्रतिभा का परिणाम माना है। इनके पूर्ववर्त्ती आचार्यों ने प्रायः कवि-प्रतिभा अर्थात् रचनात्मक कल्पना पर ही विचार किया था, किन्तु, इन्होंने उस भावयित्री प्रतिभा अर्थात् ग्राहिका कल्पना पर भी विचार किया है, जो भावक, पाठक अथवा आलोचक के पास रहती है। इसी भावयित्री प्रतिभा या ग्राहिका कल्पना के द्वारा पाठक-आलोचक की रस-संवेदना काव्य-निबद्ध रस-दशा तक पहुँच पाती है। इस तरह राजशेखर ने प्रतिभा (कल्पना) के एक महत्त्वपूर्ण पक्ष को, जो प्राचीन काव्यशास्त्र में उपेक्षित-सा था, प्रथम बार प्रकाश में लाने का प्रयास किया है। इस प्रसंग में यह भी ध्यातव्य है कि प्रतिभा-विवेचन में राजशेखर द्वारा निरूपित सारस्वत कवि की सहजा[1] कारयित्री 'प्रतिभा' कालरिज, क्रोचे एवं अन्य अनेक आधुनिक विचारकों की बिम्बविधायिनी 'कल्पना' से पृथुल साम्य रखती है।

राजशेखर की तरह भट्टतोत द्वारा निरूपित प्रतिभा भी आधुनिक काव्यालोचन की 'कल्पना' से बहुत साम्य रखती है। इन्होंने कहा है कि नए-नए अर्थों का उन्मीलन करनेवाली प्रज्ञा ही प्रतिभा है—'प्रज्ञा नवनवोन्मेषशालिनी प्रतिभा मता।' इस तरह कल्पना में जो नूतन निर्माण की आवर्त्तक क्षमता होती है, उसे भट्टतोत का 'नवनवोन्मेष' बहुत अच्छी तरह व्यंजित करता है।

---

[1] राजशेखर के अनुसार प्रतिभा दो प्रकार की होती है—कारयित्री और भावयित्री। कारयित्री प्रतिभा कवि की उपकारक होती है। यह तीन प्रकार की मानी गई है—सहजा, आहार्या और औपदेशिकी। पूर्वजन्म के संस्कारों से प्राप्त जन्मजात प्रतिभा सहजा, शास्त्र एवं काव्यों के अभ्यास से उत्पन्न प्रतिभा आहार्या तथा मन्त्र-तन्त्र, देवता, गुरु आदि के वरदान या उपदेश से प्राप्त प्रतिभा औपदेशिकी कही जाती है। सहजा कारयित्री प्रतिभा जन्मान्तर के संस्कार से उत्पन्न होकर इस जन्म के अल्प संस्कार से ही उद्बुद्ध हो जाती है। आहार्या कारयित्री प्रतिभा के लिए इस जन्म के संस्कार का अभ्यास भी आवश्यक होता है। औपदेशिकी प्रतिभा मन्त्र, उपदेश, वरदान आदि से प्राप्त होती है। इस प्रकार ऊपर कही हुई तीन प्रकार की कारयित्री प्रतिभा से सम्पन्न कवि भी क्रमशः तीन प्रकार के होते हैं—सारस्वत, आभ्यासिक और औपदेशिक।—काव्यमीमांसा, अनु० केदारनाथ शर्मा सारस्वत, बिहार राष्ट्रभाषा परिषद्, पटना, १९५४, पृ० ३१।

किन्तु कुछ प्राचीन आचार्यों ने प्रतिभा का विवेचन इस प्रकार किया है कि उससे हमे कल्पना के सन्दर्भ मे कोई तथ्य-प्राप्ति नही होती है। जैसे, कुन्तक का कहना है कि पूर्वजन्म तथा इस जन्म के सस्कार के परिपाक से पुष्ट होने वाली विशिष्ट कवित्व-शक्ति ही प्रतिभा है—'प्राक्तनाद्यतम् सस्कार-परिपाक प्रौढा प्रतिभा काचिदेव कविशक्ति ।'[1] आलोचको का कथन है कि प्रतिभा-विवेचन मे कुन्तक ने रसवाद और अलकारवाद का मध्यवर्त्ती पथ ग्रहण किया है। अत प्रतिभा के सम्बन्ध मे इनका दृष्टिकोण समन्वयवादी है। तदनन्तर, प्राचीन काव्यशास्त्र के अनन्य मनीषी आचार्य अभिनवगुप्त का प्रतिभा-विवेचन हमारे सामने आता है। इन्होंने प्रतिभा को अपूर्ववस्तु निर्माण-क्षमा प्रज्ञा के अर्थ मे स्वीकार किया है। इन्होने भी प्रतिभा को ऐसा व्यापार माना है, जिससे कारणकलाप के बिना ही अपूर्ववस्तु का निर्माण होता है—'अपूर्व यद् वस्तु प्रथयति विना कारणकलाम् ।'[2] यह प्रतिभा भी शिव मे सतत विश्राम करनेवाली परा प्रतिभा की भाँति विलक्षण विश्व का उन्मीलन करती है। अभिनवगुप्त ने प्रतिभा को वामन के 'जन्मान्तरागत सस्कार विशेष कश्चित्' की तरह एक प्राक्तन सस्कार माना है—'अनादि प्राक्तन सस्कार प्रतिभा-नमय ।' इस प्रसग मे यह स्मरणीय है कि भट्टतोत ने और विशेषकर अभिनव-गुप्त ने (कल्पना के अर्थ मे) प्रतिभा की सर्वाधिक सटीक व्याख्या प्रस्तुत की है। हम जानते हैं कि कल्पना सामान्यत. मानसिक रूप-सृष्टि की शक्ति के अर्थ मे प्रयुक्त होती है। अभिनवगुप्त ने भी स्पष्टत प्रतिभा को नवनवरूप-विधायिनी मानसिक शक्ति के अर्थ मे स्वीकार किया है—'प्रतिभा अपूर्व वस्तु-निर्माणक्षमा प्रज्ञा ।'[3] इस तरह कल्पना मे मानसिक रूप-विधान, बिम्ब-विधान अथवा मूर्त्तविधान की जो शक्ति होती है, जिसे कालरिज ने 'एजेम्प्लास्टिक पावर' कहा है, उसे प्रतिभा-विवेचन मे प्रतिष्ठित करने का श्रेय अभिनवगुप्त को ही है। सक्षेप मे, अभिनवगुप्त का मन्तव्य यह है कि रसात्मक परिवेश मे (तस्या. विशेषो रसावेश वैशद्य सौंदर्यं काव्यनिर्माणक्षमत्वम्) नए-नए रूपो की सृष्टि करने वाली प्रज्ञा ही प्रतिभा है। इतना ही नही, अभिनवगुप्त ने जहाँ 'शक्ति' को प्रतिभा रूप मे स्वीकार करते हुए यह लिखा है—'शक्ति. प्रतिभानं

---

१. कुन्तक के अनुसार अम्लान प्रतिभा के द्वारा ही शब्द और अर्थ में नवीन चमत्कार प्रस्फुटित होता है—

अम्लान प्रतिभोद्भिन्न नवशब्दार्थबन्धुरः ।
अयत्नविहितस्वल्पमनोहारि विभूषण. ॥

—हिन्दी वक्रोक्ति जीवित, आत्माराम एण्ड सन्स, १९५५, पृष्ठ १०४ ।

२. ध्वन्यालोक लोचन, चौखम्बा संस्कृत सिरीज, १९४०, पृष्ठ १ (मंगल श्लोक) ।

३. ध्वन्यालोक लोचन, चौखम्बा सस्कृत सिरीज, १९४०, पृष्ठ ९२ ।

वर्णनीय वस्तु-विषयनूतनोल्लेखशालित्वम्"—वहाँ उन्होंने प्रतिभा को कल्पना के और भी निकट ला दिया है। कारण, कल्पना में भी प्रस्तुत विषय को एक नूतन परिवेश और सयोजन देकर नवीन तथा अभिराम अथवा अप्रस्तुत के सृजन की क्षमता रहती है।' अन्तर यह है कि ध्वनिवादी आचार्यों ने प्रतिभा-विवेचन में आध्यात्मिक रहस्य की बहुत भलक देखी है, जो कल्पना के आधुनिक निरूपण से मेल नहीं खाती। तथापि, आध्यात्मिक तत्त्व-रहस्य की भलक के रहने पर भी हम ध्वनिवादियों की 'प्रतिभा' और कालरिज की 'कल्पना' (प्राइमरी इमाजिनेशन) में प्रचुर साम्य पाते हैं, क्योंकि कालरिज ने तो 'कल्पना' में ससीम के बीच असीम की भलक देखी थी। इतना ही नहीं, ब्लेक' और शैली ने कल्पना को स्वर्गीय विभूति के रूप में स्वीकार किया था। अतः अध्यात्म-तत्त्व से उपेत ध्वनिवादियों की 'प्रतिभा' रोमाण्टिक कवियों की 'कल्पना' से बहुत साम्य रखती है।

अभिनवगुप्त के बाद जिन दो आचार्यों—मम्मट और पण्डितराज जगन्नाथ—ने प्रतिभा पर विचार किया है, उनके निरूपण में हमें कल्पना के सन्दर्भ में कोई तथ्य नहीं मिलता है। मम्मट ने काव्य हेतुओं में प्रतिभा अथवा शक्ति के साथ ही निपुणता तथा अभ्यास का उल्लेख किया है। पूर्ववर्त्ती आचार्यों ने जिसे 'व्युत्पत्ति' कहकर पुकारा है, उसे ही मम्मट ने निपुणता से अभिहित किया है। मम्मट की उक्ति इस प्रकार है—

शक्तिर्निपुणता लोकशास्त्रकाव्याद्यवेक्षणात् ।
काव्यज्ञ-शिक्षयाभ्यास इति हेतुस्तदुद्भवे ॥

—काव्य प्रकाश, १।३

इस उक्ति को दृष्टिगत रखते हुए कुछ आलोचको का यह कथन है कि "मम्मटाचार्य ने शक्ति, निपुणता तथा अभ्यास—इन तीनो को काव्य का स्वतन्त्र रूप से अलग-अलग कारण न मानकर सम्मिलित रूप से ही कारण माना है। इसीलिए इस सुप्रसिद्ध कारिका मे 'हेतु' शब्द का एकवचन मे प्रयोग किया है, बहुवचन मे नही (हेतुर्न तु हेतव.)।"[1] यहाँ यह ध्यातव्य है कि मम्मट ने काव्यहेतु मे 'शक्ति' का उल्लेख किया है, किन्तु, यह शक्ति प्रतिभा से बहुत भिन्न नही है। साथ ही, यह भी स्पष्ट है कि मम्मट के प्रतिभा-निरूपण से कल्पना-तत्त्व पर हमे कोई प्रकाश नही मिलता है। तदनन्तर, प्राचीन काव्य-शास्त्रियो के बीच सब से अन्त मे हमारे सामने पण्डितराज जगन्नाथ आते हैं। इनका कहना है कि काव्य का कारण कवि मे विद्यमान केवल 'प्रतिभा' है, जो काव्य-निर्माण के लिए अनुकूल शब्दार्थों की उपस्थिति मे रहती है।[2] इन्होने हेमचन्द्र की तरह प्रतिभा के दो भेद माने हैं—जन्मजात और कारण-जात। इन्हे ही क्रमश सहजा और औपाधिकी भी कहा गया है। यह सहजा प्रतिभा ही वह मानसिक शक्ति है, जिसे हम आधुनिक काव्यालोचन की 'कल्पना' के अर्थ मे स्वीकार कर सकते हैं। सस्कृत काव्यशास्त्र के आचार्यों के बीच संभवत पण्डितराज जगन्नाथ अन्तिम आचार्य हैं, जिन्होने प्रतिभा के सम्बन्ध मे कुछ व्यवस्थित विचार किया है। इनके बाद ऐसे विषयो पर विचार करने वाले आचार्यों की परम्परा छीज-सी गई। प्रतिभा-विवेचन की दृष्टि से पण्डितराज (प्रतिभा को काव्य का मुख्य कारण माननेवाले) भामह की परम्परा मे आते हैं। किन्तु, पण्डितराज ने प्रतिभा को नवनवोन्मेषशालिनी अथवा अपूर्ववस्तुनिर्माणक्षमा प्रज्ञा न मानकर उसे शब्दार्थ तक सीमित कर दिया है—'सा (प्रतिभा) च काव्यघटनानुकूल शब्दार्थोपस्थितिः।' पुन इन्होने प्रतिभा-विवेचन के क्रम मे प्रतिभा का अवरोध करने वाले तन्त्र-मन्त्रादि प्रति-बन्धक कारणो का उल्लेख किया है, जिससे अन्धविश्वास की अवतारणा हो गई है।[3] इस प्रकार हम कह सकते हैं कि 'कल्पना' पर विचार करने की दृष्टि से पण्डितराज जगन्नाथ के प्रतिभा-विवेचन मे हमे कोई विशिष्ट सामग्री नही मिलती है।

---

१. सस्कृत आलोचना, ले० बलदेव उपाध्याय, पृ० ७७।

२. "तस्य च कारण कविगता केवला प्रतिभा। सा च काव्यघटनानुकूल शब्दार्थोपस्थितिः।"

३. "प्रतिवादिना मन्त्रादिभिः कृते कतिपय दिवसव्यापिनि वाकस्तम्भे विहितानेक प्रबन्धस्यापि कवेः काव्यानुदयस्य दर्शनात।"—रसगगाधर, चौखम्बा विद्याभवन, काशी, १९५५, पृष्ठ २३।

प्रतिभा और कल्पना की उपर्युक्त विवेचना का संक्षिप्त निष्कर्ष यह है कि संस्कृत काव्यशास्त्र की प्रतिभा को यदि आधुनिक कलाशास्त्र में विवेचित 'कल्पना' का पर्याय अथवा समानार्थी माना जाय, तो हमें यह स्वीकार करना होगा कि भामह तथा उनकी परम्परा में आने वाले आचार्यों द्वारा निरूपित प्रतिभा से ही कल्पना का साम्य है। भामह के काव्य-हेतुवाद के प्रतिपक्ष को लेकर चलने वाले दण्डी अथवा उनकी परम्परा में आने वाले आचार्यो द्वारा निरूपित प्रतिभा से कल्पना का कोई साम्य नहीं है। कारण, आधुनिक काव्यालोचन की मूर्त्तविधायिनी कल्पना का व्युत्पत्ति और अभ्यास से कोई तात्त्विक सम्बन्ध नहीं दिखाई पड़ता है। भामह के मत से समीप पड़ने वाले भट्टतोत ने प्रतिभा की जो परिभाषा दी है—'प्रज्ञा नवनवोन्मेषशालिनी प्रतिभा मता'—यह कल्पना के निकट है। और, भट्टतोत से प्रभावित अभिनवगुप्त ने प्रतिभा का जो स्वरूप निर्धारित किया है, वह कॉलरिज की कल्पना के सर्वाधिक निकट पड़ता है, क्योंकि 'अपूर्व वस्तुनिर्माणक्षमा' होने के कारण इस प्रतिभा में भी 'कल्पना' की प्रमुख और प्रसिद्ध मूर्त्तविधायिनी शक्ति (एजेम्पलास्टिक पावर) का सम्यक् आधान हो गया है।[1] प्रतिभा और कल्पना के इस तुलनात्मक विवेचन में यह भी स्मरणीय है कि पाश्चात्य कला-चिन्तन में कल्पना

जहाँ एक मानसिक शक्ति के रूप मे विवेचित हुई है, वहाँ भारतीय काव्य-सिद्धान्त मे प्रतिभा के दो रूपो—प्रत्था और उपाख्या को आत्मा की शक्ति के रूप मे भी स्वीकार किया गया है।

अब हम पाश्चात्य, विशेषकर आग्ल साहित्य मे निरूपित कल्पना पर विचार करेगे। यो तो कॉलरिज के कल्पना-सिद्धान्त पर ही हम मुख्यतः विचार करेंगे, क्योकि कल्पना का तात्त्विक विवेचन हमारा अभिप्रेत विषय है न कि कल्पना-सिद्धान्त का क्रमिक अथवा ऐतिहासिक विकास, तथापि हम कल्पना की तात्त्विक विवेचना की अनुकूल पृष्ठिका प्रस्तुत करने के लिए कॉलरिज के कुछ पूर्ववर्ती और परवर्ती विचारको की सक्षिप्त आनुक्रमिक चर्चा करेगे।

प्रारम्भिक विचारको मे प्लेटो ने कल्पना के विषय मे कोई चिन्तन-गर्भ या सौंदर्यशास्त्र के लिए उपयोगी स्थापना नही प्रस्तुत की है। नैतिकता के प्रबल पक्षधर प्लेटो ने असत्य को कल्पना का आधार माना है। इन्होने कल्पना के लिए प्राय. 'फैण्टेसिया' शब्द का व्यवहार किया है। इस तरह इनके अनुसार कल्पना एक अपर अलीक सर्जन का साधन है।[1] तदनन्तर, अरस्तू ने यह दृष्टि-कोण व्यक्त किया कि कल्पना विचारो को सुसंगठित रूप देती है और कल्पना के बिना मनुष्य किसी धारणा को धारण नही कर सकता। इसी दिशा मे सोचते हुए अरस्तू-स्कूल के मध्यकालीन विचारको ने यह स्वीकार किया कि कल्पना, तर्क और स्मृति परस्पर सबद्ध है तथा तर्क के द्वारा कल्पना का नियमन होता है। इसके अलावे मध्यकालीन विचारक कुछ नई बात नही कह सके, कारण, उनकी अधिक शक्ति कल्पना और 'फैण्टेसी' के अन्तर अथवा पार्थक्य को समझाने मे खर्च हो गई। और, इस सम्पूर्ण पार्थक्य-निरूपण से यह फलितार्थ निकाला गया कि कल्पना से अधिक सम्बन्ध कवि का है और फैण्टेसी[2] से निकट सम्बन्ध सगीतज्ञ, गणितज्ञ तथा वास्तुकार का है। कुछ विचारको ने तो प्लेटो की नैतिकतावादी धारणा को पुनरुज्जीवित करते हुए कल्पना को अत्यन्त निकृष्ट सिद्ध किया। जैसे, हॉब्स की दृष्टि मे कल्पना एक ध्वसात्मक शक्ति है तथा जागतिक प्रेय की क्रीतदासी है। इन्होने कल्पना को 'डिकेयिंग सेन्स' कहा है। अत यह स्पष्ट है कि इन विचारको का कल्पना-सिद्धान्त नन्दतिक दृष्टि से कितना हीन

---

१ दृष्टव्य—'रिपब्लिक' में 'मिथ' का प्रसग और 'सिम्पोजियम'।

२. 'फैण्टेसी' को हम कल्पना की उन्मुक्त क्रीडा कह सकते है। किन्तु, वाद्यसगीत के विधान-विवेचन में 'फैण्टेसी' शब्द का प्रयोग एक दूसरे अर्थ में भी होता है। द ह्यूमैनिटीज, ले० डब्ले-फैरिसी, पृ० ४११। कभी-कभी 'फैण्टेसी' से भी कलासृष्टि होती है। ऐसी कला-सृष्टि में 'कौतुक' की प्रधानता रहती है। यदि 'स्वशब्दवाच्यत्व दोष' को भूलकर देखा जाय तो बर्चफील्ड (Burchfield) की चित्र-कृति 'ऑटम्नल फैण्टेसी' में 'फैण्टेसी' का सारा कौतुक विद्यमान है। दृष्टव्य—द पॉकेट हिस्ट्री ऑव अमेरिकन पेंटिंग, ले० जेम्स थोमस फ्लेक्सनर, न्यूयार्क, १९५० में प्लेट सख्या, ४०।

था। दूसरी ओर काण्ट और हीगेल जैसे दार्शनिकों ने भी कल्पना पर दार्शनिक दृष्टि से विचार किया। काण्ट के अनुसार कल्पना बोध-जगत् और प्रत्यय-जगत् के बीच संयोजन-सूत्र का काम करती है। इन्होंने 'क्रिटीक ऑव प्योर रिजन' में कल्पना को मन की संस्थिति-विशेष ('एटिच्युड ऑव माइन्ड') के रूप में स्वीकार किया है। आगे चलकर इन्होंने कल्पना, समन्वय (सिन्थेसिस) और विचार चित्र ('स्कैमटा') के विश्लेषण के प्रसंग में कल्पना के स्वरूप को स्पष्ट करते हुए दो महत्त्वपूर्ण बातें कही हैं—१ कल्पना आत्मा की अन्ध, किन्तु अपरित्याज्य क्रिया है। और, २ कल्पना वह शक्ति है, जो उस अप्रस्तुत वस्तु को भी, जिसका गोचर प्रत्यक्ष या संवेद्य संपर्क प्राप्त नहीं है, सहजानुभूति का अंग बना देती है।[1] तदनन्तर, कांट ने विनियोग की दृष्टि से कल्पना के दो स्वरूपों को उपस्थित किया है—पुनरुत्पादक स्वरूप और उत्पादक स्वरूप। पुनरुत्पादक कल्पना ऐन्द्रिय अथवा वस्तु-बोध-निर्भर अनुभूतिपरक सहजानुभूति ('एम्पिरिकल इण्ट्यूशन') को बिम्बों में परिवर्तित करती है। कल्पना की इस बिम्बविधायक प्रक्रिया में आसंगों ('एसोसियेशन') का महत्त्वपूर्ण स्थान रहता है। इसलिए कांट ने कल्पना को, कुछ सीमा तक, प्रत्यक्ष का अंश भी माना है। किन्तु, कल्पना में, जैसा ऊपर कहा गया है, केवल पुनरुत्पादन की शक्ति ही नहीं रहती है, वह अपने विनियोग में बोध और प्रभावों ('सेन्स एण्ड इम्प्रेसन') का संयोजन भी वस्तुओं के बिम्ब-विधान के निमित्त करती है। इसलिए पुनरुत्पादक कल्पना में प्रभावों की ग्रहण-शक्ति के अलावे सृजनक्षमता की आवश्यकता होती है, जिसे हम कल्पना की 'समन्वय-शक्ति' कह सकते हैं। हम आगे चलकर देखेंगे कि कांट की इस पुनरुत्पादक कल्पना को ही कॉलरिज ने 'प्राइमरी' इमाजिनेशन कहा है। बहुत गहराई में देखने पर दोनों के बीच कुछ दृष्टिभेद भी प्रतीत होता है। जैसे, कांट के अनुसार पुनरुत्पादक कल्पना ऐन्द्रिय प्रत्यक्ष पर निर्भर अमूर्त सहजानुभूतियों को अभिज्ञेय और सम्बन्ध-निबन्धक विधानों में बाँध कर बोधगम्य बनाती है, किन्तु, कॉलरिज 'प्राइमरी इमाजिनेशन' को प्रत्यक्ष बोध से भिन्न कोई दूसरी शक्ति नहीं मानते हैं। इनके अनुसार 'प्राइमरी इमाजिनेशन' का क्षेत्र प्रत्यक्ष-बोध के अन्तर्गत है। अन्तर है उनके विधायकत्व में। अब कांट की उत्पादक कल्पना पर भी विचार कर लेना आवश्यक है। यह उत्पादक कल्पना एक ऐसी अपार और आत्मनिर्भर शक्ति है, जो सहजानुभूति को विचार-चित्र बना देती है, क्योंकि सहजानुभूतियाँ निराकार चिन्तन हुआ करती हैं। इस प्रसंग में कांट ने बिम्ब और विचार-चित्र के अन्तर को स्पष्ट

---

[1] कमेण्टरी टु काण्ट्स क्रिटीक ऑव प्योर रीजन, के० नॉर्मन केम्प स्मिथ, पृ० १९२, १६४, २८२।

करने की चेष्टा की है। इनके अनुसार बिम्ब भावनाओं से वेष्टित प्रत्यक्ष है और कल्पना की अनिवार्य एवं लघुतम इकाई भी। इन्हीं इकाइयों के संयोजन अथवा समीकरण से कल्पना को अन्विति मिलती है। इसके विपरीत विचार-चित्र धारणात्मक (कन्सेप्चुअल) हुआ करता है और भावनाओं से इसका कोई सम्बन्ध नहीं रहता। सच पूछा जाय तो विचार-चित्र एक प्रकार से धारणाओं का बौद्धिक भावानयन है। इसीलिए कांट ने विचार-चित्र को 'डायग्राम्स ऑव आइडियाज़' कहा है। जिस प्रकार बिम्ब कल्पना की अनिवार्य और लघुतम इकाई है, उसी प्रकार विचार-चित्र विश्लेषणात्मक या सैद्धान्तिक चिन्तन की लघुतम इकाई है। संक्षेप में, बिम्ब पुनरुत्पादक कल्पना से बनते हैं और सर्वत्र 'विशेष' होते हैं, जब कि विचार-चित्र उत्पादक कल्पना से निष्पन्न होते हैं और सर्वदा 'सामान्य' रहते हैं। निष्कर्ष रूप में हम कह सकते हैं कि कल्पना के प्रति कांट का सम्पूर्ण दृष्टिकोण दार्शनिक है।[1] अतः इन्होंने इस सन्दर्भ में कला-चिन्तन को कोई सुविचारित रमणीयता देने की कोशिश नहीं की है। फलस्वरूप, इनकी कल्पना, बिम्ब और विचार-चित्र सम्बन्धी मान्यताओं को हम कला के व्यापक तत्त्व-निरूपण या सिद्धान्त के रूप में स्वीकार नहीं कर सकते। उदाहरणार्थ, कला के क्षेत्र में जितने भी बिम्ब आते हैं, उनमें प्रत्यक्षीकरण के साथ ही भावोद्वेलन के वहन की क्षमता अवश्य रहती है, किन्तु, कांट की दृष्टि में बिम्बों के लिए प्रत्यक्षीकरण की प्रचुरता ही अलम् है। इस तरह कांट ने कल्पना को विचारणा ('आइडियेशन') के अत्यन्त समीप ला दिया है। दूसरी बात यह है कि इन्होंने कल्पना को एक ऐसी बिम्ब-विधायक शक्ति के रूप में स्वीकार किया है, जिसका मुख्य लक्षण मन को उन पदार्थों का बोध देना है, जो वस्तुतः इन्द्रियग्राह्य नहीं हैं अथवा जिनका ऐन्द्रिय प्रत्यक्ष मन को नहीं मिल सका है। किन्तु कला का कल्पना के इस इन्द्रियातीत पक्ष से कम सम्बन्ध है और कलान्तर्गत कल्पना का विवेचन स्वप्न, छायाभास, आसंग, प्रातीतिक बिम्ब (आइडियेटिक इमेजरी),[2] इत्यादि को दृष्टिगत रखकर किया जाता है। तीसरी बात यह है कि कांट ने सम्पूर्ण ज्ञान को विषय और विषयी के माध्यम से समझने की चेष्टा की है। इन्होंने ज्ञान को 'इदम्' के प्रति 'अहम्' की सजगता के रूप में स्वीकार किया है। किन्तु, इन दो आधारों पर

---

१. *E. J. Furlong* जैसे कुछ अत्याधुनिक पाश्चात्य विचारकों ने भी ह्यूम और काण्ट की परम्परा का अनुसरण कर कल्पना पर प्रधानतः दार्शनिक दृष्टिकोण से विचार किया है और कल्पना के प्रति सौंदर्यशास्त्रीय दृष्टिकोण को नितान्त उपेक्षित स्थान दिया है। द्रष्टव्य —Imagination by *E. J. Furlong*, Professor of Moral Philosophy in the University of Dublin, New York, 1961.

२. प्रातीतिक बिम्ब को कॉलरिज ने 'ऑप्टिकल स्पेक्ट्रा' कहा है।

जब वे यथार्थ ग्रहण और तर्कात्मक ग्रहण ('रियल अण्डरस्टैंडिंग' और 'लॉजिकल अण्डरस्टैंडिंग') के नाम से ज्ञान का दो टूक विभाजन नहीं कर सके, तब इन्होंने इन दोनों के मध्य में पड़ने वाली स्थिति को, जो ऐन्द्रिय और अनीन्द्रिय—दोनों क्रियाओं का उपलब्ध हो सकती है, 'कल्पना' के नाम से अभिहित कर दिया। इस तरह इनकी कल्पना यथार्थ ग्रहण और तर्कात्मक ग्रहण के बीच की सम्बन्ध लड़ी है, जो सौन्दर्यशास्त्र की दृष्टि से विशेष उपयोगी नहीं है।'

उक्त आलोचना केवल कांट के ही कल्पना-निरूपण पर लागू नहीं होती, बल्कि यह तो एडिसन के पूर्ववर्ती प्राय सभी विचारकों के कल्पना-सिद्धान्त की सीमा है। प्लेटो के प्रसग में भी हम इस सीमा का सकेत कर चुके हैं। हमने देखा कि कला-चिन्तना के प्रारम्भिक विचारकों ने सामान्यत प्रतीति ('एपीयरेन्स') और यथार्थ ('रियलिटी') के भेद को दृष्टिगत रखते हुए कल्पना पर विचार किया है। इस दृष्टि से कल्पना एक ऐसी शक्ति प्रतीत होती है, जो किसी पदार्थ से सपृक्त आधार के बिना भी बिम्बों का विधान कर सकती है। अर्थात् कल्पना निराधार सृजन की क्षमता है। प्लेटो ऐसे दार्शनिक ने भी कल्पना के प्रति ऐसा ही दृष्टिकोण रखा था।

प्रकृति और ललित कला है। इस क्रम मे इनकी एक ध्यातव्य विशेषता यह रही कि इन्होने कल्पना और तन्निर्मित बिम्बो का सम्बन्ध 'एसोसिएशनल साइकॉलॉजी' से माना तथा कल्पना के अन्तर्भूत तत्त्वो मे स्मृति और आसंग को महत्त्वपूर्ण स्थान दिया। साथ ही, इन्होने कल्पना से मिलने वाले आनन्द (जो कलात्मक अनुकरण से प्राप्त आनन्द के साथ सादृश्य रखता है) के दो प्रकारो का निरूपण किया—'प्राइमरी प्लेजर' और 'सेकेण्डरी प्लेजर'। इनके अनुसार कल्पना का प्राथमिक आनन्द हमे वहाँ मिलता है, जहाँ हम प्राकृतिक वस्तुओ के वास्तविक प्रत्यक्ष से साधारण अनुभूतियाँ प्राप्त करते है और कल्पना का द्वितीय आनन्द हमे वहाँ मिलता है, जहाँ हम प्रत्यक्षित प्राकृतिक वस्तुओ के (कलात्मक अनुकरण द्वारा प्रस्तुत किए गए) तादृश पुन प्रत्यक्षाघायक प्रति-रूपो का अवलोकन करते है। इस तरह एडिसन द्वारा निरूपित कल्पना के द्वितीय आनन्द और कलात्मक अनुकरण से उपलब्ध होने वाले आनन्द मे कोई विशिष्ट पार्थक्य या तात्त्विक अन्तर नही दीख पडता है। हाँ, यह बात अवश्य उल्लेखनीय है कि एडिसन ने कल्पना के द्वितीय आनन्द (जिसे इन्होने प्राथमिक आनन्द की तुलना मे श्रेष्ठ स्वीकार किया है) का चाक्षुप प्रत्यक्ष, चाक्षुप सवेग और चाक्षुप बिम्ब से विशेष घनिष्ठ सम्बन्ध माना है। इस चाक्षुप सम्बन्ध की घनिष्ठता सचमुच विचारणीय है, क्योकि किसी भी कलाकार की कल्पना की श्रेष्ठता का निर्णय कल्पना मे समाविष्ट ऐन्द्रिय तत्त्वो की मात्रा से ही हो सकता है। जिस कल्पना मे ऐन्द्रिय तत्त्व जितना ही अधिक होता है, वह कल्पना उतनी ही उत्कृष्ट होती है। कल्पना का जादू यही है कि सामान्यत इन्द्रियगम्य रूप मे दु खद प्रतीत होने वाली वस्तुएँ भी कल्पना के स्पर्श से नन्दतिक सुख देने वाली बन जाती हैं। जैसे, स्विनबर्न की इस पक्ति मे—'एण्ड सोर्ड लाइक वाज द साउण्ड ऑव द आइरन विण्ड'—तलवार और लोहा भी कलात्मक बन गए है। अत एडिसन ने कल्पना की ऐन्द्रियता, विशेप कर उसके चाक्षुप पक्ष पर बल देकर चिन्तन के लिए एक समृद्ध दिशा दी है। किन्तु, निष्कर्षात्मक टिप्पणी देते हुए इतना कह देना आवश्यक है कि एडिसन ने कल्पना पर 'स्पेक्टेटर' (विशेषकर जून और जुलाई, १७१२ ई० के अक) मे जितने लेख लिखे थे, वे एक शीर्षक पर होते हुए भी फुटकर रूप मे लिखे गए थे। इसलिए उनमे एकसूत्रता का ऐसा अभाव है कि इनका दृष्टिकोण यत्र-तत्र कुछ उलझ सा गया है। पुन हम जहाँ यह कह सकते हैं कि एडिसन ने ही सर्वप्रथम कल्पना पर साहित्यिक दृष्टि से व्यवस्थित विचार किया, वहाँ हमे यह भी स्वीकार करना चाहिए कि एडिसन के कल्पना-सिद्धान्त पर हॉब्स और लॉक की उन दार्शनिक विचारणाओ का पर्याप्त प्रभाव है, जिन्हे साधारणतः 'सेन्सेशनलिज्म' के अन्तर्गत स्वीकार किया जाता है।

एडिसन के बाद कल्पना के तात्त्विक विचारकों में कॉलरिज का अत्यन्त महत्त्वपूर्ण स्थान है। किन्तु, कॉलरिज के कुछ समकालीनों, यथा वर्ड्सवर्थ, ब्लेक, शैली, कीट्स इत्यादि ने भी कल्पना पर कुछ चलदृष्टियाँ प्रस्तुत की हैं।[1] अत. इनकी संक्षिप्त चर्चा के उपरान्त हम कॉलरिज के कल्पना-सिद्धान्त की विस्तृत विवेचना करेंगे।

ब्लेक के अनुसार सहजानुभूति-सम्पन्न अन्तर्मुख व्यक्तियों की कल्पना-शक्ति अधिक समृद्ध होती है।[2] ऐसे व्यक्तियों की अन्तर्मुख सहजानुभूति (इण्ट्रोवर्टेड इण्ट्यूशन) को ब्लेक ने 'डबल विज़न' कहा है, क्योंकि सहजानुभूति-सम्पन्न अन्तर्मुख व्यक्ति के पास वस्तु-जगत् के अलावे एक भाव-जगत् भी रहता है।[3] इस तरह ब्लेक ने कल्पना के प्रसंग में सहजानुभूतिक अन्तर्मुखीनता को अतिशय

---

1. सभी रोमाण्टिक कवि—ब्लेक, कॉलरिज, वर्ड्सवर्थ, शैली और कीट्स—अन्य मान्यताओं में मतान्तर रखते हुए भी कल्पना को मुख्यता देने में एकमत हैं। अठारहवीं शताब्दि के पूर्व कविता में कल्पना को यह महत्त्व प्राप्त नहीं था। पोप, जान्सन, ड्राइडन इत्यादि ने अगर कल्पना का क्वचित् प्रयोग किया भी था, तो अत्यन्त सीमित अर्थ में। रोमाण्टिक युग, वस्तुत:, कल्पना के सीमाहीन स्फुरण और उसकी आत्यन्तिक स्वीकृति का काल है। पूर्ववर्ती युग में कल्पना के बदले न्याय-भावना (जजमेण्ट) से नियन्त्रित 'फैन्सी' का स्थान मिला था। फलस्वरूप, तत्कालीन कवि नवीन भाव-लोक के सृजन की अपेक्षा जागतिक परिस्थिति और तत्सम्बन्धित व्यक्ति-चैतन्य को ही अधिक सवेदनशील बनाकर प्रस्तुत किया करता था। अत वह अगम्य और परात्पर के उद्घाटन की अपेक्षा गोचर और अनुभूत तथ्यों का विधिवत् भाष्य प्रस्तुत करने के कारण स्रष्टा की जगह व्याख्याता की कोटि में ही रह जाता था। उसका उद्देश्य जीवन के विलोपित रहस्यों का अनावरण अथवा मूल्यांकन न होकर जीवन के वास्तव परिचित पक्षों को यथासम्भव सत्य एवं सुन्दर बनाकर उपस्थित करना था। किन्तु, रोमाण्टिक कवियों के लिए इन सब के ऊपर कल्पना का चूडान्त महत्व था। रोमाण्टिक कवियों का कल्पना में यह निष्कम्प विश्वास समकालीन जीवन-दर्शन के उदग्र व्यक्ति-बोध का एक फलितांश था। ये व्यक्तिवादी कवि कल्पना की अकूत शक्ति के ऐसे विश्वासी थे, जो इसको सिसृक्षा को जीवन और जगत् की अन्वीकृति मानते थे। यह कल्पना उन्हें सृजन की अभिनव स्फूर्ति देकर स्रष्टा बना देती और उनके सृष्ट को अप्रत्याशित शक्तिवन्त। अत. इन्होंने कल्पना के सहारे नवीन मनोजगत् की रचना कर कविता की पारम्परीण प्रवृत्तियों और प्रयोगों को खुली चुनौती दी। रोमाण्टिक कवियों की कल्पना के प्रति इस महत्त्व-दृष्टि के पीछे तत्त्व-दर्शन की प्रचुर मान्यताएँ और उनकी प्रतिक्रियाएँ थीं।—द रोमाण्टिक इमाजिनेशन, ले० सी० एम० बाउरा (द चार्ल्स इलियट नॉर्टन लेक्चर्स)।

2. द्रष्टव्य—पोएट्री एण्ड प्रोज आव विलियम ब्लेक, सम्पादक, ज्योफ्री केयनीज, लन्दन, [illegible]।

3. ब्लेक ने स्वयं कहा है—

For double the vision my eyes do see,
And a double vision is always with me
With my inward eyes, 'tis an old man grey,
With my outward, a thistle across my way

—Letter to Butts

महत्त्व दिया है। इनका तो यहाँ तक कहना है कि वस्तु-जगत् की बाह्य वस्तुएँ कल्पना-शक्ति को कुंठित कर देती है। सभवत इसी कारण ब्लेक और वड्र्सवर्थ की कल्पना-सम्बन्धी मान्यताओ मे हमे अन्तर प्रतीत होता है। वड्र्सवर्थ ने प्रकृति को कल्पना के लिए उपकारी माना है और ब्लेक ने अपकारी, क्योंकि प्रकृति सहजानुभूतिक और वस्तुगत—दोनो प्रकार के सत्यो पर एक पर्दा डाल देती है, फलस्वरूप प्रकृति की मध्यस्थता से एक अवरोध पैदा होता है। अत ब्लेक के अनुसार कल्पना-शक्ति की समृद्धि के लिये सहजानुभूति चाहिए, प्रकृति हमे कल्पना नही, कुछ प्रतीक भर दे सकती है। इस दृष्टिभेद के कारण हम पाते है कि जहाँ वड्र्सवर्थ ने कवि के लिए पर्यवेक्षण और वर्णन ('ऑब्जर्वेशन एण्ड डेस्क्रिप्शन') को महत्त्वपूर्ण माना है, वहाँ ब्लेक ने केवल कल्पना ('इमाजिनेशन · द डिवाइन विजन') को। निष्कर्ष रूप मे हम कह सकते है कि ब्लेक ने कल्पना को बहुत ही बृहत् अर्थ मे एक आध्यात्मिक विभावन माना है[1] और एक अनन्त सत्य के रूप मे कल्पना की स्थापना की है। इस प्रकार कल्पना के प्रति ब्लेक का दृष्टिकोण पूर्णत आत्मनिष्ठ और रहस्यात्मक है। इनके अनुसार कल्पना एक ऐसी प्रतिभा शक्ति है, जिसके सहारे मनुष्य विना तर्क और इन्द्रियबोध की सहायता के 'उस' अनन्त आध्यात्मिक सत्य तक पहुँच सकता है। अत इन्होने कल्पना को एक आध्यात्मिक सवेदन[2] के रूप मे स्वीकार करते हुए यह माना है कि सपूर्ण प्रकृति कल्पना के अलावे और कुछ नही है।

अन्य रोमाण्टिक कवियो ने भी कल्पना पर अपने विचार व्यक्त किए है। जैसे, वड्र्सवर्थ ने वासना के साथ कल्पना का सम्बन्ध जोडते हुए कल्पना की सर्वात्मवादी व्याख्या प्रस्तुत की है, क्योंकि वड्र्सवर्थ के लिए सम्पूर्ण प्रकृति एक जीवित सत्ता थी। इसी प्रकार शैली ने कल्पना को एक विराट् शक्ति के रूप मे ग्रहण करते हुए कल्पना के अतीन्द्रिय रूप-व्यापार की पर्याप्त व्याख्या की। कीट्स ने तो कल्पना को सत्य का हरकारा ही घोषित कर दिया। इन्होने

---

१. Blake : A Psychological Study by *W P Witcut*, London, 1946, Chapter, 'The Nature of Imagination', Pages 16-22

२. ब्लेक द्वारा निरूपित कल्पना की आध्यात्मिकता को निर्दिष्ट करते हुए *W B Yeats* ने लिखा है—"He (William Blake) had learned from Jacob Boehme and from old alchemist writers that imagination was the first emanation of divinity, 'the body of God', ('the Divine member' and he drew the deduction, which they did not draw, that the imaginative arts were therefore the greatest of Divine revelation ."—*W. B Yeats*, Essays and Introductions, London, 1961, Page 112.

कल्पना की तुलना आदम के सपने से की है। इनके अनुसार कल्पना का सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण कार्य है—सत्य का उद्घाटन। किन्तु, यहाँ हम इन सबों की चर्चा समाप्त कर कॉलरिज के कल्पना-सिद्धान्त पर विस्तृत विचार करेंगे, क्योंकि कॉलरिज ने कल्पना-सम्बन्धी विचारणाओं को एक नवीन दिशा दी और सर्वप्रथम, कल्पना के सन्दर्तिक बोध-पक्ष का ऐसा तात्त्विक उद्घाटन किया, जो आगे चलकर सौंदर्यशास्त्र के लिए महत्त्वपूर्ण उपजीव्य सिद्ध हुआ। कॉलरिज ने यह मत व्यक्त किया कि कल्पना भावानयन की एक विधि है, जो प्रायः सहृतिमूलक और सश्लेषण-प्रधान हुआ करती है। इसलिए कल्पना जीवन में चिन्तन और क्रिया के बीच एक रागात्मक आन्दोलन प्रस्तुत करती रहती है। कलाओं में यही कल्पना परिवृत्ति की आश्रयगत अनुभूति को पाठक, दर्शक, श्रोता अथवा सहृदय तक सक्रमित या प्रेषित करने का साधन और माध्यम बनाती है। अतः कल्पना को कला के सर्वोपरि मूल्यों का मूल अधिकरण मानना चाहिए। कॉलरिज ने यह विचार भी व्यक्त किया कि कल्पना केवल कवियों की स्वायत्त वस्तु नहीं है। यह तो सामान्य ज्ञान की सहचरी है। यह अल्पाश में शब्द-रक अकवियों के पास भी रहती है। इस तरह कल्पना सामान्य बोधात्मक अनुभूतियों का विस्तार है। कांट ने भी कल्पना की सश्लेषण-वृत्ति में बोध की अवस्थिति को स्वीकार किया है। किन्तु, हम देख चुके हैं कि कांट अपने चिन्तन-क्रम में कल्पना के कलात्मक पक्ष को उद्घाटित करने में किस प्रकार असमर्थ सिद्ध हुए।

कॉलरिज का कल्पना-सिद्धान्त 'बायग्राफिया लिटरारिया' के तेरहवें परिच्छेद में मिलता है,[1] जिससे यह पता चलता है कि इनका 'प्राइमरी इमाजिनेशन'[2] 'गेस्टाल्ट साइकॉलॉजी' से अनुगत है, क्योंकि उसमें विश्लेषण नहीं सश्लेषण और अन्वीक्षा की प्रधानता है। इस 'प्राइमरी इमाजिनेशन'

का सम्बन्ध सम्पूर्ण मानव-प्रत्यक्ष से है जब कि 'सेकेण्डरी इमाजिनेशन' का सम्बन्ध मनुष्य की चेतन इच्छा ('कॅन्शस विल') से है। इस प्रकार कॉलरिज ने कल्पना को मनुष्य की उस सर्वोत्कृष्ट शक्ति के रूप मे स्वीकार किया है, जो मनुष्य को उसकी सम्पूर्णता मे क्रियमाण बना देती है। अत हम कह सकते हैं कि कॉलरिज ने एक कलाकार-दार्शनिक की भूमिका मे रहकर कल्पना की सौंदर्यशास्त्रीय और आस्तिक व्याख्या की है।

कॉलरिज की कल्पना-सम्बन्धी प्रारम्भिक विचारणाओ पर डेविड हर्ट्ले की दार्शनिक मान्यताओ का—विशेषकर आसग-सिद्धान्त—'थ्योरी ऑव एसोसिएशन' का प्रचुर प्रभाव है, जिसे कॉलरिज ने आगे चलकर काण्ट से प्रभावित होने के कारण लगभग छोड दिया। प्रारम्भ मे कॉलरिज पर हर्ट्ले का यह प्रभाव इतना मुखर था कि कॉलरिज ने अपने प्रथम पुत्र का नाम भी हर्ट्ले रखा था।[1] किन्तु, कुछ काल पश्चात् जब कॉलरिज ने मनन और निदिध्यासन के सहारे दार्शनिक चिन्तन की गहराइयो मे प्रवेश किया, तब इन्होने हर्ट्ले के प्रभाव से मुक्ति पा ली। इसलिए कॉलरिज के उत्तरकालीन दार्शनिक ऊहापोह और निर्वचन मे हम काण्ट, फिख्ते और शेलिग का सीधा प्रभाव पाते हैं। कुल मिलाकर कॉलरिज अपनी उत्तरकालीन विवेचनाओ मे हमारे समक्ष एक आदर्शवादी आध्यात्मिक विचारक के रूप मे आते है।[2] यो तो काव्य, कला और कल्पना के सम्बन्ध मे इनके विचार यत्र-तत्र और छिटपुट मिलते हैं, जिनमे से कुछ स्वतोव्याघात दोष से पीडित हैं, तथापि इनके ग्रन्थो, लेखो, भाषणो, पत्रो, इत्यादि के आधार पर एक निश्चित नन्दतिक दृष्टिकोण का सकेत मिलता है। यह अवश्य है कि तत्त्व-चिन्तन ('मेटाफिजिक्स') से अतिशय प्रभावित रहने के कारण इनके विचारो मे भौतिक ऊर्जा का अभाव है, जिससे इनकी मान्यताएँ कभी-कभी अस्पष्ट प्रतीत होती है।

---

१. 'बायग्राफिया लिटरारिया', ले० कॉलरिज, सम्पादक अर्नेस्ट रीज, जे० एम० डेण्ट एण्ड सन्स, लिमिटेड, लन्दन, १९३९, पृ० ९४।

२. कॉलरिज ने कल्पना के क्षेत्र को 'The holy jungle of transcendental metaphysics कहा है। कॉलरिज की इस आध्यात्मिकता से अनेक विचारक असहमत हैं, किन्तु, असहमत होकर भी वे कॉलरिज के कल्पना-सिद्धान्त का पूर्णतः खण्डन नहीं कर सके हैं। उदाहरणार्थ, *J L Lowes* ने कॉलरिज की आध्यात्मिकता के प्रति असहमति की घोषणा करके भी अपनी सम्पूर्ण पुस्तक में कॉलरिज के कल्पना-सिद्धान्त की विवृति की है और अन्त में यह स्वीकार किया है कि ग्रन्थ लिखते समय उसके अन्तर्मन में सर्वदा कॉलरिज का कल्पना-सिद्धान्त विराजमान रहा है।—The Road to Xandu (A Study in the Ways of Imagination) by *John Livingston Lowes*, second revised edition, Constable, London 1951, Page 434

कॉलरिज ने आनन्द को (सत्य को नहीं) काव्य का आशु प्रयोजन माना है। यह आनन्द काव्य के खण्ड तथा सम्पूर्ण में एकरस अनुस्यूत रहता है और काव्य-निरुद्ध सौंदर्य में उत्थित होता है। पुन तत्त्व-चिन्तन से अत्यधिक प्रभावित रहने के कारण इन्होंने काव्योपलब्ध आनन्द को एक प्रकार का बौद्धिक आनन्द ('इण्टेलेक्चुअल प्लेजर') माना है। काव्य में इस आनन्द का आगम प्रतिवादों के समन्वय या एकीकरण ('यूनियन ऑव ऑपाजिट्स') से होता है। प्रतिवादों के समन्वयन वाले सिद्धान्त के निरूपण में कॉलरिज पर पायथागोरस के सहृति-सिद्धान्त ('पायथागोरियन डॉक्ट्रिन ऑव हार्मनी') का प्रभाव परिलक्षित होता है। इस तत्त्व-चिन्तक दृष्टि की प्रधानता के कारण कॉलरिज ने बुद्धिपर्यवसायी सवेग अथवा आवेग को अनियत्रित सवेग अथवा आवेग की तुलना में सार्वत्रिक वरिष्ठता प्रदान की है। इनके अनुसार 'कल्पना' के द्वारा ही प्रतिवादों के बीच समन्वयन या एकीकरण स्थापित किया जाता है। इस वाद-प्रतिवाद-समन्वय या विरोधि-समागम को स्थापित करने की क्षमता ही कल्पना की प्रकृष्ट शक्ति है।[१]

उपर्युक्त निष्कर्ष के रूप में हम कॉलरिज की कल्पना-सम्बन्धी तीन विशिष्ट मान्यताओं को उपस्थित कर सकते हैं। प्रथमत कल्पना किसी भी निश्चित विधान से परे है। कोई कवि या कलाकार कल्पना के लिए एक निश्चित

विधान, प्रकार या स्थापत्य निरूपित नहीं कर सकता है। द्वितीयत कल्पना में जो ऐक्य-सृजन या विरोधि-समागम को स्थापित करने की शक्ति है, वह तर्क-निष्ठ अथवा प्रणालीबद्ध न होकर सहजानुभूतिक अन्तर्दृष्टि के अधीन है। तृतीयत यह कल्पनान्तर्गत सहजानुभूतिक अन्तर्दृष्टि ही काव्यनिबद्ध वस्तु अथवा पात्र की अनन्वयता या विशिष्टता को व्यंजनागर्भ बनाती है।

उक्त मान्यताओं की वैचारिक पीठिका प्रस्तुत करते हुए कॉलरिज ने कहा है कि मनुष्य की सम्पूर्ण विचारणाओं के दो आधार हैं—एक आधार है बाह्य जगत् या आवेष्टन (जिसे कॉलरिज ने 'नेचर' की सज्ञा दी है) और दूसरा आधार है वह आत्मनिष्ठ शक्ति, जिसे कॉलरिज ने 'सैल्फ' या 'इण्टेलिजेन्स' का नाम दिया है। कल्पना का काम इन दो आधारों के बीच (कला को माध्यम के रूप मे गृहीत करते हुए) विनिमयशील मध्यस्थता या दौत्य करना है। अर्थात् कल्पना इदम् और अहम्—अथवा आवेष्टन और भावक या बाह्य जगत् और आत्म-जगत् के बीच एक सहृदय दूती का कार्य करती है। इस तरह आवेष्टन से सम्बन्ध रखने के कारण ही कल्पना मे ऐन्द्रिय प्रत्यक्ष का महत्त्वपूर्ण योग रहता है। इसलिए कॉलरिज का 'प्राइमरी इमाजिनेशन' (प्रथम कल्पना) प्रत्यक्ष (पर्सेप्शन) का ही नामान्तर है। अत इसे हम प्रत्यक्ष बोधाश्रित कल्पना भी कह सकते है। फलस्वरूप यह निष्पन्न होता है कि कॉलरिज का 'सेकेण्डरी इमाजिनेशन' (द्वितीय कल्पना) ही 'इमाजिनेशन प्रॉपर' है। 'प्राइमरी' कल्पना तो मात्र ऐन्द्रिय प्रत्यक्ष से सम्बन्धित होने के कारण, मुख्यत, विज्ञान का उपजीव्य है। अत काव्य एव अन्य कलाओं का सम्बन्ध कॉलरिज की 'सेकेण्डरी' कल्पना से है, क्योंकि 'प्राइमरी' कल्पना का सम्बन्ध इन्द्रियगोचर जगत् के यथातथ्य रूप अथवा प्रारम्भिक प्रभाव-सवेदनो से है, जब कि 'सेकेण्डरी' कल्पना इन्द्रिय-गोचर जगत् के प्रत्यक्षो एव प्रभाव-सवेदनो को एक मानसिक धरातल पर विश्लिष्ट और सश्लिष्ट कर एक अर्थ तथा निर्वचन प्रदान करती है।[1] इस तरह 'प्राइमरी' कल्पना प्रत्यक्ष मात्र है, जो सभी प्रकार के ज्ञान मे उप-स्थित रहती है। किन्तु, 'सेकेन्डरी' कल्पना अर्थात् काव्योचित कल्पना अपने

---

१ यहा यह ध्यातव्य है कि कॉलरिज द्वारा निर्दिष्ट 'सेकेण्डरी' कल्पना ही संस्कृत काव्यशास्त्र में निरूपित कवि-प्रतिभा है। हम काण्ट, कॉलरिज और सस्कृत काव्यशास्त्र के कल्पना सम्बन्धी पारिभाषिक शब्दों की तुलना करते हुए कह सकते हैं कि काण्ट का *Productive Imagination* कॉलरिज के लिए *Primary Imagination* है और यह सस्कृत काव्यशास्त्र के सविकल्पक प्रत्यक्ष से अभिन्न है। इसी तरह काण्ट का *Aesthetic Imagination* कॉलरिज के *Secondary Imagination* से प्रभूत साम्य रखता है, जिसके अर्थ को हम सस्कृत काव्यशास्त्र की 'कवि-प्रतिभा' से व्यक्त कर सकते है।

मूल मे इन प्रत्यक्ष को स्वीकार करने के कारण 'प्राइमरी' कल्पना से किंचित् साम्य रखने पर भी उसमे मात्रा (डिग्री) मे भिन्न है। कॉलरिज ने आगे चलकर यह भी सिद्ध किया है कि इन दोनो कल्पनाओ की प्रक्रिया-पद्धति (मोड ऑव ऑपरेशन') मे भी अन्तर है। इस प्रकार इन दो प्रकार की कल्पनाओ के बीच कॉलरिज का पार्थक्य-निरूपण स्वतोव्याघात दोष से पीडित मालूम पडता है, क्योकि एक ओर यह कहा गया कि 'प्राइमरी' कल्पना और 'सेकेण्डरी' कल्पना के बीच 'काइण्ड ऑव इट्स एजेन्सी' मे पूर्ण साहश्य है और दूसरी ओर यह कहा गया कि उक्त प्रकार की दोनो कल्पनाओ के बीच 'मोड ऑव इट्स ऑपरेशन' मे एकदम अन्तर है। अत यह प्रश्न विचारणीय हो जाता है कि 'काइण्ड ऑव इट्स एजेन्सी' और 'मोड ऑव इट्स ऑपरेशन' मे क्या कोई तात्त्विक अन्तर है ? तनिक गहराई मे जाने पर कॉलरिज के कथन मे ही स्पष्ट होता है कि इनकी दृष्टि मे 'प्राइमरी' कल्पना और 'सेकेण्डरी' कल्पना के बीच एक स्पष्ट अन्तर है, जिसे किसी कारणवश ठीक से अभिव्यक्ति नही मिल सकी। अन्तर यह है कि 'सेकेन्डरी' कल्पना अर्थात् काव्योचित कल्पना मे एक ध्वसात्मक पक्ष (डेस्ट्रक्टिव साइड) रहता है,' जो 'प्राइमरी' कल्पना मे नही रहता है। इस तरह 'प्राइमरी' कल्पना मे केवल निर्माण है, जब कि 'सेकेण्डरी' कल्पना मे कलाकार की चेतन इच्छा (कॉन्शस विल) के सहयोग से सर्वप्रथम (प्राप्त प्रत्यक्षो के बीच) ध्वस आता है, और तब उन ध्वसावशेषो के समीकरण मे एक नूतन निर्माण होता है। अर्थात्, 'सेकेण्डरी' कल्पना दैनन्दिन प्रत्यक्षो को तोडकर जोडती है। जोडने के पहले यह तोडना या निर्माण के पहले यह ध्वस ही 'सेकेण्डरी' कल्पना का विशिष्ट और विभाजक लक्षण है। निष्कर्ष यह निकला कि प्रत्यक्षो को 'तोडने' के कारण 'सेकेण्डरी' कल्पना 'प्राइमरी' कल्पना से 'मोड ऑव ऑपरेशन' मे भिन्न है और जानकर तोडे गए प्रत्यक्षो को स्वेच्छया जोडने के कारण 'सेकेण्डरी' कल्पना 'प्राइमरी' कल्पना से 'काइण्ड ऑव इट्स एजेन्सी' मे पूर्णत समान है। यद्यपि हमे यह मानना होगा कि 'प्राइमरी' कल्पना के समान 'निर्माण' ही मूलत 'सेकेण्डरी' कल्पना का उद्देश्य है, 'ध्वस' तो उसका आशिक हेतुभूत मध्यवर्ती है। 'सेकेण्डरी' कल्पना अर्थात् काव्योचित कल्पना 'ध्वस' की डगर से गुजरकर 'निर्माण' के राजपथ पर पहुँचती है। इस 'निर्माण' मे 'नवीनता से उत्पन्न रमणीयता' (चार्म ऑव नावल्टी) रहती है। अत 'प्राइमरी' और 'सेकेण्डरी' कल्पना के इसी भेद को हम शब्दान्तर से दूसरी तरह भी व्यक्त कर सकते हैं। 'प्राइमरी' कल्पना के द्वारा हम परिचित प्रत्यक्षो के सहारे परिचित जगत् मे

ही रहते है, जबकि 'सेकेण्डरी' कल्पना के द्वारा हम परिचित प्रत्यक्षो के सहारे किसी रमणीय अपरिचित जगत् मे पहुँच जाते हैं। इस प्रकार 'प्राइमरी' कल्पना का सम्बन्ध हमारे व्यावहारिक जीवन से अधिक है और 'सेकेण्डरी' कल्पना का सम्बन्ध हमारे मानसिक अथवा चिन्तनात्मक (कॉन्टेम्प्लेटिव) जीवन से अधिक है।

तुलनात्मक दृष्टि से देखने पर ऐसा लगता है कि कॉलरिज की कल्पना-सम्बन्ध विचारणाओ पर प्लेटो, प्लोटाइनस और पेटर स्टेरी के भी विचार का प्रभाव पडा है, यद्यपि कॉलरिज की मौलिकता पर किसी प्रकार की शका नही की जा सकती, क्योकि इन्होने कल्पना को न तो ड्राइडन की तरह 'अन्वेपरा' (इन्वेन्शन) के अर्थ मे लिया है, न एडिसन अथवा बर्गसां की तरह, क्रमश. मानसिक चित्र-चय अथवा 'अवास्तविक' के प्रतीति-चिन्तन के ही अर्थ मे। कॉलरिज के पूर्ववर्त्ती विचारको मे मुरेटोरी ने भी कल्पना पर समर्थ विचार किया है,[1] किन्तु, कॉलरिज ने इनकी तुलना मे नयी जमीन काटी है। कॉलरिज की सब से बडी विशेपता यह है कि इन्होने कल्पना और 'फैन्सी' के पार्थक्य को युक्तियुक्त ढग से स्वीकार किया है। हालांकि इनका यह पार्थक्य-निरूपण प्रोफेसर लोस जैसे विद्वानो को मान्य नही है।[2] इनकी उक्त मान्यता से असहमति रखने वाले विचारको, जैसे लोस या स्वरक्रोम्बी का यह मत है कि 'फैन्सी' और कल्पना मे कोई तात्त्विक भेद नही, केवल मात्रा-भेद है, जो विवक्षित सवेग की शक्ति और गुणात्मकता के न्यूनाधिक्य पर निर्भर करता है। अर्थात् फैंसी' कल्पना का ही एक'अलीक प्रयोग' है। एफ० आर० लीविस ने भी कॉलरिज द्वारा प्रस्तुत किए गए कल्पना और फैंसी के पार्थक्य-निरूपण को कुछ अस्पष्ट माना है। इनका कहना है कि कॉलरिज ने सिद्धान्तत जिस पार्थक्य को निरूपित किया है, उसे वें व्यावहारिक विनियोग नही दे सके हैं।[3]

---

१. 'कॉलरिज आन इमाजिनेशन', ले० आइ० ए० रिचर्ड्स, केगन पॉल, लन्दन, १९३४, पृ० २१-३१।

२. द रोड टु भण्डू (Xandu), ले० प्रो० लिविंग्स्टन लोस, पृ० १०३।

३. 'द इम्पॉर्टेन्स ऑव स्क्रुटिनी', एडिटेड बाय एरिक बेण्टले, जार्ज डब्ल्यू स्टेवार्ट, पब्लिशर, इन्ज० न्यूयॉर्क, १९४८, पृ० ८१। फिर भी अनेक आधुनिक विचारक कॉलरिज द्वारा स्थापित कल्पना और फ़ैंसी के पार्थक्य को स्पष्टरूपेण स्वीकार करते हैं। उदाहरणार्थ, डा० देवराज ने (कॉलरिज के निर्दिष्ट सकेतों को ग्रहण करते हुए) फ़ैंसी और कल्पना के अन्तर को इस प्रकार उपस्थित किया है—"हमारे मत में वैचित्र्यमूलक या खामखयाली कल्पना (फ़ैंसी) तथा यथार्थ कल्पना (इमाजिनेशन) का अन्तर इस प्रकार है। जहाँ द्वितीय कोटि की कल्पना (इमाजिनेशन) बाह्य अथवा आन्तरिक वास्तविकता का पुनर्गठन स्वयं यथार्थ के नियमों के अनुसार करती है, वहां प्रथम कोटि की कल्पना (फ़ैंसी) यथार्थ के तत्त्वों को

फैंसी और कल्पना पर हम आगे चलकर विस्तार से विचार करेंगे, अतः इस चर्चा को अभी यहीं समाप्त कर देना उचित है। कॉलरिज के कल्पना-सिद्धान्त को स्पष्टता के साथ समझने के लिए हमें वस्तु और भावक के भावात्मक एकीकरण, जिसे कॉलरिज ने 'कोलेसेन्स ऑव एन ऑब्जेक्ट विद ए सब्जेक्ट' कहा है, पर भी विचार कर लेना चाहिए। यह भावात्मक एकीकरण बहुलांश में भावक, द्रष्टा या प्रमाता की उस ग्राहिका शक्ति पर निर्भर करता है, जिसका कार्य दृश्य वस्तु के छिपे अर्थ-बोध ('इनर सेन्स') को स्वीकार करना है। इस अर्थ-बोध को ग्रहण करने के पूर्व भावक को तीन-चार प्रकार की मनःस्थितियों से गुजरना पड़ता है—प्रथम सन्निकर्ष का संवेदन-सुख, प्राप्त संवेदनों अथवा प्रभावों का मानसिक प्रसार, प्राप्त मानसिक बिम्बों का किसी धारणा अथवा विचारणा से संयोग, इत्यादि। इतनी विभिन्न मनःस्थितियों से गुजरने की अनिवार्य आवश्यकता के कारण ही विभिन्न व्यक्तियों में निहित अर्थ-बोध को ग्रहण करने की अलग-अलग क्षमता रहती है। कॉलरिज ने कल्पना के प्रसंग में उस घनीभूत भावात्मक अर्थ बोध को वरीयता प्रदान की है, जो प्रमाता और प्रमेय के पार्थक्य को मिटाकर दोनों को एक कर देता है।[१] इस तरह कॉलरिज उन आत्मनिष्ठ विचारकों की कोटि में आते हैं, जो बाह्य वस्तु को भी द्रष्टा की आत्म-चेतना का प्रक्षेपण आरोपण या विस्तार माना करते हैं।

अब कॉलरिज की कल्पना-संबंधी मान्यताओं को हम यथासंभव संक्षेप में इस प्रकार रख सकते हैं—कल्पना ज्ञान (सभी प्रकार के ज्ञान) के लिये एक आधारभूत, अपरिहार्य और प्राथमिक तत्त्व है। कोई भी ज्ञान अपने प्राथमिक रूप में कल्पना से मुक्त नहीं हो सकता। अतः कल्पना पर आश्रित कलाकार के कार्य-कलाप सामान्य जनों की मानसिक दैनन्दिनी या कार्यों की तुलना में विलक्षण नहीं हैं। जिस तरह सामान्य जीवन में वस्तुओं का प्रत्यक्ष हमें भाव-संचालित करता है, उसी तरह कवि भी उन्हीं वस्तु-प्रत्यक्षों से संचालित होकर वस्तु-जगत् या अपनी परिवृत्ति का स्थूल ज्ञान प्राप्त करता है। अतः लोगों की यह धारणा भ्रान्त है कि कवि कल्पना जैसी किसी विलक्षण उन्मादना के

अधिक भिन्न स्वच्छन्दता से प्रकाशित कर देता है। टॉल्स्टाय का एना केरेनिना उपन्यास यथार्थ रचना की सृष्टि है, जब कि 'अलिफलैला' कैल्पनिकमूलक रचना (फैंसी) की।"—संस्कृति का दार्शनिक विवेचन, ले० डॉ० देवराज, प्रकाशन ब्यूरो, उत्तरप्रदेश, १९५७, पृ० २३१।

[१] इस प्रसंग में अनेक आलोचक कॉलरिज के ऊपर शेलिंग का निश्चित प्रभाव स्वीकार करते हैं।—लिटरेरी क्रिटिसिज्म : ए शार्ट हिस्ट्री, ले० विलियम के० विम्सेट जूनियर एण्ड क्लीन्थ ब्रुक्स, पब्लिशर्स बॉय अल्फ्रेड ए० नॉफ, न्यूयार्क, १९५६, पृ० ३८५।

वशीभूत होने के कारण एक विलक्षण प्राणी होता है और वह आजीवन अनेक विभ्रमो तथा भ्रान्तियो का शिकार रहता है। किन्तु, वास्तविकता यह है कि जीवन और जगत् का सामान्य, वास्तविक और प्राथमिक ज्ञान ही कलाकार की कल्पना के लिए आधारशिला का काम करता है। अतः कल्पना की उपस्थिति के कारण काव्य को जीवन से दूर या पृथक् नही मानना चाहिए। साराश यह है कि दैनिक जीवन के समान वस्तु-प्रत्यक्ष का मानसिक विस्तार ही कवि की कल्पना है। यह सूत्र कॉलरिज की कल्पना-सबधी समग्र मान्यताओ की रीढ है। उसी सूत्र के आधार पर कॉलरिज ने यह सिद्ध किया है कि जीवन तथा जगत् के प्रति मनुष्य की सभी सचेत प्रत्यर्थताओ और प्रत्यक्ष मे कल्पना की सर्वव्यापी और सार्वत्रिक उपस्थिति रहती है। अतः कविता की अवमानना करना या कल्पना को ठुकराना जीवन-जगत् के दैनन्दिन वस्तु-प्रत्यक्षो की उपेक्षा करना है और कल्पना के द्वारा हमे अपने अनुभूति-प्रवण जीवन मे जो एक प्रकार का सागीतिक आनन्द-बोध ('सेन्स आव म्यूजिकल डिलाइट') मिलता है, उससे अपने को वचित करना है। सभवत., वस्तु-प्रत्यक्षो के बीच कल्पना की इसी सार्वत्रिक विद्यमानता के कारण कॉलरिज ने कल्पना को प्राइमरी एजेण्ट आव ऑल पर्सेप्शन कहा है।[1]

कॉलरिज के बाद भी अनेक आलोचको और चिन्तको ने कल्पना पर विचार किया है, जिनमे रस्किन, फ्रायड, युंग, ब्रैड्ले और आइ० ए० रिचर्ड्स उल्लेखनीय हैं, किन्तु हम इनकी अलग-अलग चर्चा न कर (कारण, यह हमारी प्रयोजन-सिद्धि के लिए आवश्यक नही है) इनकी कल्पना-सबधी मान्यताओ के समवेत रूप को सक्षेप मे प्रस्तुत करेंगे।

आधुनिक कला-विचारको ने कल्पना के साथ अनुभूति पर विशेष बल दिया है। इनकी दृष्टि मे अनुभूति-वेष्टित कल्पना ही वरेण्य होती है। दूसरी बात यह है कि आधुनिक कला-चिन्तको, जैसे आई० ए० रिचर्ड्स इत्यादि ने मनोवैज्ञानिक दृष्टि को प्राथमिकता देते हुए कल्पना के ऐन्द्रिय बोध को विशेष महत्त्व दिया है। तीसरे, आधुनिक विचारक बिम्बविधान का सम्पूर्ण श्रेय कल्पना को देते हैं। चौथी बात यह कि इनकी दृष्टि से भाषा और अभिव्यक्ति

---

१. सभी प्रत्यक्षों (पर्सेप्शन) में कल्पना की इस सार्वत्रिक विद्यमानता के प्रति काण्ट ने भी ऐसी ही धारणा व्यक्त की है।—'सेप्टिसिज़्म (Scepdticism) एण्ड पोयेट्री', ले० डी० जो० जेम्स, जार्ज एलेन एण्ड अन्विन, लन्दन, १९६०, पृ० ३३-३४। साथ ही, प्रत्यक्ष (पर्सेप्शन) की दार्शनिक विवेचना के लिए द्रष्टव्य—'द फेनोमेनोलॉजी ऑव माइण्ड', ले० जी० डब्ल्यू एफ० हीगेल, अनुवादक, जे० बी० बेली (Baillie), जार्ज एलेन एण्ड अन्विन, लन्दन, १९५५, में (पर्सेप्शन) शीर्षक निबन्ध, पृ० १६२-१७८।

की जितनी बारीकियाँ हैं, सभी कल्पना के फल हैं। कल्पना के ही सहारे कवि भाषा और शब्दो में नए अर्थ भरता है[1] अत. इन विचारको के दृष्टिकोण से सहमत होकर सोचने पर भारतीय काव्यशास्त्र मे बहुधा विचारित वाग्-वैदग्ध्य, वक्रोक्ति, चमत्कार सृष्टि इत्यादि इस कल्पना के ही परिणाम सिद्ध होते हैं। इस प्रकार आधुनिक विचारक कथोत्थ अथवा उत्पाद्य प्रसगो के निर्माण से लेकर बिम्ब-विधान, प्रतीक-चयन और रूपक-सृष्टि तक मे कल्पना को ही शीर्षस्थान देते हैं।[2]

इस क्रम मे हिन्दी के आधुनिक आलोचको के कल्पना-विवेचन पर विचार कर लेना उचित प्रतीत होता है, क्योकि इनमे से अधिकाश ने पाश्चात्य, विशेषकर आग्ल विचारको का ही अनुगमन किया है। हाँ, शुक्ल जी ऐसे एकाध मनीषी हैं, जिन्होंने पश्चिम की बातो को ज्यो का त्यो नही रख दिया, बल्कि उन्हें पचाकर और समीकृत कर अपने मौलिक चिन्तन के सहयोग से एक नया रूप भी दिया। यो, श्यामसुन्दरदास जी ने भी कल्पना पर विचार किया है, किन्तु, इनका चिन्तन गल्प के उदाहरण-जैसा है और उसे अभिव्यक्त करने की भाषा-शैली अशास्त्रीय है। इन्होंने कल्पना का स्वरूप स्पष्ट करते हुए लिखा है—"दार्शनिको ने सब प्रकार के ज्ञान की पाँच अवस्थायें मानी हैं परिज्ञान, स्मरण, कल्पना विचार और सहजज्ञान। सबसे पहले हमे बाह्य पदार्थों का ज्ञान अपनी ज्ञानेन्द्रियो के द्वारा होता है। जब हम किसी मनुष्य के सामने जाते है, तब हमारे नेत्रो के द्वारा उसका प्रतिबिम्ब हमारे मन पर पड़ता है। इस प्रकार के ज्ञान को परिज्ञान कहते हैं। यदि हमने उस मनुष्य को ध्यान से देखा है, तो पीछे से आवश्यकता पड़ने पर स्मरण-शक्ति की सहायता से उस मनुष्य के रूपादि का कुछ ध्यान कर सकते हैं।·· मान लीजिये कि उक्त मनुष्य एक अगरेज है। हमने एक सन्यासी को भी देखा है और हमे उस सन्यासी के रूप, आकार तथा उसके वस्त्रो के रग का स्मरण है। अब हम चाहें तो अपने मन मे उस अगरेज का सूट-बूट छीनकर उस सन्यासी का गेरुआ वस्त्र पहना सकते हैं और तब हमारी मानसिक दृष्टि के सामने एक अगरेज सन्यासी का चित्र उपस्थित हो जाता है। मन की एक

१ "प्रोजेक्शन ऑव ओरिजिन इन टु वर्ल्ड इज इसेंस ऑव इमाजिनेटिव प्रासेस।"—'फॉर्मेशन ऑव इमाजिनेशन', ग्रा० ब्लो० रिवन्स, पृ० ८६।

२. कुछ आधुनिक विचारक कल्पना को एक ऐसी रचनात्मक शक्ति के रूप में स्वीकार करते हैं, जिसके द्वारा सामाजिक अभ्युदय और लोक-मंगल की आशु सिद्धि होती है। उदाहरण के लिए द्रष्टव्य—'रिफ्लेक्शन्स इन ए मिरर' (सेकण्ड सीरीज) ले० चार्ल्स मार्गन, मैकमिलन एण्ड को०, लन्दन, १९४६ में संग्रहीत 'क्रिएटिव इमाजिनेशन' शीर्षक निबन्ध, पृ० ७१-६७।

विशेष क्रिया से स्मरण-शक्ति द्वारा सचित अनुभवो को विभक्त कर और फिर उनके पृथक्-पृथक् भागो को इच्छानुसार जोडकर हमारे मन ने एक नवीन व्यक्ति की रचना कर ली, जिसका अस्तित्व बाह्य-जगत् मे नही है। मन[1] की इस क्रिया को कल्पना कहते है।" निश्चय ही, कल्पना के स्वरूप का यह स्पष्टीकरण अव्याप्तिग्रस्त है, क्योकि उक्त उदाहरणशील विश्लेषण मे जो कुछ कहा गया है, वह कल्पना की एक-दो खण्डवृत्ति है (जैसे—परस्थापन या सयोगीकरण) कल्पना का समग्र रूप नही। पुन **श्यामसुन्दरदास जी** ने **'साहित्यालोचन'** के अन्तर्गत 'कवि-कल्पना' शीर्षक उपखण्ड मे जहाँ कल्पना के महत्त्व, कल्पना की सत्यता, कल्पना-शक्ति से सौन्दर्यलालसा के उद्दीपन, कल्पना और प्रकृति तथा कल्पना मे ज्ञान के समजन, इत्यादि पर विचार किया है, वहाँ चिन्ता से अधिक लेखक का कवित्व ही फूट पडा है।[2] अत **श्यामसुन्दरदास जी** के विवेचन से हमे कल्पना के विचार-विश्लेषण के निमित्त कोई तात्त्विक प्रकाश नही मिलता है।

यह तात्त्विक प्रकाश हिन्दी आलोचको के बीच **शुक्ल जी** के कल्पना-निरूपण से सर्वाधिक मिल पाता है। अत यहाँ हम **शुक्ल जी** के कल्पना-सिद्धान्त पर तनिक विस्तार मे विचार करने की चेष्टा करेंगे। **शुक्ल जी** के अनुसार काव्य का सारा रूप-विधान कल्पना पर निर्भर रहता है। इस कल्पना का आविर्भाव प्रकृति तथा मन के पारस्परिक सबधो से होता है।[3] किन्तु,

---

१. मन और कल्पना के सम्बन्ध में भारतीय दार्शनिकों की दृष्टि से आज और भी विचार-विमर्श की अपेक्षा है। जब त्रिगुणात्मक मन में निसर्ग-चचल गुणों का न्यूनाधिक्य होता है, तब कल्पना की अनेक भूमिकाओं का आविर्भाव होता है। अत. मन सम्बन्धी भारतीय ज्ञान के विशिष्ट अध्येताओं को चाहिए कि वे मन और कल्पना की सापेक्षता पर विस्तृत विचार करें, जिससे यह स्पष्ट हो जाय कि विभिन्न प्रत्यक्ष-वृत्तियों—प्रमाण, विपर्यय, विकल्प, निद्रा, स्मृति इत्यादि के आधार पर निरूपित मन के विभिन्न प्रकारों—क्षिप्त, मूढ, विक्षिप्त, एकाग्र और निरुद्ध—से तथा मधुमती, मधुप्रतीका, विशोका, संस्कारशेषा, इत्यादि मन की विभिन्न अवस्थाओं से कल्पना का क्या सम्बन्ध है।

२ दो-तीन उदाहरण देखिए :—क. "विज्ञान में जो बुद्धि है, दर्शन में जो दृष्टि है, वही कविता में कल्पना है।" ख "कल्पना सत्य होनी चाहिए और यह सत्य की साधना बडी ही दुस्साध्य है। प्रकृति की विस्तृत, दुर्गम निधि से सत्य कल्पना के रत्न चुन लेना और चुनकर कविता में इस भाँति सजा देना कि वह लोक-हृदय का हार बन जाय, साधारण कवियों का काम नहीं है।" ग. ससार के कवियों ने अपनी प्रतिभा की स्वतन्त्र गति से मनुष्य की भिन्न-भिन्न रुचि के लिए सामग्री एकत्र की है और भाँति-भाँति से उसकी सौदर्य-लालसा को उद्दीप्त किया है तथा उसकी कल्पना शक्ति को वास्तविक जीवन का अलकार बना दिया है।"—साहित्यालोचन, ले० श्यामसुन्दर दास, इण्डियन प्रेस, प्रयाग, सवत् २००८, पृष्ठ १०३-१०५।

३. "इमाजिनेशन कम्स फ्रॉम द माइण्ड्स रेस्पॉन्स टु नेचर।"—'कॉलरिज ऑन इमाजिनेशन', आइ० ए० रिचर्ड्स, पृ० १२७।

शुक्ल जी ने इन परिप्रेक्ष्यों के अलावे कल्पना पर रस-दृष्टि से भी विचार किया कि रसनिष्पत्ति में कल्पना का योग क्या है, क्योंकि ये आमूलचूल रसवादी थे। इन्होंने 'काव्य में रहस्यवाद' शीर्षक निबंध में लिखा है—''विलायती साहित्य में कल्पना की धूम देखकर कुछ लोग कहते हैं कि 'वाक्य रसात्मक काव्यम्' में कल्पना-पक्ष बिल्कुल छूट गया है। पर जो लोग रस-पद्धति को जानते हैं, वे आधुनिक मनोविज्ञान द्वारा निरूपित भाव के स्वरूप से भी परिचित हैं। वह एक वृत्ति-चक्र है, जिसके अन्तर्गत प्रत्यय, अनुभूति, इच्छा, गति या प्रकृति और शरीर-धर्म आते हैं। इस प्रकार स्पष्ट है कि काव्य के सम्पूर्ण विभाव और अनुभाव कल्पना द्वारा ही योजित होते हैं। दूसरी ध्यातव्य बात यह है कि शुक्ल जी ने काव्य के उपादानों में भाव को छोड़कर शेष सभी को कल्पना की सीमा के अन्तर्गत माना है। किन्तु, एक अवस्था में इन दोनों—भाव और कल्पना—का भी समीकरण होता है। इसे संकेतित करते हुए शुक्ल जी ने लिखा है कि रसकाल में दोनों (भाव और कल्पना) का युगपत् अन्योन्याश्रित व्यापार होता है।[1] तदन्तर, इन्होंने कल्पना के दो मुख्य प्रकारों का निरूपण किया है—विधायक कल्पना और ग्राहक कल्पना। अनुभाव और विभाव दोनों पक्षों के विधान के लिए भी और सम्यक् ग्रहण के लिए भी कल्पना-शक्ति अपेक्षित है। विधान के लिए कवि में 'विधायक कल्पना' अपेक्षित होती है और सम्यक् ग्रहण के लिए पाठक या श्रोता में 'ग्राहक कल्पना।'[2] आगे इन्होंने कवि और पाठक की कल्पना के मात्रा-भेद और स्वरूप-भेद को स्पष्ट करते हुए लिखा है, ''श्रोता या पाठक में यह सहृदयता या भावुकता अधिक अपेक्षित होती है, कल्पना-क्रिया कम। कवि की विधायक कल्पना रस की तैयार सामग्री उनके सामने रख देती है।

हैं कि कल्पना और भावुकता कवि के लिए दोनो अनिवार्य है। भावुक जब कल्पना-सम्पन्न और भाषा पर अधिकार रखनेवाला होता है, तभी कवि होता है।"[1]

शुक्ल जी की कल्पना-संबंधी मुख्य मान्यताओ को हम निम्नलिखित खण्डो मे विभक्त कर उपस्थित कर सकते हैं :—

क. शुक्ल जी ने काव्योचित कल्पना के लिए वासना का योग अनिवार्य माना है। "वासना की सहकारिणी होकर जब कल्पना काम करती है, तभी वह काव्योचित कल्पना होती है। वासना-कल्पना के सहयोग से भावो के विषय भी प्रत्यक्ष किए जाते हैं और भाव भी व्यक्त किए जाते हैं। सच्चे काव्य मे प्रत्यक्षीकरण के लिए इन दोनो का सयोग परम आवश्यक है।"[2]

ख. शुक्ल जी के अनुसार कल्पना का प्रधान कर्मक्षेत्र रस का आधार खडा करनेवाला विभावन-व्यापार है। इन्होने स्पष्ट लिखा है कि "रस का आधार खडा करनेवाला जो विभावन-व्यापार है, कल्पना का प्रधान कर्मक्षेत्र वही है।"[3]

ग शुक्ल जी की दृष्टि मे कल्पना के महत्त्व का प्रमुख कारण यह है कि "काव्य शब्द-व्यापार है। वह शब्द-सकेतो के द्वारा ही अतस् मे वस्तुओ और व्यापारो का मूर्तविधान करने का प्रयत्न करता है। अत जहाँ तक काव्य की प्रक्रिया का सबध है, वहाँ तक रूप और व्यापार कल्पित ही होते हैं। कवि जिन वस्तुओ और व्यापारो का वर्णन करने बैठता है, वे उस समय उसके सामने नही होते, कल्पना मे ही होते है। पाठक या श्रोता अपनी कल्पना द्वारा ही उनका मानस साक्षात्कार करके उनके आलम्बन से अनेक प्रकार के रसानुभव करता है।"[4]

घ. शुक्ल जी ने काव्यान्तर्गत रूप-विधान के तीन प्रकार माने हैं (प्रत्यक्ष रूप-विधान, स्मृत रूप-विधान और सभावित या कल्पित रूप-विधान), किन्तु इन्होने 'कल्पित रूप-विधान' के अन्तर्गत ही कल्पना पर मुख्यत विचार किया है। इनके अनुसार इस कल्पित रूप-विधान के दो प्रकार है—प्रस्तुत रूप-विधान और अप्रस्तुत रूप-विधान।"[5] यह प्रस्तुत रूप-विधान प्राचीन आचार्यों का

---

१. चिन्तामणि, भाग २, पृ० १०४।

२. रसमीमासा, ले० रामचन्द्र शुक्ल, पृ० ९०-९१, काशी नागरी प्रचारिणी सभा, सवत २००६।

३. रसमीमासा, ले० रामचन्द्र शुक्ल, नागरी प्रचारिणी सभा, काशी, सवत् २००६, पृ० १०५।

४. वही, पृ० २६३।

५. वही, पृ० ३०१।

विभाव पक्ष ही है, जिसके अन्तर्गत आलम्बन और उद्दीपन—दोनो आते है। अत शुक्ल जी ने भारतीय काव्य-दृष्टि के प्रस्तोता की भूमिका मे आकर भी कल्पित रूप-विधान पर विचार किया है।[1] सभवत भारतीय काव्य-दृष्टि के प्रति आग्रह रखने के कारण ही शुक्ल जी ने पाश्चात्य विचारको की तरह कल्पना का सबध केवल काव्य के बोध-पक्ष से नही माना है, बल्कि उसके भाव-पक्ष मे भी।[2]

च. शुक्ल जी के अनुसार कल्पना के मुख्य कार्य ये है—काव्यवस्तु का रूप-विधान करना, अनुभाव कहे जाने वाले व्यापारो और चेष्टाओ का सयोजन करना, अप्रस्तुतो की योजना करना तथा लक्षणा और व्यजना की सहायता से भाषा-शैली को अधिक व्यजक एव मार्मिक बनाना। इस प्रकार शुक्ल जी की दृष्टि मे कल्पना रसावयवो का निर्माण और अप्रस्तुतो की योजना कर भावोत्कर्ष अथवा रस-सचार मे सहायता पहुँचाती है।

छ निष्कर्षात्मक बात यह है कि कल्पना के प्रति शुक्ल जी का दृष्टिकोण वस्तुनिष्ठ है। इसलिए हम उनकी कल्पना-सबधी विचारणाओ मे प्रत्यक्षाश्रित वस्तुपरकता पाते हैं। इन्होंने इस प्रत्यक्षाश्रित वस्तुपरकता की विवृति करते हुए लिखा है कि "प्रत्यक्ष रूप-विधान के उपादान से ही कल्पित रूप-विधान होता है। जन्मान्ध अपने मन मे स्पष्ट रूप-विधान नही कर सकते। जिस प्रकार प्रत्यक्ष अनुभूति से रसानुभूति को एकदम अलग कहने की चाल योरप मे चली, उसी प्रकार प्रत्यक्ष रूप-विधान से कल्पित रूप-विधान को अगबद्ध घोषित करने की रूढि प्रतिष्ठित हुई। 'कल्पना' की एक निराली दुनिया कही जाने लगी और कवि लोग दूसरी सृष्टि बनाने वाले विश्वामित्र हुए। पर थोडा विचार करने पर यह उक्ति स्तुतिपरक ही ठहरती है। सारे वर्ण और सारी रूप-रेखायें, जिनसे कल्पित मूर्तिविधान होता है, बाह्य-जगत के प्रत्यक्ष बोध से प्राप्त हुई हैं। • ऐसी दशा मे यह कहना कि प्रत्यक्ष रूप-विधान मे कवि के

काल्पनिक रूपविधान का कोई संबध नही, बात बनाना ही माना जायगा।[1]

इस तरह प्रत्यक्षाश्रित वस्तुपरकता पर अधिक बल देने का अर्थ यह है कि शुक्ल जी कल्पना का आधार इन्द्रिय-बोध को मानते है। फलस्वरूप, पश्चिम के जिन विचारको ने इन्द्रिय-बोध से परे कल्पना का स्वतत्र अस्तित्व माना है, शुक्ल जी ने उनका खण्डन किया है।[2] अत स्पष्ट है कि इन्होने कल्पना पर लौकिकता, इन्द्रियबोध और प्रत्यक्ष की दृष्टि से ही विचार किया है।[3]

हिन्दी आलोचना मे, प्राय, कल्पना-सबधी सिद्धान्तो को लेकर आचार्य शुक्ल की तुलना एडिसन के साथ की जाती है और इन दोनो के बीच कुछ साम्य तथा कुछ वैषम्य को ढूंढा जाता है। डा० रामविलास शर्मा ने इन दोनो की कल्पना-सम्बन्धी मान्यताओ के अन्तर को निरूपित करते हुए लिखा है कि " •शुक्ल जी दो तरह का रूप-विधान बतलाते हैं। एक तो प्रत्यक्ष देखी हुई वस्तुओ का ज्यो का त्यो प्रतिबिम्ब होता है, दूसरा इनके आधार पर खडा किया हुआ नया वस्तु व्यापार-विधान होता है। पहला रूप-विधान स्मृति है, दूसरा कल्पना। एडिसन ने स्मृति को भी कल्पना का नाम दिया है। शुक्ल जी ने वह स्थापना अमान्य ठहरा दी है। इसके सिवा प्रत्यक्ष या स्मरण द्वारा जागरित वास्तविक अनुभूति भी विशेष दशाओ मे रसानुभूति की कोटि मे आ सकती है—यह स्थापना एडिसन के चिन्तन से बहुत दूर है।"[1] किन्तु, इसका यह आशय नही है कि एडिसन और शुक्ल जी मे केवल मतभेद या वैषम्य ही है। डॉ० रामविलास शर्मा भी स्वीकार करते हैं कि शुक्ल जी अग्रेजी आलो-

---

१. रसमीमासा, ले० रामचन्द्र शुक्ल, काशी नागरी प्रचारिणी सभा, संवत् २००६, पृ० २९९-३००।

२. शुक्ल जी के इस खण्डन के सम्बन्ध में डॉ० रामविलास शर्मा का कहना है कि "उनका (शुक्ल जी का) प्रत्यक्ष विरोध क्रोचे जैसे भाववादियों से है, अप्रत्यक्ष विरोध कॉलरिज जैसे भाववादियों से भी है, जिन्होंने कल्पना को शाश्वत और निरपेक्ष चेतना का पर्याय मान लिया था और मनुष्य की व्यावहारिक कल्पना को उसी परम चेतना का अश मान लिया था।"—आचार्य रामचन्द्र शुक्ल और हिन्दी आलोचना, ले० डॉ० रामविलास शर्मा, विनोद पुस्तक मन्दिर, आगरा, संवत् २०१२, पृ० २४८।

३. "शुक्ल जी कल्पना का आधार लौकिक मानते हैं। उनकी दृष्टि से ससार-सागर की रूप-तरगों से ही कल्पना का निर्माण होता है। इसीलिए उन्होंने कल्पना की लोकोत्तर, अलौकिक अथवा इलहामी व्याख्या का खण्डन किया है।"—आचार्य शुक्ल के समीक्षा सिद्धान्त, ले० डॉ० रामलालसिंह, सवत् २०१५, वाराणसी, पृ० २८२।

४. आचार्य रामचन्द्र शुक्ल और हिन्दी आलोचना—ले० डॉ० रामविलास शर्मा, विनोद पुस्तक मन्दिर, आगरा, संवत २०१२, पृ० २४९।

न्तों के बीच एडिसन से ही सर्वाधिक निकट पड़ते हैं', यद्यपि यह निकटता शुक्ल जी की सीमा नहीं बन सकी। कारण, कल्पना से सम्बन्धित जिस प्रश्न का कोई समाधान एडिसन नहीं दे सके थे, शुक्ल जी ने एक तीक्ष्ण-धी समीक्षक की तरह उसका भी हल निकाला। इन्होंने कल्पना का सम्बन्ध भावानुभूति से जोड़ा और उसे रस-सिद्धान्त के आलोक मे एक नयी परिणति दी।

शुक्ल जी की इन चर्चा को समाप्त करने के पूर्व यह कह देना आवश्यक है कि शुक्ल जी हिन्दी आलोचना मे कल्पना के पारम्भिक विचारक थे। अत कल्पना की सीमारेखाओ के निर्धारण और उसके सामान्य स्वरूप के विश्लेषण मे ही इनकी पर्याप्त शक्ति व्यय हो गई, फलस्वरूप कल्पना के विविध भेद अथवा प्रकारो के निर्धारण पर इनकी सम्यक् दृष्टि नही पड सकी। सम्भवत शुक्ल जी इसके प्रति सचेष्ट भी नही हो सके थे। इसलिए कल्पना सम्बन्धी इनकी सम्पूर्ण विचारणाओ मे कल्पना के साथ विशेषण की तरह प्रयुक्त कुछ शब्दो को ही प्रकार-बोधक रूप मे ग्रहण कर सन्तोष मान लेना पडता है। पुन, ऐसे विशेषण भी प्रकार-निर्धारण की दृष्टि से हमे बहुत दूर ले जाने मे अक्षम है। विधायक कल्पना और ग्राहक कल्पना, जो कल्पना के स्थूलतम भेद हैं, के अलावे शुक्ल जी ने केवल स्मृत्याभास कल्पना और अनुमानाश्रित प्रत्यभिज्ञानरूपा कल्पना का पुन-पुन उल्लेख किया है, और एकाध बार सावयव कल्पना तथा विभाव-विधायक कल्पना का भी। इस तरह इनकी विचारणाओ का अधिकाश सम्बन्ध कल्पना के स्वरूप-पक्ष से ही है। दूसरी ध्यातव्य बात यह है कि इन्होंने कल्पना पर केवल काव्य (उसमे भी विशेषकर कविता) की दृष्टि से विचार किया है, सम्पूर्ण ललित कलाओ के विस्तृत सन्दर्भ मे नही। अत कल्पना को ललित कला का एक प्रमुख तत्त्व मानकर उसका सौन्दर्यशास्त्रीय अध्ययन प्रस्तुत करते समय हमे शुक्ल जी के कल्पना-सिद्धान्त से आशिक प्रकाश ही मिल पाता है।

है, जिसके सहारे वह तथ्यो और तर्कों का आश्रय लिए बिना ही कुछ काल के लिए अनेक अनिश्चयो, रहस्यमय इलहामो और सन्देहों के बीच रम सकता है। सचमुच, 'फैंसी' ऐसे दूरस्थ और असदृश बिम्बो या वस्तुओ को एक समीकरण अथवा सयोजन मे लाती है, जिनमे धर्म-साम्य, गुण-साम्य या रूप-साम्य की दृष्टि से अनुकूलता या पारस्पर्य का अश अत्यन्त कम रहता है। अत 'फैंसी' को एक प्रकार से 'जक्स्टापोजीशन ऑव अनरिलेटेड ऑब्जेक्ट्स' भी कहा जाता है।[1] साथ ही 'फैंसी' से निर्मित बिम्बो मे प्राय तर्क और इच्छा शक्ति ('च्वायस एण्ड विल') की प्रधानता रहती है, किन्तु, यह विनियोजित तर्कशक्ति अत्यन्त अन्तर्मुख और कौतुकपूर्ण होती है। दूसरी ओर कल्पना एक ऐसी सृष्टि है, जिसमे अनेक बिम्बों का समीकरण नही होता, बल्कि एक बिम्ब ही प्रधान रहकर अनेक सम्बद्ध बिम्बो की सृष्टि करता है। अर्थात्, कल्पना द्वारा निर्मित बिम्ब-विधान मे अनेकता का वैविध्य नही, उसकी अन्तरग एकता यानी साम्य की प्रधानता रहती है। कल्पना द्वारा निर्मित बिम्ब-विधान की दूसरी विशेषता यह है कि उसमे स्मृति का अश, अत वस्तु-बोध अवश्य विद्यमान रहता है। तीसरी विशेषता यह है कि कल्पना से बने बिम्ब 'फैंसी' मे निर्मित बिम्बो की तरह खाका (डाइग्राम) मात्र नही होते, बल्कि भावाक्षिप्त या भावनाविष्ट ('रिचली टोन्ड विद फीलिंग) हुआ करते हैं। चौथी विशेषता यह है कि कल्पना मानव-मन की अनेक स्थितियो को चेतना के 'एक क्षण' मे केन्द्रित और मूर्तिमान कर देती है। इसलिए कल्पना अपनी उडान मे भी केन्द्रगामिता को नही भूलती है। अत मूर्तिविधान[2], केन्द्रगामी सयोजन[3] और

---

१. आलोचना में व्यावहारिक ढग से 'फैंसी' की विवृति के लिए द्रष्टव्य—'जॉन कीट्स'स फैंसी', ले० जे० आर० काल्डवेल, कार्नेल युनिवर्सिटी प्रेस १९५५।

२. कॉलरिज ने कल्पना को 'एजेम्प्लास्टिक पावर' कहा है। 'एजेम्प्लास्टिक' शब्द '*eisenoplasy*' मे बना है, जिसका अर्थ होता है 'को आर्डिनेशन' अर्थात् एकीकरण—'द फैकल्टी दैट फॉर्म्स द मेनी इन टु वन।' इसलिए विरोधि-समागम (रिकॉन्सीलियेशन ऑव आपोजिट्स') को भी कल्पना का एक गुण माना जाता है। वस्तुत कल्पना दो या अनेक दूरस्थ वस्तुओं के बीच सयाना बुद्धि के सहारे अथवा अनायास ही तात्त्विक ऐक्य स्थापित कर देनेवाली एक विचित्र सग्रथनशील जादूभरी शक्ति है।

३. कॉलरिज की कल्पना-सम्बन्धी विचारणाओं में दो शब्दों—'कोऑर्डिनेटिंग फैकल्टी' और 'एसीमिलेशन' की आवृत्तिमूलक प्रधानता है। ये दोनों शब्द कॉलरिज के द्वारा विशिष्ट और पारिभाषिक अर्थ में प्रयुक्त किये गए हैं। कॉलरिज के इन दोनों विशिष्ट और पारिभाषिक शब्दों पर फ्रैंक कर्मोड ने एक बड़ी अच्छी टिप्पणी दी है—"Coleridge's terminology for the imagination—as Mr. M H Abrams, who has made a thorough study of it, points out,—is biological in favour The imagination 'assimilates'. it is the 'co-odunating faculty'—this

समीकरण, कालरिज के अनुसार, कल्पना के विभाजक लक्षण हैं। फलस्वरूप कल्पना के बिम्ब जहाँ उभरे, विशिष्ट और आशु होते हैं, वहाँ 'फैसी' के बिम्ब स्थिर और चाकचिक्य से भरे होते हैं। पुन कल्पना मे दो तत्त्वो की आत्यन्तिक आवश्यकता रहती है—भावना एव स्मृति की। किन्तु, 'फैसी' मे स्मृति का अश नगण्य रहता है और भावना रहती भी है, तो आवेशयुक्त एव तत्पर नही, शिथिल और निर्बल। इसलिए 'फैसी' सर्वत्र नन्दतिक बोध की निम्न अवस्थाओ से सम्बन्धित रहती है। इसमे लावण्य रहता है और यह अधिक से अधिक रजक अथवा 'सुन्दर' की कोटि तक पहुँच सकती है, किन्तु, इससे कभी भी 'उदात्त' की सृष्टि नही हो सकती। तदनन्तर, 'फैसी' मे वस्तुबोध नही के बराबर रहता है। इसे ही (कल्पना को नही) हम प्लेटो की 'फैण्टेसिया' कह सकते है, जिसे उन्होने सत्य का विलोम माना था। इस प्रकार वस्तुबोध की कमी के साथ ही 'फैसी' मे स्थिरता, निश्चय तथा देश-काल के बन्धनो का अभाव रहता है। इसके अलावे कल्पना मे बोध के साथ प्रतिबोध भी रहता है, जब कि 'फैसी' मे केवल बोध। 'बोध' का अर्थ होता है इन्द्रियो के माध्यम से प्राप्त होने वाला वस्तु-विषय का ज्ञान तथा 'प्रतिबोध' का अर्थ होता है, वस्तु-विषय का वह ज्ञान जो आत्मा को इन्द्रियो की सहायता से नही, बुद्धि की वृत्तियो के माध्यम से प्राप्त होता है। इसीलिए 'केनोपनिषद्' मे कहा गया है—'प्रतिबोध विदित मतममृतत्व हि विन्दते।'[1] साराश यह है कि 'फैसी' मे केवल अव्यवस्थित उडनशीलता रहती है बौद्धिक सन्तुलन नही।

किन्तु कुछ विचारक, जिनमे हॉब्स प्रमुख है, 'फैसी' और 'इमाजिनेशन' (कल्पना)—दोनो शब्दो को पर्यायवाची मानते हैं। हॉब्स का कथन है कि 'फैसी' भी कल्पना की तरह सश्लेषणात्मक है, इसलिए यह दोनो परस्पर भिन्न नही है। इसी तरह ड्राइडेन ने भी 'फैसी' और कल्पना मे कोई विशेष अन्तर नही माना है। ड्राइडेन की 'फैसी' तो कॉलरिज के 'इमाजिनेशन' का पर्याय मालूम पडती है। 'कॉलरिज' ने 'फैसी' को उस देशकाल-मुक्त स्मृति के रूप

---

term refers to what is now called 'symbiosis'. It 'generates and produces a form of its own' 'It is astonishing', says Mr Abrams, 'how much of Coleridge's critical writing is couched in terms that are metaphorical for art and literal for a plant, if Plato's dialectic is a wilderness of mirrors, Coleridge's is a very jungle of vegetation'—Romantic Image, *Frank Kermode*, London, 1957, Page 93

१. केनोपनिषद्, इण्डियन प्रेस लिमिटेड, प्रयाग, श्लोक ४, [illegible] नवम [illegible], पृ० ७८।

मे स्वीकार किया है, जिसमे व्यक्ति का यथेच्छाचार साहचर्य या आसंग के तत्त्वो मे प्रधान रहता है। अत 'फैंसी' काव्योपयुक्त नही होती है और कल्पना की अपेक्षा हीन कोटि की होती है।[1] किन्तु, ड्राइडेन ने 'फैंसी' को ही काव्योपयुक्त कल्पना के रूप मे स्वीकार किया है, 'इमाजिनेशन' तो इतना अनगढ, वन्य और अनियन्त्रित होता है कि उनसे काव्य की रचना नही हो सकती। इतना ही नही, ड्राइडेन के अनुसार 'फैंसी' से ही काव्य को जीवत सस्पर्श प्राप्त होता है।

वेव्स्टर ने कल्पना और 'फैन्सी' को एक ही सृजनात्मक शक्ति के दो भिन्न प्रयोगो के रूप मे स्वीकार किया है। किन्तु, ड्राइडेन के विपरीत इनके अनुसार कल्पना 'फैन्सी' की तुलना मे एक उच्च स्तर की शक्ति है।[2] वर्ड्सवर्थ ने भी कल्पना और 'फैन्सी' के भेद को स्पष्ट करने की चेष्टा की है। इन्होने 'टु द स्काइलार्क' शीर्षक कविता को 'फैन्सी' का उदाहरण माना है और 'टु द कक्कू' शीर्षक कविता को कल्पना का; किन्तु, वात स्पष्ट नही हो सकी है। मेरी दृष्टि से यह वात तभी स्पष्ट हो सकेगी, जव हम कल्पना और 'फैन्सी' के अन्य दो समानधर्मा तत्त्वो—'हैल्यूमिनेसन' और 'विट' से इनका पार्थक्य समझ लेगे।

सामान्य जन को कभी-कभी कल्पना और प्रतीति-भ्रम (हैल्यूसिनेशन) के अन्तर को समझने मे कठिनाई हो जाती है। मोके-वेमोके प्रतीति-भ्रम ने

---

१. टी० ई० ह्यूम ने भी 'फ़ैसी' के सम्बन्ध में ऐसा ही मत व्यक्त किया है। इन्होंने 'फैन्सी' के स्वरूप को स्पष्ट करते हुए लिखा है—"When the analogy has not enough connection with the thing described to be quite parallel with it, where it overlays the thing it described and there is a certain excess, there you have the play of fancy—that I grant is inferior to imagination."—*T E Hulme*, Speculations, Routledge and Kegan Paul, London, Pages 137-138. प्रसिद्ध दार्शनिक हीगेल ने भी कल्पना को 'creative' और 'फ़ैसी' को 'passive' मानते हुए यह धारणा व्यक्त की है कि कल्पना 'फ़ैसी' की तुलना में श्रेष्ठ है और वह कलाकार की सर्वोत्कृष्ट शक्ति (the most conspicuous faculty) है।—*Hegel*, The Philosophy of Fine Art, translated by Osmaston, London, 1920, Page 381

२. वेब्स्टर ने अपनी स्थापना को स्पष्ट करते हुए लिखा है—"Imagination is the higher exercise of the two, and has strong emotion as its actuating and formative cause, whilst fancy moves on a lighter wing, it is governed by laws of association which are more remote, and sometimes arbitrary or capricious."

गुजरनेवाले शैली इत्यादि जैसे कवियों की कहानी भी इस कठिनाई को कठिनतर बना देती है। किन्तु, कल्पना और प्रतीति-भ्रम का अन्तर बहुत ही स्पष्ट है। प्रतीतिभ्रम को बाह्य प्रतीति[1] भी कहते हैं। इसका संकेत यह है कि जब कल्पना-प्रसूत बिम्ब मानसिक न रहकर नेत्रों के समक्ष वस्तु-प्रत्यक्ष बन जाय, तब उसे प्रतीति-भ्रम कहते हैं। जैसे, नाखून भरे चार पांव, क्षीण कटि और बयाल का मानसिक अंकन 'सिंह' की कल्पना है, किन्तु, कमरे में बैठे-बैठे 'सिंह दौड़ा जी। जान गयी, रे बाप!' कहते हुए सिर पर पैर रखकर भाग खड़ा होना प्रतीति-भ्रम है।[2]

इसी तरह कल्पना और 'फैन्सी' के सन्दर्भ में प्राय 'विट' की चर्चा की जाती है और यह माना जाता है कि कल्पना तथा 'फैन्सी' में 'विट' का तत्त्व अवश्य रहता है। हमें इतनी बात मान्य है कि 'विट' में भी एकाधिक दूरवर्ती वस्तुओं में सादृश्य, निकटता या औपम्यमूलकता की स्थापना की जाती है, किन्तु, 'विट' में उक्तिवक्रता, अवरेब और प्रत्युत्पन्न-मतित्व की प्रधानता रहती है। 'विट' के कई व्याख्याताओं, जैसे ड्राइडन इत्यादि ने 'विट' को कल्पना के समान ही एक काव्योपयुक्त प्रकृष्ट शक्ति के रूप में स्वीकार किया है, लेकिन मेरी दृष्टि में 'विट' का साम्य 'फैन्सी' से ही स्थापित किया जा सकता है, कल्पना के साथ 'विट' की तुलना का कोई प्रश्न ही नहीं उठना चाहिये।

इस अल्प पृष्ठिका के उपरान्त अब हम कल्पना और 'फैन्सी' के पार्थक्य-निरूपण में प्रवृत्त होंगे तथा कॉलरिज की एतद्‌सम्बन्धित मान्यताओं को अपने विश्लेषण की आधार-शिला के रूप में ग्रहण करेंगे। जैसा कि हम पहले भी उल्लेख कर चुके हैं, कॉलरिज के अनुसार 'फैन्सी' एक प्रकार की ऐसी आसंग-निर्भर स्मृति है, जो देश-काल की धारणा एवं नियंत्रण-क्रम से मुक्त होने के साथ ही इच्छा और अभीप्सा (विल एण्ड च्वायस) से संशोधित होती है। इस तरह 'फैन्सी' को हम 'स्यूडो इमाजिनेशन' कह सकते हैं। 'फैन्सी' की दूसरी विशेषता यह है कि इसमें किसी खण्ड-दृष्टि या वैयक्तिक रुचि के आधार पर दो या दो से अधिक ऐसे अदृश्य बिम्बों का संयोजन या सम्मिलन रहता है, जो स्वभावतया परस्पर कोई सम्बन्ध नहीं रखते हैं। 'फैन्सी' की इस विशेषता और कल्पना की वरीयता के प्रति कॉलरिज बहुत सचेत थे। संभवत, इसीलिये इन्होंने

---

१. स्पीयरमैन का भी मत है—" hallucinations are essentially the same thing as images, only pushed to a fuller degree of sensuousness "—Creative Mind, C *Spearman*, Page 139.

२. 'Exteriorite'.

कल्पना का 'आइजेनोप्लासी'[1] से सम्बन्ध दिखाते समय 'कैटोप्ट्रिक'[2] या 'मैटोप्ट्रिक' 'फैण्टेसी' से 'आइजेनोप्लासी' के पार्थक्य को स्पष्टतया सूचित कर दिया है। पुन यह भी विचारणीय है कि 'फैन्सी' के सयोजन मे केवल 'सग्रह' रहता है, जबकि कल्पना के सयोजन मे 'मिश्रण' की अधिकता तथा इस 'मिश्रण' के सहारे किसी नवीन 'सृजन' की आकाक्षा रहती है। इसलिये 'फैन्सी' मे स्मृति-निर्भर उपादानो का एक बहुरगी वैविध्य रहता है।

इस प्रकार कॉलरिज ने कल्पना और 'फैन्सी' मे एक निश्चित पार्थक्य माना है।[3] इन्होने इन दोनो की, क्रमश, 'डेलिरियम' और 'मैनिया' से तुलना की है। विस्तार से सोचने पर ऐसा लगता है कि कल्पना मे विभिन्न पदार्थों, उपमानो, प्रतिकृतियो, धारणाओ का एक ऐसा विलयनशील सम्मिश्रण अथवा संयोजन रहता है, जिसमे सभी अपना पृथक्-पृथक् अस्तित्व खोकर प्रमाणक रस की तरह मिल जाते है और अयुतसिद्धावयव बनकर सर्वथा एक नूतन सृजन का रूप धारण कर लेते है। किन्तु, 'फैन्सी' मे आयोजित विभिन्न सदृश प्रतिकृतियाँ, धारणाये, पदार्थ अथवा उपमान एक स्थान पर इकट्ठे तो होते हैं परन्तु सभी अपना विलग-विलग अस्तित्व सुरक्षित रखते है तथा नूतन सृजन के बदले किसी चमत्कारपूर्ण सभावना की विस्मित छटा भर पैदा करते है। अत. कल्पना मे जहाँ विलयन और सृजन की प्रधानता होती है, वहाँ 'फैन्सी' मे सग्राहकता और सभावना मात्र रहती है। फलस्वरूप, कविगण जहाँ वस्तु-चित्रण अथवा मानसमूर्त्ताभिधान के सन्दर्भ मे उत्प्रेक्षा, दृष्टान्त, उदाहरण, सभावना, विशेषकोन्मीलित या रूपक का मडान बाँधते है, वहाँ कल्पना मे अधिक वे 'फैन्सी' का ही सहारा लिया करते है। हम कुछ उदाहरणो के द्वारा 'फैसी' को पर्याप्त यथातथ्य के साथ समझने की चेष्टा करेंगे। गोस्वामी तुलसीदास ने 'रामचरितमानस' मे विवाह-प्रसग के अन्तर्गत दो स्थिति-चित्रो को मानसमूर्त्ताभिधान के रूप मे उपस्थित किया है—

---

१. Eisenoplasy,

२. Relating to reflection

३. "Repeated medications led me first to suspect,—(and a more intimate analysis of the human faculties, their appropriate marks, functions and effects matured my conjecture into full conviction)—that fancy and imagination were two distinct and widely different faculties, instead of being, according to the general belief, either two names with one meaning, or, at furthest, the lower and higher degree of one and the same power"—*Biographia Literaria*, London, 1939, Page 45.

सोहत जनु जुग जलज सनाला
ससिहि सभीत देत जयमाला।

और

अमिय पराग जलज भरि नीके
ससिहि भूष अहि लोभ अमी के।

पहले चित्र मे सीता राम को जयमाल पहना रही है और दूसरे चित्र मे राम सीता को सिन्दूर दे रहे हैं। इन दोनो स्थिति-चित्रो को प्रस्तुत करने मे महाकवि ने 'फैंसी' का ही सहारा लिया है, क्योकि प्रथम चित्र मे आए हुए सनाल जलज और शशि केवल एकत्र ही हो सके हैं, तदात्म और तद्रूप नही। पुन दूसरे चित्र मे आए हुए जलज, शशि और अहि एकत्र होकर भी अपनी पृथकता नही खो सके हैं। वास्तविक जगत् मे भी कमल, चाँद और साँप का कोई निकट सम्बन्ध नही रहने से इन पक्तियो को पढने के उपरान्त हमारे मन मे केवल एक 'सभावना' जगती है। इसी तरह 'कामायनी' मे प्रसाद जी ने जहाँ श्रद्धा की दृष्टिरजना मूर्त्ति को शब्दो के द्वारा उरेहने की चेष्टा की है, वहाँ 'फैंसी' का ही सहारा लिया गया है—

नील परिधान बीच सुकुमार
खुल रहा मृदुल अधखिला अंग
खिला हो ज्यो बिजली का फूल
मेघ-वन बीच गुलाबी रंग।[1]

क्योकि इन पक्तियो मे भी मानसमूर्त्ताभिधान के क्रम मे आए हुए मेघ और वन एव बिजली और फूल एक जगह एकत्र भर हो सके हैं, परस्पर विलीन नही हो सके हैं। उन्हे पढने के बाद सहृदय-चित्त मे एक दूरवर्त्ती सभावना अवश्य जगती है कि यदि बिजली का फूल हो, तो वह कितना सुन्दर होगा। इसी प्रकार प्रसाद जी ने आँसू मे भी एक अनामा सुन्दरी की लावण्यमयी तनिमा की अनन्वयता को व्यक्त करने के लिए 'फैंसी' का सहारा लिया है—

चचला स्नान कर आवे
चन्द्रिका पर्व मे जैसी
उस पावन तन की शोभा
आलोक मधुर थी ऐसी।[2]

भला, चचला और चन्द्रिका मे समागम कैसा। चचला के रहने पर चन्द्रिका नही टिक सकती और चन्द्रिका के रहने पर चचला कभी कौंध नही सकती।

---

1 कामायनी, ले० जयशंकर प्रसाद, भारती भण्डार, प्रयाग, सवत् २००६, पृ० ४८।
2 आँसू—ले० जयशंकर प्रसाद, भारती भण्डार, प्रयाग, पृ० २८।

अत. यहाँ शोभा की सपूर्ण अनन्वयता एक असाधारण 'सभावना' से व्यक्त की गई है, जो 'फैंसी' का विभाजक लक्षण है । इस तरह 'फैंसी' मे दो या दो से अधिक असदृश तथा लोक-जीवन मे पर्याप्त पार्थक्य रखने वाली धारणाओ, प्रतिकृतियो अथवा वस्तुओ को एकत्र या सगृहीत कर एक 'सभावना' का सकेत किया जाता है, न कि इनके प्रपाणक रसवत् मिश्रण से कोई नवीन सृजन । कॉलरिज ने 'फैंसी' की विवृति मे जो उदाहरण प्रस्तुत किया है—

फुल जेण्ट्ली नाउ शी टेक्स हिम बाय द हैण्ड,
ए लिली प्रिजण्ड एन ए गोल[1] आव स्नो,
ऑर आइवरी इन एन अलबास्टर बैण्ड ;
सो ह्वाइट ए फ्रेण्ड एनगर्ट्स सो ह्वाइट ए फो ।

(वेनस एण्ड एडोनिस)

उससे भी इसी धारणा का समर्थन होता है । यहाँ एडोनिस तथा वेनस के हाथो की श्वेतिमा-सुकोमलता के मानसमूर्त्ताभिधान के लिए क्रमश, 'लिली' और 'गोल ऑव स्नो' अथवा 'आइवरी' या 'अलवास्टर बैंड' को प्रस्तुत किया गया है । किन्तु, यहाँ ये सारी चीजे इकट्ठी भर हो सकी हैं, कारण, 'लिली' और 'स्नो' अथवा 'आइवरी' और 'अलबास्टर' जैसे मिस्री (मिस्र देश का) श्वेत-पाषाण को परस्पर क्या लेना-देना है । अत. ऐसे असदृश पदार्थों के एकत्रीकरण से कवि हमारे सामने एक चमत्कारपूर्ण सभावना भर पैदा कर सका है । किन्तु, (ठीक इसके विपरीत) जहाँ प्रसाद ने श्रद्धा और मनु के पाणिग्रहण (हाथ मिलाने) का वर्णन प्रस्तुत किया है, वहाँ हमे कल्पना का सुन्दर विनियोग मिलता है—

जलदागम मारुत से कम्पित,
पल्लव सदृश हथेली,
श्रद्धा की धीरे से मनु ने
अपने कर में ले ली ।[2]

कारण, यहा श्रद्धा के कोमल करो का दृश्य-विधान प्रस्तुत करने के लिए कवि ने असदृश पदार्थों के एकत्रीकरण से कोई चमत्कारपूर्ण सभावना नही पैदा की है, बल्कि बरसाती हवा से हिलते हुए कोमल पल्लव (जो हमारे लिए अत्यन्त सुपरिचित है) का एक साधारणीकरण-सुलभ उपमान खड़ा किया है । इतना ही नही, यदि रसशास्त्र की भाषा मे कहें तो कवि ने 'जलदागम' और 'कम्पित'

१. Goal.
२. कामायनी, ले० जयशकर प्रसाद, भारती भण्डार, प्रयाग, संवत् २००६, पृ० १२७ ।

के सहारे क्रमश, प्रस्वेद और कम्प सात्विक का भी संकेत कर दिया है। इस तरह जहाँ कवि दूर की कौड़ी चुने बिना, ऊहा को छोड़कर सौन्दर्य-बोध से उपेत अभिप्रायपूर्ण उपमान खड़ा कर दे, वहाँ कल्पना का प्रयोग समझना चाहिए।

'फ़ैंसी' की उड़ान में अथवा 'फैंसी' के अन्तर्गत संभावनाओं के विधान में लोकविश्रुत कथा-रूढ़ियाँ और गतानुगत विश्वास भी पर्याप्त योग देते हैं। जैसे, 'रामचरितमानस' से उपरि-उद्धृत द्वितीय स्थिति-चित्र में शिव के मस्तक पर विराजने वाले चाँद और उनके गले में राजने वाले अहिभूषण की पौराणिक धारणा ने पृष्ठभूमि का काम किया है। इसी तरह 'पर्वत भी उड़ते हैं'—ऐसी लोक-प्रचलित भारतीय धारणा ने अधोलिखित पंक्तियों में पन्त की 'फैंसी' को कितनी अच्छी तरह उकसा दिया है—

उड़ गया, अचानक, लो भूधर
फड़का अपार पारद के पर।
रव शेष रह गये हैं निर्झर।
है टूट पड़ा भू पर अम्बर।[1]

भला, 'भूधर' और 'पर' (उसमें भी पारद के पर) में कौन-सा समीपी सम्बन्ध है? यह 'फ़ैंसी' का ही कमाल है कि इतने दूरस्थ पदार्थों और गुणों को एकत्र कर एक चमत्कारपूर्ण संभावना पैदा कर दी है। इस प्रसंग में हमें यह याद रखना है कि कविता ही नहीं, गल्प (विशेषकर तिलस्मी-ऐयारी से सम्बन्धित और 'डिटेक्टिव' रचनाओं) में भी 'फैंसी' का पर्याप्त उपयोग होता है।

किन्तु, उक्त उदाहरणों के द्वारा 'फैंसी' को निरूपित करने का यह आशय नहीं है कि 'फ़ैंसी' और कल्पना में कोई अरि-भाव अथवा व्यतिरेकी सम्बन्ध है। कहीं-कहीं कल्पना-विधान में भी 'फैंसी' का योग स्वीकार किया जाता है। जैसे, भारवि की निम्नलिखित पंक्तियों की उत्तरवर्त्तिनी कल्पना का प्रभाव-पक्ष 'फ़ैंसी' पर निर्भर है—

सवाता मुहुरनिलेन नीयमाने दिव्यस्त्रीजघन वरांशुके विवृत्तिम्।
पर्यस्यत्पृथुमणिमेखलांशु जाल सञ्जज्ञे युतकमिवान्तरीयमूर्वोः॥[2]

अर्थात् गतिशील पवन ने (अर्जुन को तपोभ्रष्ट करने के लिए इन्द्रप्रेषित) दृष्टिरंजना सुरबालाओं के जघनच्छादी वस्त्रों को विमुग्ध कामी पुरुष की तरह बार-बार हटा दिया—यहाँ तक विशुद्ध कल्पना है। किन्तु, भारवि जहाँ

---

१. आधुनिक कवि, ले० सुमित्रानन्दन पन्त, हिन्दी साहित्य सम्मेलन प्रयाग, छठा संस्करण, पृ० २३।
२. किरातार्जुनीयम्, सप्तम सर्ग, श्लोक-संख्या, १४।

त्रिवसनाओ की सहायता मे यह कह सकते हैं कि जघनच्छादी वस्त्रो के हट जाने पर भी उन सुरबालाओ की रत्नजटित मेखलाओ से विकीर्ण किरण-समूह ने उनकी पृथुल जाँघो को लहँगे (साया) की तरह ढँक लिया (जिससे वे नग्न न होने पाईं), वहाँ 'फैसी' है। कारण, यहाँ भावुकता को योग देने के लिए वह हल्की बुद्धि खडी है (क्योकि प्रकाशाधिक्य से दृष्टि का अवरोध होता है), जिसने कल्पना को हद से बाहर कर दिया है। और, यह जानी हुई बात है कि 'फैसी' बुद्धि के व्यायाम से हद के बाहर पहुँचाई हुई कल्पना है। इस प्रकार ऐसे अनेको उदाहरण मिलते हैं, जिनसे यह सिद्ध होता है कि कही-कही कल्पना-विधान मे भी 'फैसी' का योग स्वीकार किया जाता है और अधिकाश रचनाएँ इस योग से चमत्कारपूर्ण हो जाती हैं। किन्तु, हमे इस महत्त्वपूर्ण बात को स्वीकार कर लेना है कि काव्य एव अन्य ललित कलाओ के नन्दतिक बोध की दृष्टि से 'फैसी'[1] की तुलना मे कल्पना का निर्विवाद ऊँचा स्थान है। परम्परा से ही 'फैसी' की तुलना मे कल्पना को अधिक ऊँचा स्थान दिया गया है। विशेषकर, एडिसन ने कल्पना के साथ जो नई अर्थवत्ता जोड दी, उससे इस शब्द ('इमाजिनेशन'—कल्पना) का अर्थ-गौरव और भी बढ गया। किन्तु, अठारहवी शताब्दि के प्रारम्भ मे जब साहित्यिक विचारणाओ के क्षेत्र मे आसग सिद्धान्त (थ्योरी ऑव एसोसियेशन) की धूम मच गई, तब कल्पना की वरीयता कुछ सदिग्ध मानी जाने लगी और कभी-कभी तो यह कहा जाने लगा कि लालित्य, सृजनक्षमता तथा चमत्कृत मानसिक सन्दर्भ की दृष्टि से 'फैसी' ही कल्पना की अपेक्षा श्रेष्ठ है।[2] फिर भी अठारहवी शताब्दि के समाप्त होते-होते कॉलरिज प्रभृति तात्त्विक दृष्टि के विचारको ने यह स्पष्ट कर दिया कि कल्पना 'फैसी' की अपेक्षा एक श्रेष्ठ सृजनक्षम मानसिक शक्ति है।[3] हमने भी पिछले पृष्ठो मे जो विवेचन प्रस्तुत किया है, उसके आधार पर यही मान्यता

---

१. कॉलरिज ने 'फैंसी' के चार विशिष्ट लक्षण या गुण बतलाए है :—क. 'फैंसी' वह शक्ति है, जिसके द्वारा मूलत असदृश बिम्बों को किसी आंशिक सादृश्य के आधार पर एकत्र किया जाता है। ख. 'फैंसी' द्वारा योजित (परस्पर असदृश) बिम्ब एकत्र होने पर भी उतना ही पारस्परिक पार्थक्य रखते हैं, जितना कि अलग-अलग रहने पर। ग. 'फैंसी' द्वारा योजित बिम्बों का एकत्रीकरण भी कवि-प्रतिभा के नवन उन्मेष, सूक्ष्म और आकस्मिक सयोग पर निर्भर करता है। तथा घ. बिम्बों के इस एकत्रीकरण या संग्रह में कवि की उस इच्छा-रुचि की प्रधानता रहती है, जो मूलतः कवि के सेन्द्रिय प्रत्यक्षों तथा चयनशील आसंगों पर अवलम्बित रहती है।

२. 'लिटरेरी क्रिटिसिज्म : ए शार्ट हिस्ट्री', विलियम के० विन्सैंट एण्ड क्लीन्थ ब्रुक्स, न्यूयॉर्क, १९५९ में पृ० ३८६ पर उद्धृत।

३. 'मेटाफिजिक्स एण्ड पोयेट्री', ले० डी० जी० जेम्स, जॉर्ज एलेन एण्ड अनविन, लन्दन, १९६०, पृ० ४८-४९।

सिद्ध होती है। अतः निष्कर्ष रूप से हम कहना चाहेंगे कि ललित कलाओं के लिए तात्त्विक एवं सौंदर्यशास्त्रीय दृष्टि से कल्पना 'फैंसी' की अपेक्षा अधिक महत्त्वपूर्ण और हितावह है, साथ ही नन्दतिक बोध को जगाने में अधिक समर्थ भी।

कल्पना और 'फैंसी' पर विचार करने के बाद अब हम कल्पना और स्मृति पर विचार करेंगे, क्योंकि अपने पूर्ववर्ती विवेचनों में हमने कल्पना के सन्दर्भ में अनेकों बार स्मृति का उल्लेख किया है। स्मृति और कल्पना में इतनी समता तथा निकटता है कि विचारकों ने कल्पना को स्मृति का ही एक विकसित रूप कहा है। बात यह है कि कल्पना और स्मृति—दोनों का आधार प्रत्यक्ष ज्ञान है। स्मृति प्रत्यक्ष ज्ञान द्वारा प्राप्त अनुभव को चेतना के समक्ष सुरक्षित रखती है और कल्पना उन अनुभूत विषयों का स्वेच्छानुसार पुनर्निर्माण करती है। अतः कल्पना में सदैव स्मृति का योग रहता है। हिन्दी के आलोचकों में आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने कल्पना के सन्दर्भ में स्मृति पर व्यवस्थित विचार किया है। इन्होंने स्मृति के दो भेद किए हैं—विशुद्ध स्मृति और प्रत्यक्षाश्रित स्मृति या प्रत्यभिज्ञान। यह प्रत्यभिज्ञान एक प्रकार की मिश्रित स्मृति है, जिसमें प्रत्यक्ष भी अल्पांश में विद्यमान रहता है। शुक्ल जी की मान्यता है कि इसमें रस-सचार की प्रचुर क्षमता होती है। इन्होंने स्मृति के आधार पर कल्पना की एक नूतन कोटि निरूपित की है—'स्मृत्याभास कल्पना'। इसका उपयोग ऐतिहासिक नाटकों अथवा उपन्यासों में होता है।[1] यह स्मृत्याभास कल्पना कभी-कभी आप्त शब्द या ऐतिहासिक विश्वासों पर भी निर्भर रहती है। इस कल्पना की एक तीसरी उपकोटि होती है, जो स्मृति और अनुमान के मिश्रण से पैदा होती है। इस तरह शुक्ल जी ने स्मृति और कल्पना पर व्यवस्थित ढंग से विचार किया है तथा दोनों के अन्तर का निरूपण किया है। कल्पना को एक प्रकार का मानसिक रूप-विधान मानते हुए इन्होंने लिखा है कि "मन के भीतर रूप-विधान दो तरह का होता है। या तो यह कभी प्रत्यक्ष[2] देखी हुई वस्तुओं का ज्यों का त्यों प्रतिबिम्ब होता है अथवा प्रत्यक्ष देखे हुए पदार्थों के

१ आधुनिक आंग्ल उपन्यासों में कल्पना के प्रयोग पर *John McCormick* ने विस्तृत कार्य किया है। द्रष्टव्य—Catastrophe and Imagination by *John McCormick*, Longamans, Green & Co , London, 1957.

२ यहाँ ज्ञातव्य है कि शुक्ल जी ने 'प्रत्यक्ष' को विस्तृत अर्थ में प्रयुक्त किया है, केवल चाक्षुष सन्निकर्ष के अर्थ में नहीं। इन्होंने 'प्रत्यक्ष' की अर्थप्रतिपत्ति को निर्दिष्ट करते हुए लिखा है कि "प्रत्यक्ष से हमारा अभिप्राय केवल चाक्षुष ज्ञान से नहीं है। रूप शब्द के भीतर शब्द, गंध, रस और स्पर्श भी समझ लेना चाहिए। वस्तु-व्यापार-वर्णन के अन्तर्गत ये विषय भी आ जाते हैं।"—रसमीमांसा, ले० रामचन्द्र शुक्ल, काशी नागरी प्रचारिणी सभा, संवत् २००६, पृष्ठ २६२।

रूप, रग, गति आदि के आधार पर खडा किया हुआ नया वस्तु-व्यापार-विधान। प्रथम प्रकार की आभ्यतर रूप-प्रतीति स्मृति कहलाती है और द्वितीय प्रकार की रूप-योजना या मूर्त्तिविधान को कल्पना कहते हैं।"[1] शुक्ल जी से भी आगे बढकर कुछ विद्वानो ने यह माना है कि दुर्बल स्मृति द्वारा प्रसूत कल्पना से निर्मित बिम्ब भी निर्बल होते हैं। इसलिए कलाकार की स्मृति सामान्य जन की अपेक्षा अधिक सशक्त होती है। इतना ही नही, कलाकार अपनी स्मृति को कलात्मक पूर्णता के लिए, जाने अथवा अनजाने, विशेष ढग से दीक्षित एव अनुशासित करता है।

इस अल्प चर्चा से ही स्पष्ट है कि कल्पना के सन्दर्भ मे स्मृति और प्रत्यभिज्ञा का कितना महत्त्व है। अत यहाँ हम स्मृति और प्रत्यभिज्ञा पर तनिक विस्तार मे विचार करने की चेष्टा करेंगे।

स्मृति मूलत: ज्ञान का एक अश है। स्मृति और अनुभव दोनो ही ज्ञान से सम्बन्वित हैं—'ज्ञातविषयम् ज्ञानम् स्मृति । अनुभवो नाम स्मृति व्यतिरिक्तं ज्ञानम्।"[2] अर्थात् ज्ञातविषयक ज्ञान को स्मृति और उससे इतर अर्थात् अज्ञात विपयक ज्ञान को अनुभव कहते हैं। यह ज्ञातविषयक ज्ञान भी दो प्रकार का होता है, जिनमे एक को स्मृति और दूसरे को प्रत्यभिज्ञा कहते हैं। किसी वस्तु के गोचर प्रत्यक्ष से अथवा उस प्रत्यक्षज ज्ञान से हमारी आत्मा मे एक सस्कार उत्पन्न होता है। यहाँ यह वात लक्ष्य करने योग्य है कि प्रत्यक्षीकृत वस्तु का ज्ञान तो स्थिर नही रहता है, किन्तु तत्प्रसूत सस्कार सतत विद्यमान रहता है। यह सस्कार जब कालान्तर मे किसी कारण से उद्‌बुद्ध होता है, तब इन्द्रियादि की बाह्य सहायता के बिना ही हमे उस सस्कार को पैदा करने वाली वस्तु का ज्ञान होने लगता है। इसी ज्ञान को हम स्मृति कहते है। अर्थात् स्मृति सदा ज्ञात विषय की होती है और स्मृति का कारण सर्वदा सस्कार का उद्‌बोध ही होता है। अत स्मृति की एक परिभाषा इस प्रकार भी की गई है—'सस्कार जन्य ज्ञान स्मृति.'। इस परिभाषा की दृष्टि से स्मृति को समझने के लिए एक काव्यात्मक उदाहरण लीजिए। 'अभिज्ञान शाकुन्तलम्' के षष्ठ अक मे कालिदास ने दुष्यन्त की विरह-कल्पना मे स्मृति को विरह का उद्दीपक कारण बनाया है। यहाँ उत्कट विरह की सम्पूर्ण कल्पना स्मृति-निर्भर है। दुष्यन्त ने शकुन्तला को अंगूठी क्यो दे दी थी, विदूषक को इसीका कारण वतलाते समय

---

१. रसमीमासा, ले० रामचन्द्र शुक्ल, काशी नागरी प्रचारिणी सभा, सवत् २००६, पृ० २६० ।

२. स्मृति और अनुभव का लक्षण—'सस्कारमात्रजन्य ज्ञान स्मृतिः। तदिभन्नं ज्ञानमनुभवः'।—तर्कसंग्रह', अन्नम्भट्ट, खेलाडीलाल एण्ड सन्स, वाराणसी, विक्रमाब्द १६६१, पृष्ठ २५-२६ ।

राजा दुष्यन्त शकुन्तला को दिया गया आश्वासन दुहराते हुए कहते हैं—

एकैकमत्र दिवसे दिवसे मदीय
नामाक्षर गणय गच्छसि यावदन्तम् ।
तावत् प्रिये ! मदवरोध निदेशवर्त्ती
नेता जनस्तव समीपमुपंष्यतीति ।।

अर्थात्, राजा ने अँगूठी देते हुए शकुन्तला से कहा था कि शकुन्तले ! इस तपोवन मे रहती हुई तुम एक-एक दिन मुद्रिका पर अकित मेरे नाम के एक-एक अक्षर को गिनना । तुम उसके सभी अक्षर गिन भी नही सकोगी कि इसी बीच मे मेरा अन्तःपुर का कोई आज्ञाकारी सेवक तुम्हे ले जाने के लिए तुम्हारे पास आ जायगा । यानी केवल तीन-चार दिनो के लिए ही सब्र करने की जरूरत है ।

यहाँ 'नामाक्षर गणय' मे हम मुद्रिका रूपी उद्दीपक कारण की विद्यमानता से राजा के चित्त मे शकुन्तला को दिए गए वचन-सस्कार का उद्बोध पाते हैं, क्योकि राजा इसके पहले शकुन्तला को इस आशय का आश्वासन दे चुके थे । पुनः जहा राजा दुष्यन्त शकुन्तला को दी गई अभिज्ञान-स्वरूप मुद्रिका धीवर से प्राप्त करते हैं और शकुन्तला के रूप-सौदर्य तथा यौवन का स्मरण कर मुद्रिका को उपालम्भ देते हैं, वहाँ हमे स्मृति पर आधारित कल्पना का उदाहरण मिलता है । जैसे—

तव सुचरितमङ्गुरीय । नून प्रतनु कृशेन विभाव्यते फलेन ।
अरुण नख मनोहरासु तस्याश्च्युतमसि लब्धपद यदङ्गुलीषु ।।

—'अयि अँगूठी ! अल्पफल देखकर तुम्हारा पुण्य भी अल्प ही है, ऐसा मै अनुमान करता हूँ, क्योकि तुम उस शकुन्तला की रक्तवर्ण नखोवाली सुन्दर अँगुली मे स्थान पाकर भी गिर पड़ी ।' यहाँ अनुपस्थित शकुन्तला की अँगुलियो के लिए (पूर्वदर्शन के आधार पर) 'अरुण नख मनोहरासु' कहने से स्मृति का सन्निवेश है । इसी तरह श्री हर्ष के 'नैषधचरितम्' मे भी एक जगह नल-दमयन्ती सवाद मे स्मृति-निर्भर कल्पना का बड़ा सुन्दर उदाहरण मिलता है । दमयन्ती के प्रति नल की इस उक्ति मे काम-कला-निपुण दमयन्ती की छद्म निद्रा और पद्मनाभि की कितनी आकुल स्मृति है—

स्मरसि छद्मनिद्रालुर्मया नाभौ शयार्पणात् ।
यदानन्दोल्लसल्लोमा पद्मनाभी भविष्यसि ।।'

के समान हो गई थी।" इस तरह 'नैषध' के विंश सर्ग का अधिकांश इसी स्मृति-निर्भर कल्पना से निर्मित हुआ है।

उक्त उदाहरणो के द्वारा हमने देखा कि किस प्रकार सस्कारो के उद्बोध से स्मृति का उदय होता है। अब हमे स्मृति के 'विभाव', उद्दीपन अथवा उद्बोधन पर भी विचार कर लेना चाहिए। सादृश्य, अदृष्ट और चिन्ता स्मृति के प्रमुख उद्बोधक हैं—'सादृश्यादृष्ट चिन्ताद्या. स्मृतिबीजस्य बोधका:।"[1] इनमे स्मृति के प्रथम उद्बोधक 'सादृश्य' से कल्पना का घनिष्ठ सम्बन्ध है। मेघो के झीने चीनाशुक मे छिपे चाद को देखकर घूंघट काढी हुई अपनी प्रियतमा का स्मरण हो आना सादृश्य से उद्बुद्ध स्मृति है और उसे काव्य मे योजित कर देना कल्पना का कमाल है। स्मृति मे छिपे इस सादृश्य तत्त्व से ही कल्पना का निकट सम्बन्ध है। वस्तुत कल्पना का एक कार्य यह है कि वह प्रस्तुत अथवा 'प्रत्यक्ष' से सादृश्य रखने वाली किसी ज्ञात वस्तु को पूर्वानुभव के सस्कारो से कुरेद कर अप्रस्तुत के रूप मे उपस्थित कर दे।[2]

इसी तरह कल्पना का सम्बन्ध ज्ञात विषयक ज्ञान के दूसरे रूप—प्रत्यभिज्ञा से भी है। प्रत्यभिज्ञा 'तत्ता' और 'इदन्ता' दोनो का अवगाहन करने वाली प्रतीति है—'तत्तेदन्तावगाहिनी प्रतीतिः प्रत्यभिज्ञा'। 'तत्ता' का अर्थ है तद्देशीय और तत्कालीन सम्बन्ध अर्थात् पूर्व देश और पूर्व काल का सम्बन्ध तथा 'इदन्ता' का अर्थ है एतद्देशीय और एतत्कालीन सम्बन्ध। इस तरह प्रत्यभिज्ञा मे अतीत की प्रत्यक्षीकृत वस्तु का वर्त्तमान मे पुन॰प्रत्यक्ष होता है। साराश यह है कि जिसमे पूर्व देश और पूर्वकाल के साथ ही वर्त्तमान देश और वर्त्तमान काल—दोनो की प्रतीति हो, उस प्रतीति को प्रत्यभिज्ञा कहते हैं।[3] इसीलिए स्मृति

---

१. साहित्यदर्पण में सचारी भाव के अन्तर्गत स्मृति का इस प्रकार निरूपण किया गया है—

सदृशज्ञानचिन्ताद्यैर्भ्रूसमुल्लासनादिकृत्।
स्मृति॰ पूर्वानुभूतार्थविषय ज्ञानमुच्यते ॥
—साहित्यदर्पण, तृतीय परिच्छेद, श्लोक संख्या १६२।

२. 'प्रमृष्ट तत्ताक स्मृति', जिसमें विषय का अधिक ग्रहण नहीं होता, कल्पना के लिए विशेष सहायिका सिद्ध होती है। पन्त की 'वह सरला उस गिरि को कहती थी बादल घर' वाली सपूर्ण कविता, प्रमुष्ट तत्ताक स्मृति पर निर्भर कल्पना का एक सुन्दर उदाहरण है। कभी पर्वत का चित्रण, कभी पावस का और उस सरला का आद्यन्त अस्पष्ट रूपलेख स्मृति-प्रमोष के निदर्शन हैं।

३. श्री प्रभाचन्द्राचार्य ने प्रत्यभिज्ञा का लक्षण तथा भेद निरूपित करते हुए लिखा है—

दर्शन-स्मरण कारणकं सङ्कलनं प्रत्यभिज्ञानम्।
तदेवेद तत्सदृशं तद्विलक्षण तत्प्रतियोगीत्यादि ॥
—प्रमेय कमल मार्त्तण्ड, निर्णय सागर, ११४? ई०, अध्याय ३, सूत्र ५।

और अनुभव (क्रमश अतीत और वर्तमान) दोनो की युगपद् स्थिति रहने के कारण प्रत्यभिज्ञा को उभयात्मक ज्ञान कहा गया है। इसकी उत्पत्ति मे सस्कार तथा इन्द्रिय-सन्निकर्ष—दोनो का योग रहता है। उदाहरणार्थ—'सोऽय देवदत्त.।' यह वही देवदत्त है, जिसे हमने (काशी मे) देखा था। इसमे 'स' पद तत्ता अर्थात् पूर्वदेश-पूर्वकाल-सम्बन्ध का द्योतक और 'अय' पद इदन्ता अर्थात् एतद्देश-एतत्काल सम्बन्ध—वर्तमान देश और वर्तमान काल के सम्बन्ध —का बोधक है। इस तरह 'स' पद देवदत्त की पूर्वदृष्ट देशकालादिविशिष्ट अवस्था को प्रकाशित करता है। अत उपर्युक्त उदाहरण मे 'तत्ता' रूप पूर्वदेश एव पूर्वकाल का द्योतक 'स' अश स्मरणात्मक है और उसकी उत्पत्ति पूर्व-दर्शनजन्य सस्कार के उद्बोधन से होती है। इसके विपरीत 'अय' पद से बोधित एतद्देश-एतत्काल रूप 'इदन्ता' अश प्रत्यक्षात्मक है, जिसकी उत्पत्ति इन्द्रिय और प्रस्तुत वस्तु के सन्निकर्ष मे होती है। इस प्रत्यभिज्ञा के 'तत्ता' और 'इदन्ता' दोनो ही अशो मे कल्पना का निकट सम्बन्ध है।

प्रत्यभिज्ञा पर आश्रित कल्पना के भूरिश उदाहरण भवभूतिकृत 'उत्तर-रामचरित' के द्वितीय और तृतीय अक मे मिलते हैं। इन अको की 'उत्पाद्य' कथा ही प्रत्यभिज्ञाश्रित कल्पना के लिए अत्यन्त उपयुक्त है। अपने नयनो की अमृतवर्तिका (अमृतवर्तिनयनयो) सीता के विरह मे राम स्वय ही स्मृति-विह्वल हैं, उस पर भी वासन्ती के मर्मन्तुद कथन और अपने चित्त की दोलित अवस्था के कारण विरही राम को अभी जंगल के वे स्थल, जहाँ सीता के सहवास-काल मे उन्होने अनेक आमोद-प्रमोद किए थे, काटने को दौडते हैं। साराश यह कि कथा का सपूर्ण परिवेश ही प्रत्यभिज्ञा के अनुकूल है। इसलिए इन दो अको के कतिपय श्लोको मे हमे 'एतानि तानि, सोऽय, एतत्तदेव, एते त एव', इत्यादि जैसे 'तत्ता-इदन्ताबोधक' अनेक शब्द मिलते हैं। जैसे—

> यत्र द्रुमा अपि मृगा अपि बन्धवो मे
> यानि प्रियासहचरश्चिरमध्यवात्सम्।
> एतानि तानि बहुनिर्झरकन्दराणि
> गोदावरी परिसरस्य गिरेस्तटानि॥

(तृतीय अक)

यह विरही राम की उक्ति है कि "ये वही गोदावरी के तटस्थित निर्झर कन्दरा-

वाले पर्वतीय स्थल हैं, जहाँ मैं वृक्ष और पशुओ की मित्रता के बीच प्राण-प्रिया सीता के साथ चिरकाल तक रहा था।'' यहाँ 'एतानि तानि' से सूचित तत्ता और इदन्ता के संयोग के कारण हमे प्रत्यभिज्ञा का ललित उदाहरण मिलता है। इसी तरह जब वासन्ती विरह-व्याकुल और सुधि-विह्वल राम से एक शिलातल पर आसन ग्रहण करने के लिए निवेदन करती हुई कहती है—

एतत्तदेव कदली वनमध्यवर्त्ति
कान्तासखस्य शयनीयशिलातलं ते।
अत्रस्थिता तृणमदाद्बहुशो यदेभ्य·
सीता ततो हरिणकनं विभुच्यते स्म॥

(तृतीय अक)

तब हमे उस प्रत्यभिज्ञा का उदाहरण मिलता है, जिसके लिए कोई पूर्व-परिचित वस्तु अथवा स्थल पुन प्रत्यक्ष के बाद उद्दीपन या उद्बोधक का काम करता है। इस कोटि की स्थल-विशेष से उद्दीप्त प्रत्यभिज्ञा, विशेषकर विरह-प्रसगो मे, बडी मादक सिद्ध होती है, क्योकि मिलन के मादक क्षणो मे जो स्थल केलि-कलाप के केन्द्र बने रहते हैं, उन्ही स्थलो पर जब वियोग की दुर्निवार दारुण घडियो मे वियुक्त व्यक्ति को विरह की काकरी चुननी पडती है, तब विरही के स्मृति-समुद्गक मे दश-पीर के घनेरो बुल्ले उठने लगते है। प्राय· ऐसी भावुक स्थिति मे प्रत्यभिज्ञा अतिस्मृति (हाइपरम्नेसिया) के अन्तर्गत आ जाती है।

किन्तु, इस विवेचन से यह न समझना चाहिए कि प्रत्यभिज्ञा सर्वत्र स्थल प्रसगक ही होती है। कला के क्षेत्र मे हल्की अथवा अपुष्ट प्रत्यभिज्ञा भी अतीत और वर्त्तमान, तत्ता और इदन्ता तथा पूर्वदेश और एतद्देश का सथिस्थल होने के कारण निविड सवेग और उपचित भाव को जगाने मे सक्षम होती है। वस्तुत प्रत्यभिज्ञा मे प्रमाता और प्रमेय के बीच पूर्वदर्शन तथा पुनर्दर्शन का अन्तराल पुनर्दर्शन-काल के इन्द्रिय-सन्निकर्ष को बहुत ही तीक्ष्ण और प्रभावक बना देता है। इसलिए प्रत्यभिज्ञा का सूक्ष्म अथवा नगण्य आलम्बन भी कल्पना विधान का सुन्दर विभाव बन जाता है। उदाहरणार्थ, जब मूर्च्छित राम को चेतन करने के लिए (भागीरथी के वरदान से अदृश्य) सीता तमसा के परामर्श से राम के पास जाती है, तब उस विद्युत-स्पर्श को तत्क्षण पहचानते हुए राम कहते है—

आश्च्योतनं नु हरिचन्दनपल्लवानां
निष्पीडितेन्दुकरकन्दलजो नु सेकः।
आतप्तजीवितपुनः परितर्पणोऽयं
संजीवनौषधिरसो नु हृदि प्रसिक्त॥

स्पर्शः पुरा परिचितो नियत स एव
सजीवनश्च मनसः परिमोहनश्च ।
सतापजां सपदि य परिहृत्य मूर्च्छा—
मानन्दनेन जडतां पुनरातनोति ॥[1]

यहाँ प्रत्यभिज्ञा के एक अतिसामान्य आलम्बन—पुरापरिचित स्पर्श—के आधार पर ऐसी उन्नमित कल्पना की गई है कि सर्वेश की ज्योत्स्ना को कौन कहे, कल्पवृक्ष के मसृण पल्लव-रस को अंगुलियो की नोक पर उतरना पडा है।

इन प्रेम-प्रसगो के अलावे प्रकृति के सौदर्य-चित्रण मे भी प्रत्यभिज्ञा पर आश्रित कल्पना का पूरा उपयोग हो सकता है। भवभूति ने ही 'उत्तररामचरित' के द्वितीय अक मे प्रत्यभिज्ञाश्रित कल्पना के सहारे राम की पुष्पक-विमान-यात्रा के समय वन्य प्रकृति का सुन्दर चित्रण उपस्थित किया है।[2] साराश यह कि कलान्तर्गत कल्पना-विधान मे प्रसगानुमोदित प्रत्यभिज्ञा बहुत सहायक सिद्ध होती है। साथ ही, प्रत्यभिज्ञा की रसात्मक दशा मे मन इतना रमणशील हो जाता है कि आश्रय अथवा भावक का निजी व्यक्तित्व अपने सारे विशेषत्व और पार्थक्य भावना के साथ विलुप्त हो जाता है।

इस प्रकार कल्पना, स्मृति और प्रत्यभिज्ञा की उपरिलिखित चर्चा का निष्कर्ष यह निकला कि कल्पना भूत पर आधारित होती हुई भी भविष्योन्मुख रहती है, जबकि स्मृति का सम्बन्ध मात्र भूतकाल की घटनाओ और अनुभूतियो से रहता है। दूसरी ओर प्रत्यभिज्ञा केवल अतीत और वर्त्तमान से सम्बन्ध रखती है, जबकि कल्पना भविष्य से सम्बन्ध ही नही रखती, बल्कि कल्पना मे आई बहुत-सी वस्तुएँ भविष्य मे निर्मित भी हो जाती है। इस प्रकार काल को स्वायत्त करने की दृष्टि से कल्पना सर्वाधिक समृद्ध है। पुन स्मृति और कल्पना म एक अन्तर यह है कि स्मृति मे हमे किसी पूर्वानुभव की वस्तु का (केवल वस्तु का) सचित सस्कारो के उद्बोध से स्मरण होता है, किन्तु, कल्पना में स्मृति के मात्र आलम्बन (वस्तु) का नही, उसके आसगो और साहचर्य का भी स्मरण होता है। उदाहरणार्थ, किसी के कथन-विशेष का स्मरण स्मृति है, किन्तु, उस कथन के साथ ही कथनकर्त्ता की भाव-भगिमा, सजील मुद्रा आदि का भी स्मरण हो आना कल्पना है। दूसरी बात यह है कि स्मृति और प्रत्यभिज्ञा मे मनुष्य भोक्ता-मात्र रहता है, किन्तु, कल्पना मे कुछ अशो तक 'नवीन का स्रष्टा' भी। तदनन्तर अतीत, वर्त्तमान और भविष्य

—तीनो के समागम के कारण कल्पना मे क्रान्तदर्शिता रहती है।[1]

कल्पना के प्रसंग मे सवेदन (सेन्सेशन) पर भी विचार करना आवश्यक है, क्योंकि कल्पना मे सवेदन का प्रचुर महत्त्व है। संवेदन के सहारे ही कल्पना जीवित होती है। इसलिए कल्पना चाक्षुष, श्रावण, अथवा स्पर्शिक सवेदनों का, प्राय, साथ नही छोडती है। वास्तविकता यह है कि हमारी ऐन्द्रिय अनुभूतियो की अनुकूल और प्रतिकूल वेदना ही, जो हमारे सवेदनो के मूल रूप है, कल्पना को गति प्रदान करती हैं। अत हर्टले का यह मत सुविचारित प्रतीत होता है कि हमारे सवेदन अर्थात् ऐन्द्रिय अनुभूतियो के सुख-दु ख ही कल्पना पर आरोपित होते है। इस ऐन्द्रिय अनुभूति की प्रधानता के कारण कल्पना मे चाक्षुष प्रत्यक्ष का सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण स्थान है, क्योकि अन्य इन्द्रियो की अपेक्षा चक्षु सवेदन प्राप्त करने का अधिक व्यापक माध्यम प्रस्तुत करते है।[2] साराश यह है कि कल्पना का हमारे सवेदनो से निकट सम्बन्ध सिद्ध होता है। कल्पना के प्रति यह सवेदनावादी दृष्टिकोण सत्रहवी शताब्दि मे बहुत ही प्रबल था।[3] यौवनावस्था मे सामान्यत व्यक्ति का अधिक काल्पनिक होना भी इसे सिद्ध करता है कि कल्पना का सवेदन से निकट सम्बन्ध है। यौवनावस्था मे सवेदन-शक्ति तीव्रतम रहती है, क्योकि वस्तु-प्रत्यक्ष के उपरान्त तीव्र ऐन्द्रिय प्रतिक्रिया का उत्सारण एक अभ्यास-सा हो जाता है। इसलिए युवक आत्मनिष्ठ या वस्तुनिष्ठ राग-विराग और अधिकतर प्रेय के प्रति बहुत जागरूक तथा सचेष्ट रहता है। वस्तुत. वय-दृष्टि से यौवनावस्था सवेदनशील कल्पना के लिए सर्वोत्तम काल है।

अब हम सक्षेप मे बुद्धि और कल्पना पर विचार करेंगे। बुद्धि वह शक्ति है, जिसके द्वारा मनुष्य किसी उपस्थित विषय के सम्बन्ध मे ठीक-ठीक विचार या निर्णय कर सकता है। इसीलिए बुद्धि को कुछ विचारक 'अन्त.करण की निश्चयात्मिका वृत्ति' कहते हैं। साख्यदर्शन के अनुसार बुद्धि महत्तत्व है, अतः प्रकृति का प्रथम विकास-तत्त्व है। अर्थात्, बुद्धितत्त्व सत्त्वगुण का सर्वप्रथम प्रादुर्भाव है। गीता मे बुद्धि के तीन प्रकार माने गए हैं—सात्विकी, राजसी

---

१. 'पावर ऑव मेंटल इमेजरी', ले० वारेन हिल्टन, फक एण्ड वैग्नाल्स कम्पनी, न्यूयार्क, १६२७, पृ० ५।

२. इस दृष्टि से एडिसन की ये पक्तिया विचारणीय है—"वी कैन नॉट इनटीड हैव ए सिंगल इमेज इन द फ़ैंसी दैट डिड नॉट मेक इट्स फर्स्ट एन्ट्रेन्स थ्रू द साइट।"—स्पेक्टेटर, पृ० ४८७, ५०३।

३. देखिए—एस्थेटिक्स, ले० क्रोचे, अनुवादक, डगलस एन्स्ली, लन्दन, १९५३, पृष्ठ २०१-२०३।

एव तामसी ।[1] जिस बुद्धि के द्वारा हम प्रवृत्ति, निवृत्ति, कर्त्तव्य-अकर्त्तव्य, बन्धन और मोक्ष का ज्ञान प्राप्त करते हैं, वह सात्विकी है, जिस बुद्धि के द्वारा हम धर्म, अधर्म अथवा कर्त्तव्याकर्त्तव्य का यथार्थ निर्णय नही करते हैं, वह राजसी बुद्धि है और जो बुद्धि सब बातो मे उल्टी समझ पैदा करती है, उसे तामसी बुद्धि कहते है ।[2] किन्तु, बुद्धि के इन स्वरूपो से कला जगत् की कल्पना का कोई ऋजु अथवा अनृजु सम्बन्ध नही है । हमारे शास्त्रो मे बुद्धि का निरूपण एक दूसरे ढग से हुआ है, जिसके अनुसार निद्रावृत्ति, व्यवसाय, चित्तस्थैर्य, सशय और प्रतिपत्ति बुद्धि के पाँच विशिष्ट गुण हैं । दूसरी दृष्टि मे बुद्धि के सात गुण माने गए हैं—शुश्रूषा, श्रवण, ग्रहण, धारण, ऊह, अमोह और अर्थ-विज्ञान । बुद्धि के इस विश्लेषण से भी कल्पना का प्रयोजन सिद्ध नही होता है । उपर्युक्त गुणो के अतिरिक्त बुद्धि की पाँच वृत्तियाँ मानी गई है—प्रमाण, विपर्यय, विकल्प, निद्रा और स्मृति । इनमे विपर्यय, विकल्प और स्मृति का कल्पना के साथ सीधा सम्बन्ध पडता है । पुन नैयायिको ने नित्या और अनित्या रूपो को छोडकर बुद्धि के जो दो भेद—अनुभूति और स्मृति—बतलाए हैं, उनका कल्पना के विश्लेषण मे पुष्कल उपयोग सिद्ध होता है । हम देख चुके हैं कि आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने कल्पना के विश्लेषण मे अनुभूति और स्मृति को कितना महत्त्वपूर्ण स्थान दिया है ।

इस अल्प पृष्ठिका को प्रस्तुत करने के उपरान्त कल्पना पर दार्शनिक दृष्टि से विचार कर लेना उचित है । दार्शनिक दृष्टि से कल्पना एक प्रकार की ग्रात्मस्थ 'अविद्यामाया' है । इसलिए इसमे सत्य नही, सत्याभास और सादृश्य नही 'आपात सदृश' की अनिवार्य स्थिति रहती है । इस प्रकार कल्पना चित्त की निवृत्ति नही, मन की प्रवृत्ति है, अर्थात्, एक प्रकार का 'उपराग' है । अत ऋत-दृष्टि मे कल्पना मे केवल 'प्रातिभासिक सत्य' रहता है, क्योकि कल्पना मूलत व्यक्तिगत प्रतीति पर निर्भर रहती है । जैसे, चाँदनी मे उठती गगा की लहरो को देखकर कवि का यह लिखना—

---

१ प्रवृत्ति च निवृत्ति च कार्याकार्ये भयाभये ।
बन्ध मोक्ष च या वेत्ति बुद्धिः सा पार्थ सात्विकी ॥३०॥
यया धर्ममधर्मं च कार्यं चाकार्यमेव च ।
अयथावत् प्रजानाति बुद्धि. सा पार्थ राजसी ॥३१॥
अधर्मं धर्ममिति या मन्यते तमसावृता ।
सर्वार्थान्विपरीतांश्च बुद्धि सा पार्थ तामसी ॥३२॥

—श्रीमद्भगवद्गीता, अध्याय, १८ ।

२. श्रीमद्भगवद्गीता रहस्य, पं० लोकमान्य बालगंगाधर तिलक, अनुवादक, माधवराव सप्रे, पूना, १९५५, पृ० १४६ ।

चाँदी के साँपो सी रलमल नाचतीं रश्मियाँ जल मे चल
रेखाओ-सी खिच तरल-सरल ।[1]

एक व्यक्तिगत प्रतीति है। सबो को चन्द्रिका-स्नात लहर चाँदी के साँप सी प्रतिभासित नही हो सकती है। इसलिए मूर्त्तविधायिनी शक्ति से मण्डित होने पर भी कल्पना सर्वथा और सर्वदा सविशेष होती है; वह निर्विशेष कभी नही होती। साथ ही, उक्त प्रातिभासिक सत्य पर निर्भर रहने के कारण कल्पना कभी भी ऋतम्भरा नही होती है। अत मेरी दृष्टि मे सत्य के साथ कल्पना को तुलित करने का दृष्टिकोण मूलतः भ्रान्त है। कोई कल्पना कला के क्षेत्र मे स्वायत्त 'सत्य या असत्य' के कारण श्रेष्ठ अथवा अवर सिद्ध नही होती, बल्कि उसका इतना ही प्रयोजन है कि वह कलाकार की 'वासना' को रस-रूप मे परिणत कर दे।

कल्पना जहाँ उस वस्तु का बोधाभास प्रस्तुत करती है, जो 'वस्तु' वास्तव मे इन्द्रिय-ग्राह्य नही है, वहाँ उसमे अनुमान का समावेश हो जाता है, क्योकि जो वस्तु या पदार्थ इन्द्रिय-ग्राह्य नही है, उसके ज्ञान के साधन को ही अनुमान कहते हैं। साख्य दर्शन मे, इसीलिए, अनुमान को इस प्रकार परिभाषित किया है—'प्रतिबन्धदृशः प्रतिबद्धज्ञानमनुमानम्'। जैसे, मानसरोवर मे रहने वाले हसो की कल्पना। सचमुच, किसी ने मानसरोवर मे रहने वाले हसो को नही देखा है। इस कवि-प्रसिद्धि का कारण अनुमान ही है। मानसरोवर उत्तर मे है, सुन्दर पुष्कर है और हस भी उत्तर की ओर उडकर जाते हैं, जबकि वे प्राय. पुष्कर-सेवी हुआ करते हैं। इस प्रकार इस सरणि पर यह अनुमान-लब्ध कल्पना हो गई कि मानसरोवर मे हस रहते हैं। अनुमान की प्राय. तीन कोटियाँ मानी जाती है—पूर्ववत्, शेषवत् और सामान्यतोदृष्ट।[2] जहाँ कवि अपनी अनुभूतियो के आधार पर पात्र का मनोनिवेश प्रस्तुत करता है, वहाँ पूर्ववत् अनुमान काम करता है। जैसे, निजी सुहागरात मे प्राप्त नवेली की आत्यन्तिक लज्जालु चेष्टाओ के आधार पर काव्य-निबद्ध नायिका की अलम्बुषा-सी सलज्ज-सलील क्रियाओ का अकन। शेषवत् अनुमान उसे कहते हैं, जिसमे कवि आगत प्रत्यक्ष को देखकर (बिना दूर की कौड़ी चुने हुए) किसी आगमिष्यत् अप्रत्यक्ष का अन्दाज लगा लेता है। जैसे, श्यामल या मेदुर मेघखण्डो को देखकर वृष्टि की कल्पना। और, सामान्यतोदृष्ट अनुमान उसे कहते हैं, जिसमे 'विशेष' के कार्य से 'सामान्य' की अथवा 'एक' के आधार पर 'समस्त'

---

१. आधुनिक कवि, सुमित्रानन्दन पन्त, हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग, छठा सस्करण, पृ० ५७।

२. साख्यतत्त्वकौमुदी-प्रभा, व्याख्याकार—डॉ० आद्याप्रसाद मिश्र, सत्य प्रकाशन मन्दिर प्रयाग, १९५६, पृष्ठ ३८।

की जातिगत 'गुण कल्पना' की जाती है। जैसे, एक-दो लाजवन्ती के कपोलो पर लाली देखकर सामान्य नारी-जाति के सम्बन्ध मे लज्जा की अवस्था मे कपोल और कर्णमूलो के लाल होने का अनुमान कर लेना। इस प्रकार वीत और अवीत[1] अनुमान की सभी कोटियो मे यथार्थ का थोडा-सा पुट अवश्य रहता है। दूसरे शब्दो मे 'अनुमान' का 'आधारस्वरूप' प्रत्यक्ष ही उसका यथार्थ है, जैसे—प्रथम उदाहरण मे हस, दूसरे मे मेघ और तीसरे मे प्रत्यक्षीकृत या आलम्बनगत लाजवन्ती। इसीलिए वही कलाकार उत्कृष्ट कल्पनाओ के लिए समर्थ सिद्ध होता है, जो यथार्थ द्रष्टा हुआ करता है और वस्तु का नैमित्तिक ज्ञान रखता है।

क्रिया-पक्ष की दृष्टि मे कला कल्पना का भोग—'चिदवसानो भोग'—है। इसलिए जीवन के प्रारम्भ मे कल्पनाओ का धनी रहने वाला कवि अन्त मे दार्शनिक मात्र रह जाता है, क्योंकि कला-सृजन के क्रम मे कल्पना की शक्ति छीजती रहती है। यदि हम प्रश्नोपनिषद्' के दो शब्दो का सहारा लें, तो कल्पना और कलाकार के सम्बन्ध को हम 'आद्य' और 'अत्ता' का सम्बन्ध कह सकते हैं।[2]

कल्पना के क्षणों मे कलाकार की चित्तवृत्तियाँ असम्प्रज्ञात योग (सम्प्रज्ञात योग अर्थात् वृत्तियो के निरोध की विपरीत दशा) की अवस्था मे रहती है, किन्तु, उसका आनन्द लेने वाला 'सहृदय' कला के 'विषय' को अपना 'विषय' बनाकर प्रत्याहार की स्थिति मे आ जाता है। इसलिए कला कभी भी 'वृत्ति-निरोध' के अर्थ मे प्रयुक्त होने वाला 'योग' नही बन सकती। विशेषकर आधुनिक कला मे प्राप्त होने वाली कलाकार की वह 'अस्मिता' तो योग का प्रतिपादित करने वाले दर्शन की दृष्टि से 'बन्ध का हेतु-विपर्यय' सिद्ध हो जायगी, जो आस्थावान कलाकारो के लिए सब कुछ है। यहाँ यह भी ध्यातव्य है कि कल्पना मे, प्राय, विविक्त-बोध (एकान्त ज्ञान) नही के बराबर रहता है। अर्थात्, कल्पना का बोध सर्वत्र, सर्वथा और सर्वदा सापेक्ष हुआ करता है, क्योंकि 'विविक्त-बोध' होने से सृजन-चेतना के प्रति निवृत्ति और निरोध का भाव जग जाता है,[3] जो कलाकार के लिए अनिष्टकर है।

---

१. अनुमान काल की दृष्टि मे दो प्रकार का होता है—वीत और अवीत। वीत अनुमान के अन्तर्गत पूर्ववत् और सामान्यतोदृष्ट आते है तथा अवीत के अन्तर्गत शेषवत्।—*The Samkhya Karika of Iswara Krsna*, with an Introduction and Translation by *S S Suryanarayana Sastri*, University of Mudras, 1930, Page 17

२. प्रश्नोपनिषद्, द्वितीय प्रश्न, श्लोक संख्या ११।

३. 'विविक्त बोधात् सृष्टिनिवृत्तिः प्रधानस्य सूदवत् पाके'। सांख्यदर्शन, ६३।

तदनन्तर, कल्पना-जगत् और वास्तविक जीवन के एक ऐसे अन्तर पर हमे ध्यान देना है, जिसके चलते ललित कलाओ का सम्पूर्ण नन्दतिक परिवेश एक विशिष्टता के साथ निर्मित होता है। बात यह है कि कल्पना-जगत् के सवेग वास्तविक जीवन के सवेगो की तुलना मे, साधारणत, कमजोर होते हैं। किन्तु, कल्पना-जगत् के सवेग वास्तविक जीवन के सवेगो की अपेक्षा अधिक बोधगम्य, सुलझे हुए और टिकाऊ होते हैं, क्योंकि वास्तविक जीवन में हम नैतिक एव अन्य दायित्वो के कारण सवेगो को भोगने मे शीघ्रता करते है, स्वरूप उसका रस नही ले सकते हैं, जबकि कल्पना-जगत् मे दायित्व-मुक्त रहने के कारण हम सवेगो का रुक-रुक कर, कभी उसमे लीन होकर और कभी उससे पृथक् होकर, रस लेते है, सचमुच, वास्तविक जीवन मे व्यक्ति और सवेग के बीच एक त्वरा और अद्वयता रहती है, जो रुक-रुक कर स्वेच्छा से मनोनुकूल रसानुभूति लेने मे बाधक सिद्ध होती है।[1] इसीलिए अनेक जागतिक दायित्वो से मुक्त होकर मनोनुकूल रसानुभूति लेने के लिए मानव-मन कल्पना की ओर प्रलुब्ध होता है और कल्पना-निर्भर कलासृजन के द्वारा आन्तरिक तोष प्राप्त करता है।

उपरिलिखित सम्पूर्ण विवेचन का निष्कर्ष यही है कि कल्पना एक प्रकार की मानसिक सृष्टि है। कल्पना का अर्थ है सृजन करना, जिसका कर्त्ता प्राणि-मात्र का मन है। सामान्यत. मन को सकल्पविकल्पात्मक'[2] कहा गया है। अर्थात् मन बिना 'निश्चय' किए हुए हर प्रकार से चालित होने वाली इन्द्रिय है और कल्पना का मूल आधार हैं।[3] अत सभी ललित कलाओ को दृष्टिगत रखते

---

१. रोजर फ्राय ने "एन एसे आन एस्थेटिक्स" शीर्षक निबन्ध में इस तथ्य को बहुत सटीक अभिव्यक्ति दी है—"विजन एण्ड डिजाइन', ले० रोजर फ्राय, पृ० २६-२७। रोजर फ्राय की इस स्थापना का सम्बन्ध कलाकार और सहृदय दोनों के कल्पना-जगत् से है। किन्तु, कुछ इसी तरह की बात फिलिप गिल्बर्ट हैमर्टन ने केवल कलाकार की कल्पना अर्थात् कारयित्री कल्पना के सम्बन्ध में भी लिखी है कि यदि कलाकार आवेग-संवेग को पूरी त्वरा में भोगेगा, तो वह शैल्पिक चयन का अवकाश कैसे प्राप्त कर सकेगा?—इमाजिनेशन इन लैण्डस्केप पेंटिंग, ले० फिलिप गिल्बर्ट हैमर्टन, सीले एण्ड को०, लन्दन, १८९६, पृ० ७७-७८।

२. डॉ० नगेन्द्र ने सकल्प-विकल्प की व्याख्या इस प्रकार प्रस्तुत की है—"सकल्प का तात्पर्य अनुभूत वस्तु से सम्बद्ध पहली मानसिक धारणाओं से है—विकल्प उनकी अनुयोगी अथवा प्रतियोगी धारणायें हैं। प्रत्यक्ष इन्द्रिय ज्ञान (परिज्ञान) से जो हमारे अन्तःकरण पर प्रभाव-प्रतिबिम्ब पड़ते हैं, उनका मन ही में समीकरण करके उन्हें बुद्धि के समक्ष उपस्थित करता है।"—विचार और अनुभूति, ले० डॉ० नगेन्द्र, पृ० १९, प्रथम सस्करण।

३. सभवतः इसीलिए महाभारत में (शान्तिपर्व २५१, ११) मन को व्याकरण अथवा विस्तार करने वाला (मनोव्याकरणात्मकम्) कहा गया है। श्री बालगगाधर तिलक ने मन का लक्षण-निरूपण करते हुए लिखा है—"इस देह-रूपी कारखाने में 'मन' एक मुंशी (क्लर्क)

हुए हमारा निष्कर्ष यह है कि कल्पना एक प्रकार की मानसिक सृष्टि है, जो अपने सम्मूर्त्तन के लिए साधन या माध्यम के रूप मे ईंट, पत्थर, रग-तूली, स्वर या बिम्ब—किसी को भी ग्रहण कर सकती है। जो विचारक कल्पना को मानसिक बिम्ब-विधान कहते है, वे कल्पना को केवल काव्य तक सीमित कर देते है, फलस्वरूप अन्य ललित कलाओ का विस्तृत परिसर इस परिभाषा के अनुसार कल्पना से असम्पृक्त रह जाता है। किन्तु, कल्पना को केवल 'मानसिक सृष्टि' कहने से भी उसमे एक अतिव्याप्ति आ जाती है। अत सम्पूर्ण ललित कला को दृष्टिगत रखते हुए यह कहना निरापद प्रतीत होता है कि कल्पना एक ऐसी मानसिक सृष्टि है, जिसमे नन्दतिक बोध के साथ सम्मूर्त्तन की क्षमता और भावोद्बोधन का गुण रहता है।

यह नन्दतिक कल्पना सनातन और निरपेक्ष नही होती है। विभिन्न कालो और विभिन्न कलाओ मे कल्पना के स्वरूप और स्तर भिन्न होते है। कल्पना के स्वरूप-निर्माण और स्तर-निर्धारण मे युग, मूल्य-दृष्टि और परिवेश का उल्लेखनीय योग रहता है। प्रस्तरगुफाकालीन मानव और आज के स्पुतनिक युगीन मानव की कल्पना के रग-ढग मे पर्याप्त अन्तर है। नानी और मौसी की यह कहानी कि चांद मे कोई बुढिया कत्तिन बैठी-बैठी सूत कातती है—चांद पर उपनिवेश बनाने के बाद कितनी हास्यास्पद लगेगी। इतना ही नही आगामी दो-चार दशको के भीतर ही काव्य के प्रसिद्ध 'अप्रस्तुत', सादृश्य-मूलक और अतिशयमूलक अलकारो के प्रशस्त 'उपमान' चांद के प्रति, जो हमारी पौराणिक-नन्दतिक कल्पना और सौन्दर्य-बोध का एक आकर्षक केन्द्र रहता आया है, हमारी कल्पना-भगी मे कितना बडा परिवर्तन हो जायगा? तब ग्रहण के दिन राहु के ग्रसने की बात, काव्य में प्रयुक्त होने वाले राहु-चन्द्र के रूपक—सब कुछ विचित्र लगेंगे। साराश यह है कि युग-दृष्टि और परिवेश के परिवर्त्तन के साथ ही कल्पना के अनेक आयाम बनते, बिगडते और बदलते रहते है।

है, जिसके पास बाहर सब का माल ज्ञानेन्द्रियों के द्वारा भेजा जाता है। और यही मुंशी (मन) माल की जांच किया करता है।" तदनन्तर तिलक जी ने मनोव्यापारों के तीन विभाग प्रस्तुत करते हुए कहा है कि सब मनोव्यापारों में से इस सार-असार-विवेकशक्ति को अलग कर देने पर सिर्फ बचे हुए व्यापार जो जिस इन्द्रिय के द्वारा हुआ करते हैं, उसी को सांख्य और वेदान्तशास्त्र में मन कहते हैं। यही मन वकील के सदृश, कोई बात ऐसी है (संकल्प) अथवा उसके विरुद्ध वैसी है (विकल्प) इत्यादि कल्पनाओं को बुद्धि के सामने निर्णय करने के लिए पेश किया करता है। इसीलिए इसे 'संकल्प-विकल्पात्मक' अर्थात् बिना निश्चय किये केवल कल्पना करनेवाली इन्द्रिय कहा गया है।"—गीता रहस्य, ले० बालगंगाधर तिलक, पूना, १९५५, पृ० १३९-१४०।

तदनन्तर, सभी कलाओ मे कल्पना के विनियोग का स्वरूप भिन्न होता है। जिस कला का मूर्त्त आधार जितना ही स्थूल होता है, उस कला मे कल्पना के विनियोग की मात्रा उतनी ही कम रहती है। कल्पना का यह इन्द्रजाल है कि यह मूर्त्त से मूर्त्त का नही, अमूर्त्त की सहायता से मूर्त्त का निर्माण करती है। इसलिए अमूर्त्त कल्पना अपने मूर्त्तविधान के लिए अमूर्त्त आधार खोजती है। इस दृष्टि से कल्पना का निम्नतम विनियोग स्थापत्य कला मे और सर्वोत्तम विनियोग काव्य कला मे मिलता है। काव्य का सपूर्ण अप्रस्तुत-विधान कल्पना पर निर्भर रहता है तथा कल्पना के द्वारा ही काव्य के रस-प्रसग मे विभावन-व्यापार चलता है। वस्तु और भाव के उत्कर्ष को बढाने मे, साम्य अथवा वैषम्यमूलक अलकारो के प्रयोग मे, अतिशयोक्ति-पद्धति पर दूर-स्थित वस्तुओ के समीकरण मे—सर्वत्र कल्पना के पारस स्पर्श की आवश्यकता होती है। काव्य तथा काव्येतर कलाओ मे कल्पना के विनियोग का एक मुख्य उद्देश्य होता है—रिक्त स्थानो की पूर्त्ति अथवा विषमताओ का निवारण। विनियोग के इस स्वरूप का सम्बन्ध कला के विषय-पक्ष की अपेक्षा रूप-विधान से निकटतर है। इस प्रकार के विनियोग मे कलाकार कभी-कभी दो वस्तुओ के बीच गोपित सम्बन्धो का उद्घाटन और लुप्त, किन्तु, सभाव्य सम्बन्धो का पुन स्थापन करता है।

दृश्य कला और श्रव्य कला के विभाजन को दृष्टिगत रखते हुए हम कह सकते हैं कि प्रथम प्रकार की कला मे सम्मूर्त्तन-प्रधान कल्पना ('प्लास्टिक इमाजिनेशन') का विनियोग होता है, जब कि द्वितीय प्रकार की कला मे सवेग-सचर कल्पना ('डिफ्लुयेंट ऑर इमोशनल इमाजिनेशन') का। सम्मूर्त्तन-प्रधान कल्पना वस्तुगत यथार्थ को गौण बना देती है और उसके माध्यम से जीवन के किसी अनवद्य सत्य या महिम भाव-दशा को व्यक्त करतीहै। उदाहरणार्थ, सम्मूर्त्तन-प्रधान कल्पना से सचालित कलाकार के लिए इन्द्रधनुष सात प्रकार के दृष्टिरजक रगो का सपुजन मात्र है, जो इन्द्रियगम्य और अनुकरण-सुखद हैं। किन्तु, सवेग-संचर कल्पना से आविष्ट कलाकार के लिए वह विविधवर्णी इन्द्र-धनुष जिज्ञासा, कौतूहल और नयन-सुख का एक ऐसा उद्दीपक है, जो ज्ञात और अज्ञात के बीच एक रहस्यमय सेतु का काम करता है। इसलिए, सामान्यतः, स्थापत्यकार, शिल्पकार, और चित्रकार के पास सम्मूर्त्तन-प्रधान कल्पना की अधिकता रहती है, जबकि सगीतकार और कवियो के पास सवेग-संचर कल्पना की प्रधानता रहती है।[1]

उपलब्धि की दृष्टि से कल्पना अस्तित्वहीन को अस्तित्व और सत्य के

---

१. द्रष्टव्य—'क्रियेटिव इमाजिनेशन', ले०, जे० ई० डाउनी, केगन पाल, लन्दन, १९२१, पृ० २।

अनुद्‌घाटित क्षेत्रों को प्रकाश देती है। कल्पना की यह उपलब्धि मनुष्य के आयास-लब्ध या अधीत ज्ञान से नही, सहजज्ञान से निष्पन्न होती है। अत कल्पना का क्षेत्र बहुत व्यापक होता है और उसकी गति एकदम अप्रतिहत-प्रसर होती है। कला का सम्पूर्ण औपम्यमूलक निबन्धन कल्पना पर अवलम्बित है। कल्पना के सहारे ही कलाकार गुण-साम्य, धर्म-साम्य, प्रभाव-साम्य, व्यापार-साम्य इत्यादि (मनसालब्ध) समताओ के आधार पर प्रस्तुत मे अप्रस्तुत के आरोप से रमणीय भाव-लोक की सृष्टि करता है। पुन वैषम्य के द्वारा वस्तु-विशेष के गुण-विवर्द्धन या उत्कृष्टता-स्थापन मे प्रस्तुत-अप्रस्तुत के बीच गुण, धर्म, प्रभाव और व्यापार का प्रतीप प्रस्तुत करने के लिए कल्पना ही कलाकार को दृष्टि-विस्तार देती है। इतना ही नही, कल्पना भावना से अधिक सभावना का अनुधावन करती है। अत जिस सभावना या वक्रोक्ति से कला, विशेषकर कविता ललाम बनती है, वह भी कल्पना पर आश्रित है। पद्मिनी नायिका पर चांदनी रात मे भौरो की भीड अथवा अर्द्धरात्रि मे सांकल खट-खटाने वाले आवेदक कृष्ण और केलिरसी राधा की विलम्बित वक्रोक्ति कल्पना का ही कमाल है। इस तरह कल्पना कारयित्री प्रतिभा को पोषण देती है और उसके आलवाल मे निर्बल से निर्बल आलम्बन पुष्ट तथा अभिराम बन जाता है।

जिस प्रकार विभिन्न कलाओ मे कल्पना के विनियोग का स्वरूप भिन्न होता है[1] उसी प्रकार विश्लेषणात्मक दृष्टि धारण करने पर कला के अन्तर्गत

---

[1] विभिन्न कलाओं में कल्पना के विनियोग का स्वरूप भिन्न होता है। जैसे, दृश्य कलाओं में विनियोग पाने वाली कल्पना काव्य की कल्पना की तुलना में अधिक व्यापक, अन्तर्राष्ट्रीय और सार्वभौम होती है; कारण, काव्य में अभिव्यक्ति का माध्यम भाषा होती है, अत उस भाषा को जानने वाले लोगों तक ही (उस भाषा के द्वारा व्यक्त) कल्पना की अर्थ-प्रतिपत्ति सीमित हो जाती है। दृश्य कलाओं में कल्पना की अर्थप्रतिपत्ति का यह परिसीमन नहीं होता, क्योंकि वहाँ रंग या रेखा जैसी वस्तुओं को अभिव्यक्ति के माध्यम के रूप में स्वीकार किया जाता है, जो स्वरूप भाव-निवेदन के कारण वाग्बद्ध कला की अपेक्षा अधिक व्यापक आयत्ता रखती है।

द्रष्टव्य—*Graham Hough*, Image and Experience, London, 1960, Page 3-4

प्रसिद्ध दार्शनिक हीगेल ने भी काव्य की कल्पना और काव्येतर कलाओं की कल्पना के भेद पर विचार किया है। इस भेद को स्पष्ट करते हुए इन्होंने लिखा है—

"The poetic imagination does not, as the plastic arts do, present the objects of its creation before our vision in an objective shape, but only envisages them to the inward vision and emotions"—*Hegel*, The Philosophy of Fine Art, London, 1920, Volume IV, Page 193

कल्पना के कई प्रकार प्रतीत होते हैं। जैसे, विचार-दृष्टि से कल्पना की दो कोटियाँ हैं—जीवनोन्मुख कल्पना और जीवनमुक्त कल्पना। जीवनोन्मुख कल्पना जीवन के प्रति अमोघ आग्रह को स्वीकार कर चलती है और जगत के खुरदुरे यथार्थ को भावानुभूतियो की माला मे मनके की तरह पिरो लेती है। इसलिए जो व्यक्ति कँटीले कर्मक्षेत्र मे प्रवृत्त होता है या जो युग-युयुत्सु होकर परिवेश की वास्तविकता को अनुकूल बनाने मे प्रयत्नशील होता है, उसकी कला मे जीवनोन्मुख कल्पना की अधिकता मिलती है। इसी तरह जो व्यक्ति अथवा युग दैनन्दिन और परिवेशगत वास्तविकता से ऊबकर तथ्य-त्यक्त भावुकता के नन्दन-कानन मे टहलने लगता है, उसकी कला मे जीवनमुक्त कल्पना की अधिकता मिलती है। उदाहरणार्थ, रोमाटिक कवियो मे मुख्यत जीवनमुक्त कल्पना मिलती है। शायद, इसीलिए उनकी कविता पर पलायनशीलता का आरोप लगाया जाता है और उन्हे प्रेमी तथा पागल की कोटि मे बैठाया जाता है। इस सबंध मे सर्वाधिक ध्यातव्य बात यह है कि कलाकार मे कल्पना के प्रति अगाध निष्ठा चाहिए। इस निष्ठा-प्राप्ति के लिए यह आवश्यक है कि कलाकार अपनी कल्पना मे मिथ्यात्व की शका न करे और अपनी कल्पना के सृजन, अन्वेषण को 'हवाई' न बनने दे, बल्कि किसी न किसी प्रकार की वास्तविकता से उसका सबध अवश्य निर्भर रहने दे। वास्तविकता के अल्प सस्पर्श से भी कलाकार की कल्पना का रग जम जाता है, क्योकि कला मे यथातथ्य के बदले प्रतीक-सत्य से ही काम चल जाता है। इस वास्तविकता के आधान के लिए प्रस्तुत और अप्रस्तुत के बीच कलाकार को कृत्रिम सबध-स्थापन करना पडता है, जिसे परिचित संबध-सूत्र के अभाव मे सहृदय-पक्ष सन्तोषपूर्वक स्वीकार कर लेता है। इस तरह के कृत्रिम सबध-सूत्रो को स्थापित करनेवाली कल्पना एक प्रकार की विदग्ध कल्पना या चित्र-प्रगल्भ कल्पना के नाम से पुकारी जा सकती है। किन्तु, इस प्रकार की कल्पना से श्रेष्ठ वह कल्पना होती है, जो दूरारूढ आरोपो और अलीक सबध-सूत्रो की सृष्टि मे न लगकर वास्तविक अनुभव-जगत् से उत्थित मर्म-छवियो का कलात्मक सगठन करती है।

कल्पना का प्रकार-निर्धारण गुण-दृष्टि और क्रिया-दृष्टि से भी किया जा सकता है। गुण-दृष्टि से कल्पना के दो प्रकारो का निरूपण संभव है—असकल्पित और सकल्पित कल्पना। सकल्पित कल्पना मे तारतम्य का स्वत चालन नही होता है, उसमे कवि का प्रयास सलग्न रहता है। इसके विपरीत असकल्पित कल्पना स्वत चालित और अनावश्यक रूप मे मुग्ध भाव की दृष्टा करती है। इस प्रकार की कल्पना अधिकतर दिवा-स्वप्न, स्वच्छन्द कल्पना या कल्पनाभास मे परिणत हो जाया करती है। तदनन्तर, क्रिया-दृष्टि से भी कल्पना के दो भेद किए गए हैं—पुनरावृत्यात्मक (रिप्रोडक्टिव) और सृजनात्मक (प्रोडक्टिव)।

पहली आवृत्ति-प्रधान है (जैसे—'राम की शक्ति-पूजा' में राम के चित्त में जानकी के प्रथम मिलन का कल्पना-चित्र)[1] और दूसरी नूतन सबंध-नियन्धन के द्वारा निर्मित योग-प्रधान होती है (जैसे—स्वर्ण और मृग को अलग-अलग देखने पर भी स्वर्णमृग की नूतन कल्पना)।

इस प्रकार अनेक दृष्टियों से कल्पना का प्रकार-निर्धारण हो सकता है, किन्तु, यहाँ हम अन्य दृष्टियों को छोड़कर सौन्दर्यशास्त्रीय दृष्टि से तन्दतिक आधार को स्वीकारते हुए कल्पना के कुछ प्रमुख प्रकारों के निर्धारण का प्रयास करेंगे। इस दृष्टि से विधायक कल्पना और ग्राहक कल्पना ऐसे दो टूक स्थूल विभाजनों के अलावे भी कल्पना के कई प्रकार बहुत स्पष्ट है। जैसे—पूरक कल्पना, मुक्तयादृच्छिकी कल्पना, तिर्यक् कल्पना, इत्यादि।

पूरक कल्पना पाठक अथवा भावक के पास रहती है। इस कल्पना के सहारे पाठक कला-निबद्ध कल्पना के शेषांश की पूर्ति अपनी ओर से करता है। साधारण प्रेम-पत्रादि या गुप्त बातों के लेखन में भी इस प्रकार के चिह्न ' ' से संकेतित निगीर्ण व्यंजना को तत्सबंधित व्यक्ति अथवा पत्र का पाठक अपनी पूरक कल्पना के सहारे ही समझता है। यह पूरक कल्पना भावयित्री प्रतिभा अथवा ग्राहिका कल्पना का एक विशिष्ट रूप है। कला के सम्पूर्ण व्यंजना-व्यापार की सफलता पाठक की इसी पूरक कल्पना पर निर्भर करती है। इससे रहित पाठक के समक्ष व्यंजना-गर्भ कला पत्थर पर फेंके बीज के समान निष्फल सिद्ध होती है। आजकल की झटके से समाप्त होनेवाली लघु-कथाओं अथवा नए तर्ज की कुछ ही शब्दों में समाप्त होनेवाली कविताओं को इसी पूरक कल्पना की सहायता से पाठक समझ पाता है, यह पूरक कल्पना कला की शून्य सांकेतिकता अथवा अर्थवत्ता के लिए विष्कम्भक का काम करती है। कालिदास ने अभिज्ञान शाकुन्तलम् में दुष्यन्त और शकुन्तला के सम्भोग का साक्षात् वर्णन नहीं किया है, किन्तु, मिलन की उत्कंठा, पारस्परिक आकर्षण और सखियों द्वारा दिए गए एकान्त में ही चतुर पाठक अपनी पूरक कल्पना के सहारे भरत के गर्भाधान की भूमिका को समझ लेता है। इसी तरह प्रसाद ने प्रसिद्ध गीत 'बीती विभावरी जाग री' में प्रसंग-निगरण के कारण पाठक को पूरक कल्पना से यह अर्थ लगाना पड़ता है कि सखी की 'जगाने' के माध्यम से यहाँ पर भोर में निंदियाई हुई ऐसी अलसान वासकसज्जा का चित्रण है, जिसकी सारी रात प्रतीक्षा में बीत गयी, पर प्रियतम

---

[1] "जागी पृथ्वी-तनया-कुमारिका-छवि जानकी-नयन-कमनीय प्रथम कम्पन तुरीय।" 'राम की शक्ति-पूजा', अपरा—ले० निराला, साहित्यकार संसद, प्रयाग, सं० २०१३, पृ० ३५।

न आ सका। कारण, अधरो का अमद राग और अलको मे कैद मलयज इसे सकेतित करते हैं कि नायिका की सारी तैयारी ज्यो की त्यो अनाघ्रात रह गयी, इस तरह किसी भी अकथित व्यजना की रस-भूमि पर पहुँचने के लिए पूरक कल्पना का योग अत्यन्त आवश्यक है। अकन-प्रधान स्थावर कलाओ—जैसे, मूर्तिकला और चित्रकला—के आस्वादन मे इस पूरक कल्पना का और विशेष महत्त्व है, कारण, काव्य-कला की तरह इनमे वर्णित-कल्पित वस्तु की विस्तृत बारीकी का विशद प्रक्षेपण नही होता, इनमे ब्यौरे का अभाव और निबद्ध वस्तु का सक्षिप्त सकेत रहता है। अत इन कलाओ के आस्वादन मे अध्याहारनिमित्ता पूरक कल्पना की विशेष आवश्यकता होती है। उदाहरण के लिए हम 'बोटिसेली' के प्रसिद्ध चित्र—'द बर्थ ऑव वेनस'—को देख सकते हैं। इसमे विवमना सौन्दर्य-मूर्ति वेनस सागर की दोलित लहरो पर आत्मनिष्ठ मुद्रा मे एक 'कौक्लशेल' (शूत्रक-तरी) पर खडी किनारे की ओर बहती चली जा रही है। वेनस की बाईं ओर पवन का प्रतीकत्व करनेवाली एक युग्म-आकृति है, जो वेनस को उस अमर कूल की ओर प्रेपित कर रही है, जिस पर एक वस्त्राभूपित तरुणी उसका स्वागत करने के लिए समुत्सुक खडी है। अर्थात् यह वायु-वेग से सागर की लहरो पर बहती हुई विवसना वेनस का एक गतिशील चित्र है। किन्तु, इसमे सामान्य दृष्टि से अथवा पहली नजर मे वेनस की गतिशीलता लक्षित नही होती, वह तो शम्बूक-तरी पर एकदम स्थिर खडी दीख पडती है। अत यहाँ वेनस की दाहिनी ओर उडती हुई अलको को देख-कर पूरक कल्पना से यह स्पष्ट होता है कि बाईं ओर से पवन आ रहा है और केन्द्रस्थल से कुछ दाईं ओर हटकर वेनस के दीख पडने से तथा दाहिनी ओर स्वागतोत्सुक नारी की उपस्थिति से यह समझना पडता है कि वेनस वामवर्ती पवन के झोको से दाहिनी ओर स्थित पुलिन के पास बहती चली जा रही है। साराश यह है कि बोटिसेली द्वारा अकित इस वेनस-चित्र के गतिशील सौन्दर्य की आनन्दानुभूति कोई सहृदय-चित्त पूरक कल्पना के सहारे ही कर सकता है, कारण यहाँ एक-दो सकेतो के आधार पर उसे अपनी ओर ने गति का अध्याहार करना पडता है। इसी तरह हम **एदगा देगा** के चित्र 'आफ्टर द बाथ' को भी देख सकते है। इसमे डुबकी लगाने, जल ढारने या जलपात्र का कोई दृश्य नही दिखाया गया है। इसमे केवल जलभार से अधोमुख केश लिए हुए एक झुकी हुई तन्वगी तरुणी अकित है, जो तौलिए से अपने पाँव पोछ रही है। यहाँ वसन-हीनता, केश की भीगी अधोमुखता और पोछने की क्रिया से हम पूरक कल्पना के सहारे यह समझ लेते हैं कि इस चित्र मे **एदगा देगा** ने एक सद्य स्नाता को अकित किया है। सक्षेप मे हम कह सकते हैं कि कलाकार जहाँ अपनी कृति मे श्लीलता के निर्वाह, अभिव्यक्ति-सौंदर्य, विभाजन-व्यापार की उपचिति,

व्यापार-शोधन अथवा उपचार-वक्रता के लिए कुछ बातों को संकल्पित अथवा कुछ स्थलों को रिक्त छोड़ देता है, वहाँ पाठक अपनी पूरक कल्पना से उनकी समता पूर्ति कर लेता है। अतः पूरक कल्पना सहृदय-चित्त की अनुमानाश्रित सबंध-नियोजन-शक्ति है।

मुक्तयादृच्छिकी कल्पना कलाकार के मानसिक स्वत चालन से निर्गत होती है। इस कल्पना में उड़ान अधिक रहती है और केन्द्रगामिता का अभाव रहता है, कारण, इसमें कलाकार वस्तुसत्ता से आदिष्ट न होकर अपनी मनकी रुचि या बहक के अनुसार इतस्तत अप्रस्तुतों, उपमानों और अवर्ण्यों का 'गड्डमड्ड' प्रस्तुत कर देता है। अनेक बार श्रेष्ठ कलाकार भी ईमानदार अनुभूति के अभाव में अपनी रचना की योजना को पूरा करने के लिए मुक्तयादृच्छिकी कल्पना का सहारा लेते हैं। उदाहरण के लिए, पन्त जी की 'बादल' शीर्षक कविता का उत्तरार्द्ध ऐसी ही कल्पना से निर्मित है।[1] क्षण भर में कवि ने बिना किसी रसात्मकता या सन्दर्तिक बोध को उभारे अवनि, अम्बर, जल, पवन तारा और शशि—अनेक लोक तथा पंचतत्त्वों का मुआयना कर लिया है। लगता है, कवि की लेखनी ने कविता के तीन-चार बंधों में ही गणेश जी के मूषक की तरह सम्पूर्ण सृष्टि की चटपट परिक्रमा कर ली हो। इस तरह मुक्तयादृच्छिकी कल्पना भावुकता का प्रलाप या सामान्य कल्पना-वृत्ति का 'डेलिरियम' है।

इसी तरह तिर्यक् कल्पना एक प्रकार की वक्र कल्पना है। यह सहज-सरल गति में चलकर तिरछी बाट करती है। अत इस कल्पना से निर्मित कृतियाँ प्राय पहेलियों की तरह अनबुझ हो जाती हैं। 'क्यूबिस्ट' चित्रकारों की रचना में इसका प्रचुर प्रयोग मिलता है। आधुनिक गल्प के शीर्षपाती कथा-विधान की प्रकरण-वक्रता में भी इसका सहयोग मिलता है। विशेषकर वे बिम्बवादी कवि, जो चित्रधर्मिता के साथ ही अभिव्यक्ति के समर्थक होते हैं, तिर्यक् कल्पना में विशेष प्रेम रखते हैं। कमिंग्स और निराला की कविताओं में इस कल्पना के अनेक उदाहरण मिलते हैं। तिर्यक् कल्पना का विशिष्ट लक्षण यह है कि उसका व्यंग्यार्थ संघटनात्मक नहीं होता। वह सर्वदा प्रतीयमान रहता है, साथ ही 'नानिर्मित' और 'नानिपरिस्फुट' भी। काव्य में प्रयुक्त तिर्यक् कल्पना के लिए पदभंग, पदलोप, वाक्यलोप और विरल अक्षर-विन्यास विशेष सहायक सिद्ध होते हैं।

---

[1] द्रष्टव्य—आधुनिक कवि, सुमित्रानन्दन पन्त, हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग, [illegible] २०१२, पृ० २७ ।

उपर्युक्त तीन प्रकार की कल्पनाओ को सभी ललित कलाओ मे समान रूप से गति मिल सकती है, किन्तु, कल्पना के कुछ ऐसे भी प्रकार है, जो काव्य-कला मे विशेष विच्छिति के साथ प्रयुक्त होते हैं। अत यहाँ हम काव्य-कला के अनुकूल पडनेवाले कल्पना-प्रकारो पर अधिक विचार करेगे, क्योकि प्रस्तावित विषय के अनुसार काव्य के विशेष सन्दर्भ मे कल्पना पर विचार करना हमारे लिए अपेक्षित है। इन काव्यानुकूल कल्पना-प्रकारो मे सावयव कल्पना, विभाव-विधायक कल्पना और तद्भव कल्पना विशेष विचारणीय है।

जहाँ ऊहा की ओर प्रवृत्ति रखनेवाला कवि सटीक उद्भावनाये कर पाता है, वहाँ हमे सावयव कल्पना मिलती है। ऐसी कल्पना मे कही गई बाते एक-दूसरी से शृखला की कडियो की तरह सम्बद्ध रहती हैं और उनकी अर्थवत्ता भी अन्योन्याश्रित रहती है। इसलिए सावयव कल्पना की सबसे बडी विशेषता यही है कि इसकी सभी उक्तियाँ और तदर्थ योजित सभी अप्रस्तुत एक प्रभावान्विति की ओर उन्मुख रहते हैं तथा अयुतसिद्धावयव होते है। उदाहरण के लिए देव के इस सवैये पर विचार किया जा सकता है—

> **सांसन ही में समीर गयो अरु आँसुन ही सब नीर गयो ढरि।**
> **तेज गयो गुन लै अपनो अरु भूमि गई तन की तनुता करि।**
> **देव जिये मिलबेई की आस कै, आसहु पास अकास रह्यौ भरि।**
> **जा दिन तें मुख फेरि हरें हँसि हेरि हियो जो लियो हरि जू हरि॥[1]**

यहाँ वियोग-शीर्णा नायिका के शरीर से पचभूतो के निकलने की सावयव कल्पना की गई है। केवल नि श्वास, आँसू, इत्यादि की अधिकता दिखला देने से इतनी प्रभविष्णुता नही पैदा होती। किन्तु, यहाँ तो कल्पनापटु कवि ने पचभूतो मे से प्रत्येक के निकलने का एक-एक माध्यम बतला दिया है। नि श्वासो से वायु निकल गई, आँसुओ मे सम्पूर्ण जल-तत्त्व बह गया, विरह-क्लान्ति से मुरझाती हुई कान्ति के साथ तेज भी समाप्त हो गया, शरीर के दुबलाने से पार्थिव तत्त्व भी गायब हो गया और अब उसके चारो ओर फैले हुए शून्य मे बच गया केवल आकाश। इस तरह यहाँ देव ने विरह की विभिन्न दशाओ मे चार भूतो के निकलने की बडी सटीक उद्भावना की है और सावयव कल्पना से काम

---

१ विरह-पीडिता राधा की शीर्णता को वर्णित करते समय विद्यापति ने भी इसी सावयव कल्पना से काम लिया है—माधव जानल न जिवति राही। जतवा नकर लेले छलि सुन्दरी। से सबे सोपलक ताही। सरदक ससधर मुखरुचिसोपलक। हरिन के लोचन लीला। केसपास लए चमेरिकें सोपल। पाए मनोभव पीला। दसन दसा दालिब के सोपलक। बन्धु अधर रुचि देली। देहदसा सउदामिनि सोपलक। काजर सनि सखि भेली।—विद्यापति, सम्पादक, मित्र-मजुमदार, नवीन सस्करण, २०१०, पृष्ठ १३८।

लिया है।'

काव्य एवं अन्य ललित कलाओ के भावन मे विभावो के सहारे ही मानव-चित्त रसानुभूति अथवा सौन्दर्यानुभूति की दशा तक पहुँचता है। अत कवि जब तक विभाव-पक्ष का सम्यक् मडान नही बाँधता, तब तक काव्य के आश्रय के साथ सभी पाठको का चित्त एक 'सम' पर नही आ सकता। अर्थात् काव्य को आश्रय की अनुकूल भूमिका मे लाने के लिए, शास्त्रीय भाषा मे 'साधारणीकरण' के लिए, विभाव का सम्यक् स्थापन अत्यावश्यक है। यह कार्य विभाव-विधायक कल्पना मे ही सभव है। विभाव-विधायक कल्पना वह कल्पना है, जो अनेक सहृदयो को आश्रय की भूमिका मे लाकर उनके लिए किसी भाव का सामान्य आलम्बन या कारण खडा कर देती है। ऐसी कल्पना द्वारा सृष्ट रूप-विधान मे साधारणीकरण की विशिष्ट शक्ति होती है। फलस्वरूप विभाव-विधायक कल्पना मे आलम्बन का बहुत प्रभावोत्पादक और कलात्मक चित्रण रहता है। विभाव-विधायक कल्पना के प्रसग मे यह स्मरण रखना चाहिए कि इसका क्षेत्र अतीव विस्तृत होता है और इसकी गति अत्यन्त अप्रतिहतप्रसर। कारण, आश्रय मे सबधित कल्पना केवल मानव-जगत् मे सिमटी रहती है (क्योकि आश्रय की भूमिका मे नरेतर जगत् आ नहीं सकता) जब कि विभाव से सबधित कल्पना समग्र सृष्टिव्यापिनी होती है (क्योकि विभाव-पक्ष के अन्तर्गत मानव-जगत् और मानवेतर जगत्—दोनो ही आ जाते हैं)। अत दृष्टि-विस्तार-सपन्न कवि की प्रतिभा विभाव-विधायक कल्पना की ओर अधिक अग्रसर होती है।

तदनन्तर, तद्भव कल्पना विचारणीय है। मनुष्य के मानस-लोक मे भी भौतिक या जैव जगत् की तरह प्रजनन की प्रवृत्ति होती है। अत उसकी मानसिक सृष्टि मे भी प्रसव-चक्र चलता रहता है। एक चिन्तन दूसरे चिन्तन को, दूसरा चिन्तन तीसरे चिन्तन को, एक कल्पना दूसरी कल्पना को और दूसरी कल्पना तीसरी कल्पना को · एवम्प्रकारेण आवर्त्तक ढग से जन्म

---

१. माघ ने भी 'शिशुपालवध' के चतुर्थ सर्ग मे सूर्योदय और चन्द्रास्त के समय रैवतक पर्वत की लम्बितघण्टायुग्म वाले शुण्डशोभित गज से मिलती-जुलती शोभा का वर्णन सावयव कल्पना द्वारा किया है—

उदयति विततोर्ध्वरश्मिरज्जावहिमरुचौ हिमधाम्नि याति चास्तम्।
वहति गिरिरयं विलम्बिघण्टाद्वयपरिवारितवारणेन्द्रलीलाम् ॥२०॥

—शिशुपालवधम्, माघ प्रणीत, चौखम्बा विद्याभवन, बनारस, १९५५, पृ० १५८।

यहाँ रैवतक पर्वत को गजराज, [illegible] से नष्ट अस्तप्राय चन्द्रमा और नव उदित बालारुण को लम्बित घण्टाद्वय तथा प्रसृत किरणो को घण्टे की रस्सी मान लेने मे कल्पना की सावयवता दृष्टिगत है।

अथवा

आज वन मे पिक, पिक मे गान,
विटप मे कलि, कलि मे सुविकास,
कुसुम मे रज, रज मे मधु, प्राण।
सलिल मे लहर, लहर मे लास।

यहाँ पूर्व-पूर्व वस्तु के प्रति पर-पर वस्तु का गृहीत-मुक्त-रीति से शृखला-स्थापन है, अत मालारूपता के कारण तद्भव कल्पना बहुत सुलझी हुई है। एकावली के दूसरे रूप मे भी, जहाँ पूर्व-पूर्व वस्तु के प्रति पर-पर वस्तु का विशेषण रूप से स्थापन रहता है, तद्भव कल्पना सुलझे हुए रूप में उतर सकती है।

काव्य के सृजन-पक्ष की दृष्टि से प्रसग-कल्पना विविध कल्पना-प्रकारो मे अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। प्रसग-कल्पना का प्रयोग प्रबन्ध-चातुरी की दृष्टि से किया जाता है। इस कल्पना के द्वारा कवि काव्य-निबद्ध कथा अथवा दृश्य को पर्याप्त मात्रा मे प्रभविष्णु और प्रसृत बना देता है। अत इसके द्वारा प्रबन्धकार कवि, प्राय, कथोत्थ काव्य मे उत्पाद्य लावण्य भरा करता है। भारवि ने 'किरातार्जुनीयम्' के आठवे सर्ग मे जहाँ गन्धर्वों और अप्सराओ की क्रीडादि का मूलकथा से हटकर विस्तृत काव्यात्मक वर्णन किया है, वहाँ इसी प्रसग-कल्पना से काम लिया है। इस सर्ग मे नायक, नायिका अथवा सखियो की जितनी उक्तियाँ हैं, ये सभी प्रसग-कल्पना का सुन्दर उदाहरण प्रस्तुत करती हैं। इस कल्पना का स्वरूप स्वय ही नामानुसार बहुत स्पष्ट है, अत उदाहरणो का विस्तार अनावश्यक प्रतीत होता है।

अब हम अतिशय और ऊहा के आधार पर कुछ कल्पना-प्रकारो का विवेचन करेंगे। काव्य का सम्पूर्ण अप्रस्तुत-विधान, चाहे साम्यमूलक हो या वैषम्यमूलक, बहुलाश मे अतिशय पर निर्भर करता है। अतिशय के बिना काव्य मे अलकारत्व और चमत्कार का आविर्भाव नही हो सकता। अत जो काव्य-निबद्ध कल्पना-अतिशय के तत्त्व को प्रधान रूप मे स्वीकार कर चलती है, उसे हम अतिशयमूलक कल्पना कह सकते हैं। यहा इस भ्रम की गुजाइश है कि अतिशयमूलक कल्पना केवल अतिशयोक्ति अलकार के विविध भेदो—रूपकातिशयोक्ति, भेदातिशयोक्ति सबन्धातिशयोक्ति, अक्रमातिशयोक्ति, अत्यन्तातिशयोक्ति, या चपलातिशयोक्ति—मे मिलती होगी। किन्तु, बात ऐसी नही है। अतिशयमूलक कल्पना किसी भी चमत्कृत सन्दर्भ मे मिल सकती है, अत इसका क्षेत्र बहुत व्यापक है। एक उत्कट-प्रेक्षण-प्रधान अतिशयमूलक कल्पना का उदाहरण देखिये—

उरोभवा कुम्भयुगेन जृम्भितं नवोपहारेण वयस्कृतेन किम् ।
अपासरिद्दुर्गमपि प्रतीर्य सा नलस्य तन्वी हृदयं विवेश तत् ॥[1]

यहाँ कवि का कहना है कि 'दमयन्ती के वक्षस्थल पर शोभायमान दोनो कुच-कुम्भ क्या यौवन के नवीन उपहार के समान थे ? उन कुम्भो की सहायता से वह कृशागी लज्जा-रूपी दुर्गम नदी को भी पार करके नल के हृदय मे प्रवृष्ट हो गई ।' इस उक्ति मे यौवनागम से स्फीत कुचो के दीर्घाकार की व्यजना के लिये अतिशयमूलक कल्पना के सहारे कुच पर कुम्भ की उत्प्रेक्षा की गयी है । यह जानी हुई बात है कि जब कवि अनुभूति की सच्चाई से अपना समीपी सम्बन्ध खो देता है, तब उसकी लेखनी ऊहा की खोपडी कुरेदने लगती है । अत अतिशयमूलक कल्पना कवि की अनवधानता के कारण, प्राय , अनुभूति-विच्छिन्न होकर ऊहात्मक कल्पना बन जाती है । जैसे, दमयन्ती के कुच-वर्णन मे लिखित श्री हर्ष की निम्नलिखित पक्तियाँ देखिये—

अपि तद्वपुषि प्रसर्पतोर्गमिते कान्तिझरैरगाधताम् ।
स्मरयौवनयोः खलु द्वयोः प्लवकुम्भौ भवतः कुचावुभौ ॥ (वही, पृ० ३५)

अर्थात्, दमयन्ती के दोनो कुच उसके (कान्ति के प्रवाह से अगाध हुए) शरीर पर क्रीडा करनेवाले कामदेव और तारुण्य के लिये तैरने के दो घडे हैं, नही तो कामदेव और तारुण्य दमयन्ती के कान्ति-सागर मे डूब जाते । भला, किसी सुन्दरी के शरीर मे घिरनई के घडो को खोजना कौन-सी कल्पना है । ऐसे कल्पक को सूखी जमीन पर ही 'डूबने' का सामना करना होगा । इस तरह की ऊहात्मक कल्पना जब और भी अनुभूति-विच्छिन्न होकर अतिशय के सहारे जमीन-आसमान के कुलावे मिलाने लगती है, तब वह अनृजु-अगूढ कल्पना बन जाती है । उदाहरण के लिये, दमयन्ती के रूप-वर्णन की इन पक्तियो पर विचार कीजिये—

हृतसारमिवेन्दुमण्डलं दमयन्ती वदनाय वेधसा ।
कृत मध्यबिलं विलोक्यते धृतगम्भीर खनी खनीलिमा ॥ (वही, पृ० ३४)

सरलार्थ यह है कि 'ब्रह्मा ने दमयन्ती का मुख बनाने के लिये चन्द्रबिम्ब का मानो सार निकाल लिया है । इस कारण उसके बीच मे छेद हो गया है । उसी छेद से आकाश की नीलिमा दिखाई देती है ।' स्पष्ट है कि इस प्रकार की कल्पना से किसी गूढता या रमणीयता की उपलब्धि नही हो सकती ।

जहाँ किसी हेतु को दृष्टिगत रखकर ऊहा और अतिशय के योग से उत्प्रेक्षा-मूलक कल्पना-विधान किया जाता है, वहाँ अल्पाश मे रमणीयता मिलती है ।

---

१. नैषधीय चरितम्—श्रीहर्ष, अनुवादक, ऋषीश्वर नाथ भट्ट, संस्कृत बुक डिपो, काशी, सन् १९४६, पृ० ११ ।

अतः इस प्रकार की कल्पना अनृजु अगूढ कल्पना से कुछ अधिक काव्योपयुक्त होती है। इसे हम उत्प्रेक्षामूलक हेतुकी कल्पना कह सकते हैं। अर्थात्, जो कल्पना ऊहा और अतिशय के सहारे किसी विशेष हेतु की सिद्धि के लिये की जाय, उसे उत्प्रेक्षामूलक हेतुकी कल्पना कहते हैं। जैसे श्रीहर्ष ने कामज्वरा-क्रान्त दमयन्ती के चित्रण में इसी कल्पना का सहारा लिया है। निम्नलिखित पंक्तियों में काम के ताप से भुननेवाली दमयन्ती की दारुण दशा के आतिशय्य को व्यक्त करना कवि का हेतु है—

> अवृत यद्विरहोष्मणि मज्जितं मनसिजेन तदूरुयुगं तदा।
> स्पृशति तत्कदन कदलीतरुर्यदि मरुज्ज्वलदूषरदूषित. ॥[१]

यानी 'यदि कदली तरु मरुदेश में वह्नि से दग्ध ऊसर में स्थित हो तो वह उस समय कामदेव के द्वारा वियोग के दाह से सतप्त हुई दमयन्ती की दोनो जंघाओं की पीड़ा का अनुभव कर सकता है। इस तरह यहाँ ऊहा और अतिशय के योग का हेतु बहुत स्पष्ट है। कभी-कभी हेतुमुक्त होकर भी उत्प्रेक्षामूलक कल्पना की जाती है। जैसे, भारवि ने 'किरातार्जुनीयम्' के नवम् सर्ग में सन्ध्याकाल का ललित वर्णन इसी उत्प्रेक्षामूलक कल्पना के सहारे विस्तार-पूर्वक किया है।

अब हम काव्य मे प्रचुरता के साथ प्रयुक्त सादृश्य-कल्पना पर विचार करेंगे। सादृश्य-कल्पना उसे कहते है, जिसमे कवि रूप-साम्य रखनेवाले कुछ दूरवर्ती अप्रस्तुतो का बिम्बानुबिम्ब विधान करता है। इस प्रकार सादृश्य-कल्पना काव्य के वर्ण्य और अवर्ण्य या प्रस्तुत और अप्रस्तुत की कुछ उभयनिष्ठ विशेषताओ को ग्रहण कर चलती है। जैसे, निम्नलिखित पक्तियो मे कवि ने नीलोत्पल और खजन को आकर्णातटायताक्षी दमयन्ती के नेत्रो का बिम्बानु-बिम्ब अप्रस्तुत बनाकर सादृश्य-विधायिनी कल्पना से काम लिया है—

पद्मान् हिमे प्रावृषि खञ्जरीटान् क्षिपन्नुर्यमादाय विधि क्वचित् तान्।
सारेण तेन प्रतिवर्षमुच्चे पुष्णाति दृष्टिद्वयमेतदीयम् ॥[1]

इसी प्रकार की सादृश्य-कल्पना अतिशय से समन्वित होकर अतिशयोक्तिमूलक सादृश्य-कल्पना बन जाती है। यह कल्पना प्राय. सभी सादृश्य-विधान मे रहती है। अत सादृश्य-निबन्धन मे इसकी सार्वत्रिक उपस्थिति के कारण अलग से इसके विभाजन को हम अनावश्यक भी मान सकते है। यह अतिशयोक्तिमूलक सादृश्य-कल्पना वहाँ मिलती है जहाँ उपमेय और उपमान के बीच सादृश्य तो रहता है, किन्तु यह स्वाभाविक न होकर अतिशयगर्भ होता है। जैसे, भारवि की निम्नलिखित पक्तियो पर विचार किया जाय—

प्रस्थानश्रमजनितां विहाय निद्रामामुक्ते गजपतिना सदानपङ्के।
शय्यान्ते कुलमलिनां क्षणं विलीनं संरम्भच्युतमिव शृङ्खलं चकाशे ॥[2]

यहाँ गजमद की सुगध पर लुब्ध होकर पक्तिबद्ध भ्रमरो का टूट पडना स्वाभाविक है, किन्तु, मदपक पर बैठी भ्रमरपक्ति का हठात् उठन वाले गजराज के पग से टूटी लौह शृखला के समान होना एक अतिशयमूलक सादृश्य-विधान है।

यह सादृश्य-कल्पना अधिक सचेत होने पर कभी-कभी तुलनात्मक कल्पना का रूप धारण कर लेती है। यह तुलनात्मक कल्पना प्राय वहाँ उपस्थित होती है, जहाँ कलाकार प्रस्तुत उपमेय का उत्कर्ष सिद्ध करने के लिये अनेक प्रसिद्ध उपमानो का तुलनात्मक उल्लेख इस प्रकार उपस्थित करता है कि इन उपमानो की तुलना मे उपमेय की ही उत्कृष्टता प्रतिपादित हो सके। जैसे, भारवि ने इन्द्रकील पर्वत पर वन-विहार करने वाली सुरबालाओ की सलील गति, उनके नितम्बो की सुपुष्टता तथा मुख-कान्ति की उत्कृष्टता को व्यक्त करने के

---

१. नैषधीय चरितम्, ले० श्रीहर्ष, सस्कृत बुक डिपो, काशी, १९४९, पृष्ठ २९८ सरलार्थ यह है कि 'विधाता नीलोत्पलों को शीतकाल में तथा खजनों को वर्षाकाल में कहीं इकट्ठा करके रखता है और प्रतिवर्ष उनसे सार निकाल कर दमयन्ती के नेत्रों को पुष्ट करता है।'

२. किरातार्जुनीयम्, सप्तम् सर्ग, ३१।

लिये इन पंक्तियों में इसी तुलनात्मक कल्पना का सहारा लिया है—

गतं सहार्द्रै कलहंस विक्रम कलत्रभारं पुलिन नितम्बिभि ।
मुखं सरोजानि च दीर्घ लोचनं सुरस्त्रिय साम्यगुणान्निरासिरे ॥[1]

तात्पर्य यह है कि सौन्दर्योपेत सुरबालाओं ने अपने सविलास मन्थर गमन में राजहंसों की गति को, दोलित नितम्ब वाले जघनों के भार से सैकत-पुलिन को तथा विशाल नयनों से युक्त मुखों की कान्ति से कमलों को जीत लिया है। यहाँ उपमेयों—गति की मथरता, नितम्बों की सुपुष्टता और मुखकान्ति—की उत्कृष्टता को प्रमाणित करने के लिये उपमानों—हंसगमन, सैकत-पुलिन और कमल-कान्ति—के साथ तुलना की गई है। यहाँ प्रत्येक उपमेय अपने-अपने उपमान से श्रेष्ठ है। जैसे, कलहंस अपने मद गमन के लिये प्रसिद्ध है, किन्तु, सुरबालाओं में मन्द गमन के साथ ही हाव की विद्यमानता है। पुन सरित पुलिनों में केवल ऊँचाई रहती है, किन्तु, इन सुरबालाओं के नितम्बों में ऊँचाई के साथ भार भी है और इनके मुखों से कमलों की समानता है, किन्तु, कमल तो इनकी तरह विलोल लोचन नहीं हैं। इस तरह कवि उपमेय के उत्कर्ष-प्रतिपादन की दृष्टि से तुलनात्मक कल्पना में प्रवृत्त होता है।

उपर्युक्त अतिशयोक्तिमूलक सादृश्य-कल्पना सीमा को पार कर जाने के बाद 'फैंसी' बन जाती है। ऐसा वहाँ होता है, जहाँ कलाकार सादृश्य के आधार पर किसी अघटनीय घटना, अस्वाभाविक सत्य अथवा असभव सभाव्य की दूरारूढ बातें करता है। जैसे, सरोज तथा मुख में कुछ सादृश्य है और इस सादृश्य पर कल्पना का मकान बाँधा जा सकता है। किन्तु, कोई कवि यदि इस सादृश्य को इतना खीच दे कि मधुलोभी भौंरे कमल की ओर न जाकर पास खड़ी कामिनी के मुख पर भौंरने लगें, तो इस कोटि का अतिशयोक्तिमूलक सादृश्य-विधान 'फैंसी' बन जायगा। उदाहरणार्थ, पण्डितराज जगन्नाथ की ये पंक्तियाँ देखी जा सकती हैं—

तीरे तरुण्या वदनं सहासं नीरे सरोजं च मिलिद्विकाशम् ।
आलोक्यधावत्युभयत्र मुग्धा मरंदलुब्धालिकिशोरमाला ॥[2]

इतना ही नहीं, पण्डितराज जगन्नाथ ने तो चन्द्रमा का भ्रम पैदा करने वाले मुख तक चोंच मारने वाले चकोर को पहुँचा दिया है—

आलोक्य सुन्दरि मुखं तव मन्दहासं,
नन्दन्त्यमन्दमरविन्दधिया मिलिन्दाः ।

---

१. किरातार्जुनीयम्, अष्टम् सर्ग, श्लोक संख्या, २६।

२. भामिनी-विलास, अनुवादक, महावीर प्रसाद द्विवेदी, श्री वेंकटेश्वर प्रेस, बम्बई, सन् १६५८, पृ० ७३।

किं चासिताक्षि मृगलांछन सम्भ्रमेण
चंचूपुटं चटुलयन्ति चिरं चकोरा. ॥[1]

इस तरह नायिका-मुख और चाँद मे रहने वाले अल्प सादृश्य के आधार पर चकोर को चोच चलाने के लिये नायिका-मुख तक पहुँचा देना 'फँसी' का ही कमाल है।[2] रीतिकालीन कवि बिहारी ने भी अभिसारिका के वर्णन मे ऐसी अतिशयगर्भ सादृश्यमूलकता का प्रयोग किया है, जहाँ भौरो ने सहेट पर से घबडाकर लौटती हुई कमलगधा नायिका को कमल समझकर ढँक लिया है और वह नायिका समय का गलत अन्दाज रखने पर भी अर्थात् घडी मारकर चाँद के अचानक उग आने पर भी लोगो की नजर से बच गई है।[3]

काव्य मे इस प्रकार की एक और यथार्थ-परित्यक्त कल्पना प्रचलित है, जिसे हम लक्षक विशिष्टता के द्योतनार्थ प्रत्युत्पन्नमति स्थिति-कल्पना कह सकते हैं। इसके द्वारा काव्य-निबद्ध पात्र को विचित्र-विचित्र प्रकार की चमत्कारपूर्ण स्थितियो मे प्रस्तुत किया जाता है, जिसके आह्लाद से सहृदय-चित्त का स्निग्ध प्रसादन होता है। यह एक प्रकार की कारण-निदान-सम्पन्न ललित कल्पना है। इस कोटि की कल्पना के निदान प्राय. कवि-समय या कवि-प्रसिद्धियो की तरह चमत्कारपूर्ण होते हैं। उदाहरणस्वरूप हम अमरुक की इन पक्तियो को देख सकते है[4]—

---

१. वही, पृ० १०१।

२. एक स्थल पर माघ ने भी नेत्र और कमल के बीच रहने वाले कल्पसादृश्य के आधार पर 'फँसी' का ऐसा मंडान बाँधा है कि कान में लटकने वाले बेचारे कमलों को नेत्रों की तुलना में (भ्रमर-गुंजार के माध्यम से) अपनी पराजय की घोषणा करनी पड़ी है—

अविजितमधुना तवाहमक्ष्णो रुचिरतयेत्यवनम्य लज्जयेव।
श्रवणकुवलय विलासवत्या भ्रमररुतैरूपकर्णमाचचक्षे ॥६०॥

—(शिशुपालवधम्, सप्तम् सर्ग, पृ० २८५, चौखम्बा, १९५५)

अर्थात् किसी सुलोचना ने कानों में नीलकमलों को लटका रखा था, जिनके ऊपर गध के लोभ से भौंरे उड़ रहे थे। इस पर यह उत्प्रेक्षा की गई है कि उस विलासवती के नेत्रों की सुन्दरता से पराजित होने के कारण अधोमुख हुआ नीलकमल भ्रमर-ध्वनि के व्याज से उस नायिका के कानों के पास मानो यह कह रहा था कि 'मैं इस समय तुम्हारे नेत्रों की सुन्दरता से पराजित हो गया।' जैसे, व्यवहार-जगत् में कोई व्यक्ति किसी से पराजित होकर लज्जा से नम्र-मुख हो उसके पास जाकर अपनी पराजय को स्वीकार कर लेता है।

३. अरी खरी सटपट परी, बिधु आधे मग हेरि।
सग लगे मधुपनि लई, भागन गली अँधेरि॥

—बिहारी-बोधिनी, चतुर्थ शतक, ३१४।

४. अमरूकशतकम्, लक्ष्मी वेंकटेश्वर प्रेस, मुम्बई, संवत् १९७१, पृ० १६।

दम्पत्योर्निशि जल्पतोर्गृहशुकेनाकर्णितं यद्वचस्तत्प्रातर्गुरुसन्निधौ
निगदतस्तस्योपहार वधूः ॥
कर्णालंबित पद्मराग शकलं विन्यस्य चञ्चूपुटे व्रीडार्ता प्रकरोति
दाडिमफलव्याजेन वाग्बन्धनम् ॥

यहाँ कवि ने स्वकीया नायिका के इस सखी-वचन मे सम्भोग शृगार के अन्तर्गत व्रीडा सचारी को दिखलाते हुये (छल से कार्य साधने के कारण) पर्यायोक्ति से उपेत प्रत्युत्पन्नमति स्थिति-कल्पना का सुन्दर निदर्शन प्रस्तुत किया है, क्योकि तोते का बोलना (रात की सुनी बातो को दुहरा देना) लज्जा का कारण है और लज्जित वधू के द्वारा पद्मराग के टुकडे को अनारदाना बनाकर सुग्गे के समक्ष दे देना लज्जा की समस्या का निदान है।[1] इस तरह प्रत्युत्पन्नमति स्थिति-कल्पना कारण-निदान-सम्पन्न (एक प्रकार की) ललित कल्पना ही है।

काव्य मे तथ्याभिव्यक्ति की वक्रिमा के लिये असगति-निर्भर कल्पना का प्रचुर प्रयोग किया जाता है। असगति-निर्भर कल्पना मे कारण का आस्पद कार्य का अधिकरण नही होता है, फलस्वरूप इससे उक्ति-वैचित्र्य के निरूपण मे पर्याप्त सहायता मिलती है। अत उक्ति को वक्रिम बनाने मे इस कल्पना का विनियोग होता है। चित्रकला के रग-न्यास, सगीत कला की विसवादी स्वर-योजना और युग्म-मूर्तियो के मुद्रा-निवेश मे हमे इस कल्पना के निदर्शन मिलते हैं। एक उदाहरण से हम इस बात को और भी स्पष्ट कर सकते है—

सा बाला वयमप्रगल्भवचसः सा स्त्री वयं कातरा।
सा पीनोन्नतिमत्पयोधरयुगं धत्ते सखेदा वयम् ॥
साक्रान्ता जघनस्थलेन गुरुणा गन्तुम् न शक्ता वयम्
दोषैरन्य जनाश्रितैरपटवो जाता. स्म इत्यद्भुतम् ॥[2]

इस मुक्तक मे विप्रलम्भशृगार की प्रलापदशा के अन्तर्गत नायक की जडता, श्रम इत्यादि व्यभिचारी भावो को असगतिमूलक कल्पना के सहारे एक अच्छी अदा के साथ व्यक्त किया गया है। यहाँ असगति इसमे है कि सभी कारणो का

---

१. इसी भाव की स्थिति-कल्पना को हम शार्दूलविक्रीडित छंद में रचित हिन्दी-अनुवाद की इन पंक्तियों में पाते हैं—

दंपति बात रची रतियां गिनि निर्जनलीन सुवा सुनि रानी।
आगे गुरुन के प्रात लख्यो पढ़ने घटना सबसो रगभीनी ॥
कानि कढ़ू मनफल्न सों तोरिके सौन मनी की कनी रतनीनी।
चोंच पै दाडिम के कन सों अरु रोकि दई सकुचानि नवीनी ॥

२. अमरुशतकम्, लक्ष्मी वेंकटेश्वर प्रेस, मुम्बई, संवत् १८७१, पृ० ३८ ।

आस्पद नायिका है, किन्तु, सभी कार्यों का अधिकरण नायक है। नायक का कथन है कि नायिका बाला है और हमारे मुह से बात नही निकलती, वह स्त्री है और हम व्याकुल हैं, वह पीन और उन्नत स्तनों को धारण करती है और हमे थकावट मालूम होती है, वह भारी नितम्बो से दमित है और हम चल नही सकते। यह अद्भुत बात है कि अन्य के आश्रित कारणो से हम असमर्थ हो गये है। वास्तव मे नायिका को ही अप्रगल्भ, कातर, खेदयुक्त और असमर्थ होना चाहिए था। इस तरह असगतिनिर्भर कल्पना पर आश्रित उक्तियो मे एक विशेष चमत्कार रहता है।

यह जानी हुई बात है कि काव्य मे अप्रस्तुत-विधान का बहुत अधिक महत्त्व है, साथ ही अप्रस्तुतो मे 'आरोप' की प्रमुखता रहती है और अप्रस्तुतो को जुटाना कल्पना का काम है; इसलिए यह तर्कत. निष्पन्न होता है कि काव्य मे आरोप-कल्पना के विनियोग का क्षेत्र बहुत व्यापक है। जहाँ कवि उत्प्रेक्षण या अह्नव के द्वारा प्रस्तुत पर साहश्य, साधर्म्य या सारूप्य के सहारे अनेक अप्रस्तुतो का मालारूप, सर्वतात् या खण्डशः चित्रविचित्रमय आरोप करता है, उसे आरोप-कल्पना कहते हैं। जैसे—

स्मितं नैतत्किन्तु प्रकृतिरमणीयं विकसितं
मुखं ब्रूते को वा कुसुममिदमुद्यत्परिमलम् ॥
स्तनद्वन्द्व मिथ्या कनकनिभमेतत्फलयुग
लता सेयं रम्या भ्रमरकुलनम्या न रमणी ॥[1]

यहाँ मुस्कान पर सौन्दर्य-विकास का, मुख पर सुगन्धित पुष्प का, स्तन पर स्वर्ण-वर्ण फल का और तन्वगी पर भ्रमर-भार से आनमित मनोहर लता का शुद्धापह्नुतिमूलक आरोप इस प्रकार किया गया है कि प्रस्तुत के स्वधर्म का गोपन और उस पर अप्रस्तुत के अन्य धर्म का आरोप सुन्दरतापूर्वक हो गया है। इस प्रसग मे यह स्मरणीय है कि स्थिति-कल्पना और आरोप कल्पना के द्वारा भावशान्ति, भावसधि और भाव-शवलता की योजना मे कवियो को बहुत सहायता मिलती है।

इस तरह नन्दतिक बोध को सुरक्षित रखते हुए सौन्दर्यशास्त्रीय दृष्टि से कल्पना का विशद प्रकार-निर्धारण किया जा सकता है। उपर्युक्त 'प्रकार' तो उदाहरणस्वरूप हैं। जैसे, इन्द्रियबोध की दृष्टि से गन्ध-कल्पना भी कल्पना का एक ललित प्रकार हो सकती है। घ्राणिक विम्बो को प्रस्तुत करने मे कवि-गण प्राय गन्ध-कल्पना से काम लेते हैं। नायिकाओ के विशिष्ट सौन्दर्य को

१. भामिनी-विलास, ले० पण्डितराज जगन्नाथ, अनुवादक, महावीर प्रसाद द्विवेदी, श्री वेंकटेश्वर प्रेस, बम्बई, १६५८, पृ० १०१।

अभिव्यक्त करने में जहाँ पद्मिनी अथवा चन्दनगन्धा नायिकाओं की छटा का अंकन किया जाता है, वहाँ हमें इसी गन्ध-कल्पना का कमाल मिलता है। भारवि ने 'किरातार्जुनीयम्' के सप्तम सर्ग में इन्द्र-प्रेषित गन्धर्व-सेना के मातंगों के मद-क्षरण का चित्रण प्रस्तुत करने में इसी कल्पना का प्रयोग किया है—

निःशेषं प्रशमितरेणु वारणानां स्रोतोभिर्मदजलमुज्झतामजस्रम्।
आमोदं व्यवहितभूरिपुष्पगन्धो भिन्नैलासुरभिमुवाह गन्धवाहः॥[1]

अनेक रीतिकालीन कवियों, जैसे बिहारी ने भी पद्मिनी नायिका के वर्णन में गन्ध-कल्पना से काम लिया है, जहाँ अपूर्वशोभना नायिका के मुख को कमल मानकर गन्ध-लुब्ध भौंरों ने भारी भीड़ लगा दी है।

तदनन्तर कुछ अन्य अवान्तर दृष्टियों से भी कल्पना का प्रकार-निर्धारण किया जा सकता है, जैसे—गाणितिक कल्पना। गाणितिक कल्पना का प्रयोग प्रायः अतिशयोक्ति की सिद्धि के लिए किया जाता है। उदाहरणार्थ, दमयन्ती के रूप के अतिशय उत्कर्ष को दिखलाने में निम्नलिखित 'सहस्रांश' का प्रयोग—

यदि प्रसादीकुरुते सुधांशोरेषा सहस्रांशमपि स्मितस्य।
तत्कौमुदीनां कुरुते तमेव निर्मिच्छ्य देवः सफलं स जन्म॥[2]

आशय यह है कि यदि दमयन्ती अपनी मुस्कराहट का 'सहस्रांश' भी चन्द्रमा को दे देती, तो चन्द्रमा नीराजन की भाँति चाँदनी से उसकी पूजा कर अपनी चाँदनी का जन्म सफल कर लेता।' इसी तरह श्रीहर्ष ने एक जगह और भी दमयन्ती के रूप-वर्णन में बड़े विचित्र ढंग से इस गाणितिक कल्पना का प्रयोग किया है—

अस्या यदष्टादश संविभज्य विद्याः श्रुती दध्रतुरर्धमर्धम्।
कर्णान्तिकस्थैकशरं गम्भीरलेखं किं तस्य सख्यैव न वा नवाङ्कः॥[3]

अर्थात् "दमयन्ती के दोनों कान अठारह विद्याओं के दो विभाग करके आधा-आधा धारण करते हैं। कान के बीच में गहरी रेखा उठने से ९ का अंक आश्चर्य नहीं पैदा करता है?" इसी तरह रीतिकालीन कवि बिहारी ने भी नायिका के रूप-वर्णन में गाणितिक कल्पना का सुष्ठु प्रयोग किया है। जैसे—

कहत सबै बेंदी दिए, आंक दस गुनो होत।
तिय लिलार बेंदी दिए, अगनित बढ़त उदोत॥[4]

---

१. किरातार्जुनीयम्, प्रकाश हिन्दी व्याख्या, चौखम्बा संस्कृत पुस्तकालय, वाराणसी, पृ० १५१। अर्थात् जब हाथी मदजल का उत्सर्जन कर रहे थे, जिससे वहाँ की सम्पूर्ण धूल दब गई थी। उस मदजल की उत्कटता से फूलों की सुगंध छिप गई थी और वह [illegible]।

२. नैषधचरितम्, सं० श्री हर्ष, [illegible], काशी, १६४१, पृ० १७०।

३. वही, पृ० १७८।

४. बिहारी-सतसई, प्रथम भाग, दोहा ४१।

यहाँ बिन्दी-वर्णन मे बिहारी ने 'दस गुनो श्राक' और 'अगनित' के सहारे गारिणतिक कल्पना से व्यतिरेक को सिद्ध किया है। इसी प्रकार अपूर्वशोभना नायिका के मुख पर पडी हुई लट के वर्णन मे बिहारी ने गारिणतिक कल्पना के सहारे ही प्रतिवस्तूपमा को प्रस्तुत किया है—

कुटिल अलक छुटि परत मुख, बढिगो इतो उदोत।
बंक बिकारी देत ज्यो, दाम रुपैया होत।।[1]

साराश यह है कि काव्य एव अन्य ललित कलाओ के नन्दतिक बोध को सुरक्षित रखते हुए सौन्दर्यशास्त्रीय दृष्टि से कल्पना के अन्य अनेक प्रकार निर्धारण किए जा सकते है। अत उपर्युक्त प्रकार-निर्धारण 'इदमित्थ' नही, नमूना-मात्र है। आगे आनेवाले सौन्दर्यशास्त्रीय दृष्टि के तत्त्व-विचारको को चाहिए कि वे कल्पना के प्रकार-निर्धारण को और भी समृद्ध, सुचिन्तित और व्यापक बनावे। किन्तु, ध्यान मे इतनी बात अवश्य रहे कि जो भी प्रकार-निर्धारण हो, उसमे नन्दतिक बोध अनिवार्यत रहे; कोई सौन्दर्येतर मानदण्ड कल्पना-विवेचन को दबोच न ले।

अब हम प्रस्तुत अध्याय की मुख्य मान्यताओ को (कल्पना का प्रकार-निर्धारण छोडकर) इस प्रकार उपस्थित कर सकते हैं —

(१) कल्पना कलाकार की मानसिक सृजन-शक्ति है। अत कविता एव अन्य ललित कलाओ के प्रमुख तत्त्वो मे रचना की दृष्टि से कल्पना सर्वोपरि स्थान रखती है। सचमुच, कल्पना ही वह तत्त्व है, जिससे कवि या कलाकार को नूतन सृजन और अभिनव रूप-व्यापार-विधान की शक्ति प्राप्त होती है।

(२) रचनात्मक कल्पना सौन्दर्यशास्त्र का विवेच्य विषय है। इसको हम नूतन निर्माणक्षम नवनवोन्मेषशालिनी प्रतिभा कह सकते है। इसके द्वारा कला-जगत् मे नयी कृतियो, नयी प्रयुक्तियो और ललितप्रवृत्तियो का प्रसार होता है। इसलिए कला-चर्चा मे कल्पना से नन्दतिक रचनात्मक कल्पना का ही आशय ग्रहण किया जाता है, जिससे प्रेरित कलाकार अपनी अनुभूतियो मे आवश्यक चयन और वर्जन करके सहृदय की प्रत्यर्थता को आकृष्ट करनेवाले बिम्बो या अप्रस्तुतो का विधान करता है।

जीववैज्ञानिको ने इस बात पर विचार किया है कि किस तरह का मस्तिष्क कल्पना के लिए विशेष समर्थ होता है। इनकी धारणा यह है कि जिस मस्तिष्क-धारी के पास चेतकोशो की पर्याप्त सख्या रहती है, साथ ही जिसके सभी चेताकोश चेतोपागमिक (साइनेप्टिक) योजन-सूत्रो से परस्पर सुसबद्ध रहते हैं, उसी के पास रचनात्मक कल्पना की शक्ति रहती है। किन्तु, चेताकोशो की

१. बिहारी-बोधिनी, प्रथम शतक, दोहा ३७।

सत्ता और सक्रियता के आधार पर किसी मस्तिष्क को कल्पनाशील घोषित करना निरापद नहीं है, क्योंकि शिम्पञ्जी के मस्तिष्क में भी मनुष्य के मस्तिष्क की तरह अस्सी प्रतिशत चेताकोश होते हैं, किन्तु, उसमें रचनात्मक कल्पना का अभाव रहता है।

(४) आधुनिक सौन्दर्यशास्त्र में कल्पना का प्रयोग जिस अर्थ में किया जाता है, लगभग उसी अर्थ को व्यक्त करने के लिये संस्कृत काव्यशास्त्र के आचार्यों ने 'प्रतिभा' शब्द का प्रयोग किया है। अतः आधुनिक सौन्दर्यशास्त्र या पाश्चात्य कला-चिन्तन की प्रतिभा को हम भारतीय काव्यशास्त्र की 'प्रतिभा' कह सकते हैं। प्राचीन आचार्यों ने काव्य-हेतु के प्रसंग में प्रतिभा का तर्कपुष्ट विश्लेषण किया है। विशेषतः, राजशेखर, भट्टतौत और अभिनवगुप्त के द्वारा निरूपित 'प्रतिभा' आधुनिक सौन्दर्यशास्त्र की 'कल्पना' से बहुत साम्य रखती है।

रूढियाँ और गतानुगत विश्वास भी पर्याप्त योग देते है। इस प्रकार 'फैंसी' कुछ स्थलो पर हद के बाहर पहुँची हुई कल्पना हुआ करती है। कुल मिलाकर काव्य एव अन्य ललित कलाओ के नन्दतिक बोध की दृष्टि से 'फैंसी' की तुलना मे कल्पना का निर्विवाद ऊँचा स्थान है।

(८) स्मृति के साथ कल्पना का निकट सबध है। कुछ विचारको ने कल्पना को स्मृति का ही विकसित रूप माना है। बात यह है कि कल्पना और स्मृति—दोनो का आधार प्रत्यक्ष ज्ञान है। स्मृति प्रत्यक्ष ज्ञान के द्वारा प्राप्त अनुभव को चेतना के समक्ष सुरक्षित रखती है और कल्पना उन अनुभूत विषयो का स्वेच्छानुसार पुर्ननिर्माण करती है। अत कल्पना मे सदैव स्मृति का योग रहता है। कल्पना के साथ स्मृति के सहयोग का प्रभाव बिम्ब-विधान पर पडता है। दुर्बल स्मृति के साथ सलग्न कल्पना से निर्मित बिम्ब भी निर्बल होते है। इसलिए प्राय कलाकार की स्मृति सामान्य जन की अपेक्षा अधिक सशक्त होती है। इस प्रकार कल्पना की पृष्ठभूमि मे ज्ञातविषयक ज्ञान (स्मृति और प्रत्यभिज्ञा) की उपस्थिति आवश्यक है। स्मृति के तीन प्रमुख उद्बोधको—सादृश्य, अदृष्ट और चिन्ता मे 'सादृश्य' के साथ कल्पना का निकट सबध है। वस्तुतः कल्पना का एक कार्य यह है कि वह प्रस्तुत अथवा 'प्रत्यक्ष' से सादृश्य रखने वाली किसी ज्ञातवस्तु को पूर्वानुभव के संस्कारो से कुरेद कर अप्रस्तुत के रूप मे उपस्थित कर देती है। इसी तरह कल्पना का सबध ज्ञातविषयक ज्ञान के दूसरे रूप—प्रत्यभिज्ञा से भी है। यह प्रत्यभिज्ञा 'तत्ता' (पूर्व देश और पूर्व-काल) और 'इदन्ता' (एतद्देश और एतद्काल)—दोनो का अवगाहन करने वाली प्रतीति है। इस प्रत्यभिज्ञा के तीन प्रधान भेदो—तत्सदृश प्रत्यभिज्ञा, तद्विलक्षण प्रत्यभिज्ञा और तत्प्रतियोगी प्रत्यभिज्ञा मे प्रथम दो अर्थात् तत्सदृश प्रत्यभिज्ञा और तद्विलक्षण प्रत्यभिज्ञा के साथ कल्पना का अधिक निकट सबध है।

(९) कल्पना जहाँ उस वस्तु का **बोधाभास** प्रस्तुत करती है, जो 'वस्तु' वास्तव मे इन्द्रियग्राह्य नही है, वहाँ उसमे अनुमान का समावेश हो जाता है; क्योकि जो वस्तु या पदार्थ इन्द्रिय-ग्राह्य नही है, उसके ज्ञान के साधन को ही अनुमान कहते हैं। कल्पना का सबध अनुमान के इन तीनो रूपो—पूर्ववत्, शेषवत् और सामान्यतोदृष्ट—के साथ है।

(१०) कल्पना एक प्रकार की मानसिक सृष्टि है, जो अपने सम्मूर्त्तन के लिए साधन या माध्यम के रूप मे ईंट, पत्थर, रग-तूली, स्वर या बिम्ब—किसी को भी ग्रहण कर सकती है। जो विचारक कल्पना को मानसिक बिम्ब-विधान कहते है, वे कल्पना को केवल काव्य तक सीमित कर देते है। फल-स्वरूप अन्य ललित कलाओ का विस्तृत परिसर इस निरूपण के अनुसार

कल्पना से असम्पृक्त रह जाता है। दूसरी ओर 'कल्पना' को केवल 'मानसिक सृष्टि' कहने से उसमें एक अतिव्याप्ति आ जाती है। अतः सम्पूर्ण ललित कला को दृष्टिगत रखते हुए यह कहना निरापद प्रतीत होता है कि कल्पना एक ऐसी मानसिक सृष्टि है, जिसमें सौन्दर्य-बोध के साथ सम्मूर्तन की क्षमता और भावोद्बोधन का गुण रहता है।

(११) सभी कलाओं में कल्पना के विनियोग का स्वरूप भिन्न होता है। जिस कला का मूर्त आधार जितना ही स्थूल होता है, उस कला में कल्पना के विनियोग की मात्रा उतनी ही कम रहती है। कल्पना की यह विशेषता है कि यह मूर्त से मूर्त का नहीं, अमूर्त की सहायता से मूर्त का निर्माण करती है। इसलिए अमूर्त कल्पना उच्छिन्न मूर्तविधान के लिए अमूर्त आधार खोजती है। इस दृष्टि से कल्पना का निम्नतम विनियोग स्थापत्य कला में और सर्वोत्तम विनियोग काव्य-रचना में मिलता है। दृश्य-कला और श्रव्य-कला के विभाजन को दृष्टिगत रखते हुए हम कह सकते हैं कि स्थापत्यकार, मूर्तिकार और चित्रकार के पास सम्मूर्तन-प्रधान कल्पना की अधिकता रहती है, जबकि संगीतकार और कवियों के पास संवेग-संचर कल्पना की प्रधानता रहती है।

बिम्ब

बिम्ब

ललित कला के प्रमुख तत्त्वो मे बिम्ब भी बहुत महत्त्वपूर्ण स्थान रखता है। इसकी अनिवार्यता इसीसे प्रकट है कि कला-सृजन के क्षणो मे कलाकार की अमूर्त्त सहजानुभूतियो को बिम्बो के द्वारा ही आकार, इन्द्रियग्राह्यता अथवा विधान (फॉर्म) मिल पाता है। अत बिम्ब-विधान ही बहुत अशो मे कलाकार की सहजानुभूति की अभिव्यक्ति की सफलता को प्रमाणित करता है और कलाकार की सौदर्य-चेतना को भी द्योतित करता है। वस्तुत बिम्ब-विधान कला का वह मूर्त्त पक्ष है, जिससे कलाकार की भावानयन (एब्ट्रैक्शन) से श्लिष्ट सौंदर्यानुभूति को वस्तु-सत्य का सस्पर्श या तद्गत सपृक्त आधार के साथ सादृश्याभास (सेम्ब्लेन्स) मिल जाता है। फलस्वरूप, कुछ विचारक और कलाकार कला-सृजन मे विम्बो को पार्यन्तिक महत्त्व देते है।

बिम्ब-विधान कला का क्रिया-पक्ष है, जो कल्पना से उत्थित होता है। कला-जगत् मे कल्पना के विकास की एक सरणि है। कल्पना से बिम्ब का आविर्भाव होता है और बिम्बो से प्रतीक का। जब कल्पना मूर्त्त रूप धारण करती है, तब बिम्बो की सृष्टि होती है और जब बिम्ब प्रतिमित या व्युत्पन्न अथवा प्रयोग के पौन पुन्य से किसी निश्चित अर्थ मे निर्धारित हो जाते हैं, तब उनसे प्रतीको का निर्माण होता है। अतः कला-विवेचन की तात्त्विक दृष्टि से बिम्ब कल्पना और प्रतीक का मध्यस्थ है।

बिम्ब के स्वरूप को सुलझे हुए रूप मे समझने के लिये यह आवश्यक है कि हम बिम्ब और विचार-चित्र के पार्थक्य को अच्छी तरह हृदयगम कर लें, कारण, इन दोनो को पहचानने मे प्राय भ्रान्ति हो जाया करती है। वास्तविकता यह है कि बिम्ब और विचार-चित्र मे पर्याप्त अन्तर है। विचार-चित्र प्रत्यक्षाश्रित धारणाओ—'कन्सेप्ट्स' को आधार प्रदान करता है। वह अर्थग्रहण का प्रकट हरकारा होता है। किन्तु, विम्बो का प्रत्यक्ष धारणा मे कोई सीधा सबध नही रहता है। सभवतः इसी अन्तर को दृष्टिगत रखकर काण्ट ने विचार-चित्र-विधायक कल्पना को उत्पादक कल्पना और बिम्बविधायक कल्पना को पुनरूत्पादक कल्पना कहा है। अर्थात्, उत्पादक कल्पना से हमे विचार-चित्रो की प्राप्ति होती है और पुनरूत्पादक कल्पना से विम्बो की। पुन पुनरूत्पादक कल्पना से सभूत बिम्ब सर्वत्र 'विशेष' होते है और उत्पादक कल्पना

से संभूत विचार-बिम्ब सर्वदा 'सामान्य' होते हैं। बिम्बों का 'सामान्य' न होकर 'विशेष' होना इससे भी प्रमाणित होता है कि कला का सबंध 'सामान्य' की अपेक्षा 'विशेष' से अधिक रहता है, क्योंकि कला 'सुन्दर' का अधिकरण है और 'सुन्दर' सर्वत्र अपने 'सामान्य' का उत्कृष्टतम 'विशेष' हुआ करता है। यह दूसरी बात है कि कला 'विशेष' को 'विशेष' ही नही रहने देती, उसे साधारणीकरण के लिए 'सामान्य' भी बना देती है, जो उसकी उत्तर दशा है।

विशेषकर कविता के क्षेत्र मे बिम्ब-विधान के रूप को समझने मे इसलिए भी कठिनाई होती है कि कुछ विचारको ने उसे 'मेटाफर' (रूपक) का पर्याय-वाची बना दिया है और कुछ ने उसे 'मेटाफर' (रूपक) से नितान्त भिन्न माना है।[1] दूसरी ओर मनोविज्ञान मे रुचि रखनेवाले आलोचको की दृष्टि मे बिम्ब-विधान ऐन्द्रिय अनुभूति की एक ऐसी अभिव्यक्ति है, जो हमारी दृष्टि, श्रवण, घ्राण, स्पर्श अथवा रसना के लिए किसी न किसी रूप मे रजक हुआ करती है। इस तरह कला-जगत् के बिम्ब हमारी सेन्द्रिय अनुभूति के कलात्मक प्रजन होते है। यह धारणा सौदर्यशास्त्र की दृष्टि से भी कुछ सतुलित मालूम पड़ती है क्योकि बिम्बो को केवल सादृश्य-निर्भर 'मेटाफर' (रूपक) तक सीमित कर उन्हे एक प्रकार का अलकृत उक्ति-वैचित्र्य मानना उचित नही प्रतीत होता है। तदनन्तर, यह भी ध्यातव्य है कि कुछ विचारक बिम्ब-विधान को एक प्रकार का चित्रात्मक पुन प्रत्यक्ष मानते हैं। किन्तु, ऐसा स्वीकार करने से बिम्बो का चाक्षुप पक्ष इतना प्रधान हो जाता है कि अन्य ऐन्द्रिय पक्ष लुप्त-प्राय हो जाते हैं। अत बिम्ब-विधान को कलाकार के इन्द्रियानुभूति-निर्भर मानसिक सवेदनो की कुछ वस्तु-चित्रो अथवा विशिष्ट शब्दो के माध्यम से एक ऐसी अभिव्यक्ति मान लेना, जो हमारे लिए भी एक मानसिक धरातल पर इन्द्रिय-ग्राह्य अथवा इन्द्रिय-रजक हो, अपेक्षाकृत अधिक उचित प्रतीत होता है। प्रधानत इन्द्रियाँ ही पचभूतो और तन्मात्राओ तक हमारे उपनयन का माध्यम हुआ करती है। ये तन्मात्राये पाँच हैं - रूपतन्मात्रा, रसतन्मात्रा, गन्ध-तन्मात्रा शब्दतन्मात्रा और स्पर्शतन्मात्रा। इन सभी तन्मात्राओ का प्रत्यक्ष हम अपनी ज्ञानेन्द्रियो—दर्शनेन्द्रिय, रसनेन्द्रिय, घ्राणेन्द्रिय, श्रवणेन्द्रिय अथवा स्पर्शे-न्द्रिय द्वारा करते है। इन सभी प्रत्यक्षो के क्रम मे हमारा अन्त करण (मन, अहकार और बुद्धि) जागरूक रहता है तथा उस पर देश, काल, परिस्थिति और क्रिया का प्रभाव पड़ता है। यहाँ यह भी स्मरणीय है कि ये इन्द्रियाँ तभी सार्थक

1. 'Metaphor', The Philosophy of Rhetoric by *I. A. Richards*, London, 1936, Page 89.

हो पाती हैं, जबकि इन्हे सन्निकर्ष के लिए कोई वस्तुनिष्ठ आधार मिले।[1] इस तरह इन्द्रियो की स्वाभाविक और अनिवार्य वस्तुनिष्ठता ही (इन्द्रिय पर निर्भर रहने वाले) बिम्बो को मूर्त होने के लिए बाध्य करती है। साराश यह है कि वस्तुनिष्ठता और ऐन्द्रिय बोध बिम्ब-विधान के आवश्यक तत्त्व हैं।

इस प्रसग में यह भी विचारणीय है कि बिम्ब-विधान मे 'साहश्य तथा तुलना' के तत्त्व महत्त्वपूर्ण स्थान रखते हैं। साहश्य-स्थापन या तुलना मे बिम्ब-विधान के निमित्त यह अनिवार्य नही है कि वस्तुगत, मूर्त्त अथवा स्थूल की तुलना वस्तुगत, मूर्त्त अथवा स्थूल से ही की जाय या भावगत, अमूर्त्त अथवा सूक्ष्म की तुलना भावगत, अमूर्त्त अथवा सूक्ष्म से ही की जाय। इनके विपर्यय से भी कला मे शोभन-तत्त्व का आधान होता है। छायावादी बिम्बविधान इसका अन्यतम उदाहरण है कि किस प्रकार मूर्त्त के लिये अमूर्त्तविधान तथा अमूर्त्त के लिए मूर्त्तविधान से अनुपम लावण्य की सृष्टि की जा सकती है। सचमुच, उत्कृष्ट बिम्बविधान मे यह विपर्यय ही अधिकतर विद्यमान रहता है। फलस्वरूप श्रेष्ठ बिम्बो के द्वारा मूर्त्त को भावरूप और भाव को मूर्त्तरूप दिया जाता है। शर्त इतनी ही है कि बिम्बो को सवेगो की घनता से सर्वदा अवगुठित रहना चाहिए। अर्थात्, सवेगो की घनता उत्कृष्ट बिम्बविधान का अविच्छेद्य गुण है। इस तरह अप्रस्तुतयोजना मे जहाँ सवेगो की घनता समाविष्ट होती है, वहाँ बिम्बो की स्वत. सृष्टि हो जाती है। इसलिए रूपक, उपमा या मानवीकरण—किसी भी माध्यम से कवि अपनी अप्रस्तुतयोजना मे बिम्बविधान ला सकता है। अधिक स्पष्टता के लिए हम कह सकते हैं कि बिम्बविधान कलाकार का एक ऐसा सवेग-संकुल प्रयास है, जिसमे वह विविध अथवा विपरीत वस्तुओ, मन स्थितियो और धारणाओ को, जो सामान्यत विच्छिन्न और अर्थहीन लगती हैं, अपनी कल्पना शक्ति से परस्पर मिलाकर एक नवीन सन्दर्भ अथवा अनुक्रम देता है तथा उनमे अनेक मार्मिक छवियो का आधान कर देता है। हम इस बिम्ब-विधान को एक दूसरी दृष्टि से भी समझ सकते है, क्योकि यह बिम्ब-विधान (हिन्दी काव्यशास्त्र की भाषा मे) 'अप्रस्तुत-योजना' अथवा टी० एस० इलियट के शब्दो मे) 'ऑब्जेक्टिव कोरेलेटिव'[2] का ही एक रूप है। जब कलाकार अपने अमूर्त्त मर्म-सवेगो की यथातथ्य अभिव्यक्ति

---

१. सेन्द्रिय प्रत्यक्ष और इन्द्रिय सन्निकर्ष के विशेष विवेचन के लिए द्रष्टव्य—चिद्विलास, ले० सम्पूर्णानन्द, ज्ञानमडल, वाराणसी, १९५९, सेन्द्रिय प्रत्यक्षाधिकरण और 'सन्निकर्षाधिकरण', पृ० २२-२३।

२. द सैक्रेड वुड, टी० एस० इलियट, पेज, १००। हम 'ऑब्जेक्टिव कोरेलेटिव' को एक प्रकार से कवि के स्वेगों का 'फेनोमेनल इक्वीवैलेन्ट' कह सकते हैं।

के लिए बाह्य जगत् से (परिवेष्टनगत) ऐसी वस्तुओं को कला के फलक पर इस रूप में उपस्थित करता है कि हम भी उनके भावन से वैसे ही मर्म-संवेग की प्राप्ति कर सकें, जिसमें कलाकार पहले ही गुजर चुका है, तब उन योजित वस्तुओं की वैसी प्रस्तुति को हम बिम्बविधान कहते हैं।

सहृदय-चित्त की दृष्टि से बिम्ब, सामान्यत, विस्मृत कलाकृति का शेषांश (स्मृत-अंश) होता है, क्योंकि बिम्ब इन्द्रियगम्य और मूर्तिमान होने के कारण स्मृति में सुरक्षित रह जाता है, जब कि कलाकृति की अन्य चीज़ें (भाव, शैली या शिल्प-पद्धति) अमूर्त और भावात्मक होने के कारण विस्मृत हो जाती हैं। कला का आस्वादन करने वाला सहृदय पढ़ी हुई कविता की कई पंक्तियों को भूल जाता है, किन्तु, उसके एक-दो चित्र आस्वादनकर्ता के मानस-पटल पर तैरते रहते हैं। वह देखी हुई मूर्ति के अंकन और विन्यास की बारीकियों को भूल जाता है, किन्तु, उसका एकाध अंश उसके मन पर जमा रहता है। इसी तरह किसी देखे हुए चित्र अथवा सुने हुए संगीत को हू-ब-हू याद रखना उसके लिए कठिन है, किन्तु, उस चित्र में कोई मूर्त कुशलता है या उस संगीत में कोई गुंजरणशील लय है, जो उसकी स्मृति में सुरक्षित रह जाती है। इस प्रकार किसी कलाकृति में जो स्वभावतः स्मृति में संरक्षणीय है, इन्द्रियगम्य है, मूर्त और विशिष्ट है, वही सहृदय-चित्त के लिए बिम्ब है। अत उत्कृष्ट कलाकृति योजित बिम्बों के द्वारा अपने क्षेत्र में आई हुई वस्तुओं को, गेटे के कथनानुसार 'कंक्रीट युनिवर्सल' बना देती है।

प्रभावों की इन्द्रियगम्य प्रतिकृति होने के कारण बिम्बों में स्थापत्य कला, मूर्तिकला और चित्रकला के तत्त्व, अर्थात् दृश्य कलाओं के तत्त्व अधिक रहते हैं क्योंकि बिम्ब, प्राय दृश्य अथवा गोचर होते हैं तथा उनका संबंध रूप एवं आकार से अनिवार्यत रहता है। अत बिम्बधर्मी काव्य कला अथवा संगीत-कला, जो मुख्यत श्रव्य कला है, उपर्युक्त दृश्य कलाओं का कुछ न कुछ अंशों में अपहरण करती है। किन्तु, इस प्रसंग में यह भी ध्यान देने योग्य है कि चित्र-कला और मूर्तिकला के बिम्ब सर्वथा और सर्वदा दृश्य होते हैं, अर्थात् चाक्षुष होते हैं, जब कि काव्य और संगीत कला के बिम्ब, सामान्यत, मन की सम्पूर्ण पुनरुत्पादक क्रिया के सभी रूपों का समाहार कर लेते हैं। तदनन्तर, प्रभावों (इम्प्रेशन) की इन्द्रियगम्य प्रतिकृति (कॉपी) होने के कारण कला के उत्कृष्ट बिम्बों में ऐन्द्रियता, अत संवेदनों को उद्बुद्ध करने की क्षमता रहती है। जो बिम्ब जितना ही ऐन्द्रिय रहता है, वह उतना ही सशक्त होता है। इसलिये जो बिम्ब केवल विचारपरक अथवा रचनाकार की 'इच्छा,' 'एषणा' या 'धारणा' के वाहक होते हैं, वे समर्थ न होकर अपूर्ण या भग्न बिम्ब मात्र रह जाते हैं। ऐसे निष्प्राण बिम्बों से कला में एक प्रकार का रसदोष पैदा हो जाता है। इसलिए उत्कृष्ट बिम्ब का लक्षण

यह है कि वह आश्रय अथवा आलम्बन के किसी सवेग को मूर्त्त बनाकर प्राय. सभी सवेदनशील सहृदय को उसी सवेग से अभिभूत कर देता है। अर्थात् किसी सवेग से उत्पन्न होकर सहृदय-चित्त मे उसी सवेग को उत्पन्न कर देने की क्षमता अर्जित कर लेना ही बिम्ब की सफलता है। इस सफलता की प्राप्ति के लिये बिम्बो को चित्रधर्मी होने के अलावे सवेग-सचर बनना पडता है। फलस्वरूप, उत्कृष्ट बिम्बो की सृष्टि तब होती है, जब स्रष्टा उनमे प्रकृति की स्थितिविशेष या प्रभावो की प्रतिकृति को प्रतिबिंबित करने के साथ ही उन्हे अपने हृदय के रस और सवेग से सराबोर कर देता है।[1] वस्तुत जो बिम्ब स्रष्टा के चित्त मे 'वासित' नहीं हो पाते, वे चित्रात्मक होने पर भी जीर्ण बिम्बो (ट्राइट इमेजेज') की तरह अरसनीय सिद्ध होते हैं।

इस अध्याय के प्रारम्भ मे कहा जा चुका है कि बिम्ब-विधान कला का क्रिया-पक्ष है, जो कल्पना से उत्थित होता है। अत बिम्बो के विधान के समय कल्पना बहुत कार्यरत रहती है। यो, बिम्ब-विधान के क्रम मे कल्पना मुख्यत दो कार्य करती है—पहले कल्पना-स्मृति के क्रोड मे सोये हुये बिम्बो को प्रत्यक्षोपलब्ध अनुभूतियो के स्पर्श से जगाती है और तब उन बिम्बो को शिल्प के साँचे मे ढालती है। कला मे अवतरित होने पर स्मृति-निर्भर बिम्ब कुछ बदल जाते हैं। यदि ऐसा न होता, तो केवल 'सामान्य मनुष्य' होना ही कलाकार बनने के लिये पर्याप्त था, क्योकि स्मृति की मजूषा मे सोये रहने वाले बिम्ब सबो के पास रहते हैं, इसलिये स्मृति मानव-जाति का सामान्य गुण है। इस तरह साधारण मनुष्य की तुलना मे कलाकार की यह विशेषता है कि वह स्मृति के क्रोड मे रहने वाले बिम्बो को कलात्मक बनाने के लिये उन पर कल्पना का मधुवेष्टन डालता है। स्मृति मे सुरक्षित बिम्ब, प्राय इकहरे और अश्लिष्ट होते हे, कल्पना उन्हे सश्लिष्ट बनाकर कला मे प्रस्तुत करती है। इस तरह कल्पना स्मृति के जिस बिम्ब को कला के फलक पर प्रेपित करती है, वह बिम्ब प्रेपण के क्रम मे अन्य अनेक साम्य-निर्भर बिम्बो और अनुबिम्बो से सश्लिष्ट होकर वट-प्ररोह की तरह सकुल बन जाता है।

इस विवेचन से ही स्पष्ट है कि बिम्ब-विधान के लिये स्मृति सर्वाधिक आवश्यक है, क्योकि बिम्ब एक प्रकार का स्मरण-निर्भर मानसिक पुनर्निर्माण है, जिसमे अतीत की कोई सवेदनात्मक अनुभूति सुरक्षित रहती है। इसलिये ऐसी कलाकृतियाँ, जिनकी रचना कलाकार 'पीठ की आँख' के सहारे करता है, अधिक बिम्ब-गर्भ हुआ करती हैं। सचमुच, स्मृति के सहयोग के बिना

---

१. कॉलरिज, बायग्राफिया लिटरारिया, पेज १७९-१८०, जे० एम० डेण्ट एण्ड सन्स, लन्दन, १९३९।

बिम्ब-विधान सम्भव नहीं है। प्रत्येक रचना के पूर्व कलाकार की एक सृजन-विह्वल मुद्रा या मनोदशा होती है। इस दशा में स्मृति के बिम्ब सद्य प्रत्यक्ष की वस्तु बनने लगते हैं, अर्थात् बिम्ब का (वास्तविक प्रतीति के क्षण का) वस्तु-बोध अतीत का न रहकर वर्तमान के जैसा ही आभासित होने लगता है। यों सभी मानसिक क्रियाओं में स्मृति का महत्व है, किन्तु, बिम्बविधान में स्मृति का चूडान्त महत्त्व है। विशेषकर चाक्षुष बिम्ब अवश्य ही स्मृति से छनकर आते हैं। आई० ए० रिचर्ड्स ने भी स्मृति पर लिखते हुए ऐसा ही अभिमत व्यक्त किया है।[1] मनोवैज्ञानिक विश्लेषण से तो यहाँ तक पता चलता है कि स्मृति अतीत की छापों के एक बिखरे हुए संग्रह के रूप में बिम्बों को भावनाओं की मंजूषा में केवल संजोकर ही नहीं रखती है, बल्कि वह विविध सामग्री के माध्यम से बिम्बों का पुंजीकरण और सम्मिश्रण कर उन्हें नवीन रमणीयता और विशिष्ट छवि भी प्रदान करती है। इस तरह यह एक स्वीकृत मत है कि अर्थवान बिम्बों के निर्माण में स्मृति का महत्वपूर्ण योग रहता है।

बारीक विश्लेषण करने पर पता चलता है कि बिम्बों का निर्माण कई प्रकार से हो सकता है, जैसे—किसी दृश्य वस्तु के आधार पर बिम्ब का निर्माण, किसी संवेदन की प्रतिकृति से बिम्ब का निर्माण, किसी मानसिक विचारणा अथवा धारणा से बिम्ब का निर्माण, किसी विशेष अर्थ को ध्वनित करनेवाली घटना से बिम्ब का निर्माण, किसी उपमान अथवा अप्रस्तुत के द्वारा बिम्ब का निर्माण और किसी ऐसे श्लेष से बिम्ब का निर्माण, जो प्रस्तुत तथा अप्रस्तुत—दोनों पक्षों पर एकरूप लागू होता हो। बिम्ब-निर्माण के इन प्रकारों को कुछ उदाहरणों के द्वारा प्रस्तुत प्रबन्ध के द्वितीय खण्ड (छायावाद का मूल्या-ङ्कन) के चतुर्थ अध्याय में स्पष्टतापूर्वक समझने की चेष्टा की जायगी।

सौन्दर्यशास्त्रियों और काव्यालोचकों के अलावे मनोवैज्ञानिकों ने भी बिम्बों पर पर्याप्त विचार किया है। बिम्बों के संबंध में मनोविज्ञान की एक अद्भुत मान्यता यह है कि बिम्बों का निर्माण प्राप्त (वास्तविक) अनुभूतियों और काल्पनिक अनुभूतियों—दोनों से समानरूपेण सम्भव है। अत अनुभूति-रिक्त व्यक्ति भी मानसिक बिम्बों की सृष्टि कर सकता है। मनुष्य के जीवन में कुछ ऐसे क्षण आते हैं, जिनमें अघटित अनुभूतियाँ भी बिम्बों का उपजीव्य बन जाती हैं। जैसे—सपक्ष होकर आसमान में उड़ने का सपना, चन्द्रलोक में भ्रमण अथवा नक्षत्रों के साथ सम्भाषण। तदनन्तर, बिम्बों के संबंध में मनोविज्ञान की एक दूसरी मान्यता सौंदर्यशास्त्र की दृष्टि से भी विचारणीय है। कुछ

---

१. प्रिन्सिपुल्स ऑफ लिटरेरी क्रिटिसिज्म, आई० ए० रिचर्ड्स, लन्दन, १९५५, पृ० १०६।

प्रयोग और परीक्षणो के बाद मनोविज्ञान इस निष्कर्ष पर पहुँचा है कि बिम्बो के सृजन तथा भावन पर व्यक्ति-भेद, अत , रुचि-भेद का प्रभाव पडता है। साराश यह है कि भिन्न-भिन्न व्यक्तियो मे भिन्न-भिन्न प्रकार के बिम्बो को धारण करने की शक्ति होती है। अन्वेषको ने मनोवैज्ञानिक धरातल पर यह प्रमाणित कर दिया है कि विभिन्न व्यक्तियो मे अपनी-अपनी प्रकृति के अनुसार चाक्षुष, श्रावण, घ्राणिक, स्पार्शिक अथवा अन्य बिम्बो के सृजन और भावन की क्षमता रहती है। किसी के लिए चाक्षुष बिम्ब अत्यन्त सुलभ होते हैं, तो किसी के लिए घ्राणिक बिम्ब। उदाहरणार्थ, एमिल जोला जैसी गन्ध-सचेत प्रकृति रखने के कारण किसी व्यक्ति के लिए घ्राणिक बिम्ब अत्यन्त सुलभ हो सकते हैं। बिम्ब संबधी मनोवैज्ञानिक परीक्षणों से यह एक सामान्य तथ्य प्रतिपादित होता है कि औसत व्यक्ति के लिए चाक्षुष बिम्बो का सृजन या भावन अन्य प्रकार के बिम्बो के सृजन या भावन की अपेक्षा सर्वाधिक सरल और शीघ्र होता है। सरल और शीघ्र भावन या सृजन की दृष्टि से औसत व्यक्ति के लिए चाक्षुष बिम्बो के बाद श्रावण (ऑडिटरी) बिम्ब और श्रावण बिम्बो के बाद गतिबोधक बिम्बो (मोटर इमेजेज) का स्थान आता है। किन्तु, इस मन्तव्य का आशय बिम्बो के सृजन अथवा भावन मे व्यक्ति-भेद या रुचि-भेद के महत्त्व का विघटन नही है। निश्चय ही एक सगीतज्ञ के लिए श्रावण बिम्बो, भावन या सृजन की दृष्टि से चाक्षुष और गतिबोधक बिम्बो की अपेक्षा अधिक आशुग्राह्य तथा सरल होगा और एक रगरेज के लिए चाक्षुष बिम्ब, निश्चितरूपेण, श्रावण या गतिबोधक बिम्बो की तुलना मे अधिक रमणीय होगा। अतः बिम्बो के भावन और सृजन के क्षेत्र मे हमे मनोवैज्ञानिक दृष्टि से व्यक्ति-भेद और रुचि-भेद के महत्त्व को स्वीकार करना होगा। सौन्दर्यशास्त्र की दृष्टि से भी बिम्ब-विधान के सन्दर्भ मे व्यक्ति-भेद और रुचि-भेद का महत्त्व विचारणीय है। किसी कलाकृति मे एक विशेष प्रकार के बिम्बो की प्रधानता का कारण कलाकार की प्रकृति या रुचि भी है। जिस कवि मे मूर्त्त ('स्कल्पचरल' या 'स्टैचुएस्क') प्रवृत्ति अधिक रहती है, उसके बिम्ब-विधान मे स्पार्शिक बिम्बो की प्रधानता रहती है। जैसे—कीट्स की कविताओ मे स्पार्शिक बिम्बो की प्रधानता। इस दृष्टि से व्यक्ति-भेद की तरह युग-भेद का भी अपना महत्त्व है। उदाहरण के लिए स्पार्शिक बिम्बो के सहारे यौन भावना और स्थूल सौन्दर्य-बोध की उत्तम अभिव्यक्ति होती है। इसलिए जब किसी साहित्य मे रीतिकाल से मिलती-जुलती शारीरिक यौनाकर्षण-प्रधान युग-धारा चलती है, तो उसकी रचनाओ मे स्पार्शिक बिम्बो की अधिकता हो जाती है। अत बिम्बो के अध्ययन से हम कलाकार की प्रकृति के साथ ही युग की विचार-धारा का भी पता लगा सकते हैं। सचमुच, कलाकार की प्रकृति के अनुरूप ही

मनुष्य के चिन्तन और सवेदन के मूल से सबधित रहते हैं। इनके साथ मनुष्य का परम्परागत, आनुवंगिक और सास्कृतिक सबध रहता है। अत. इन आदि बिम्बो मे दुहरी शक्ति होती है। एक ओर ये बिम्ब 'अतीत' की धारणाओ से रूप और आकार ग्रहण करते है, तो दूसरी ओर इनमे वह रचनात्मक शक्ति सुरक्षित रहती है, जिनसे भविष्य के निर्माण मे मनुष्य को सास्कृतिक सहायता मिलती है। ये आदि-बिम्ब मूलत. जातीय अनुभूति से निर्मित होते है। युग ने बहुत ही ललित उदाहरण के सहारे अपनी आदि-बिम्ब सबधी धारणा को स्पष्ट करने की चेष्टा की है। इन्होने 'बोटन' शीर्षक निबन्ध मे लिखा है कि आदि-बिम्ब उस सूखी हुई नदी की अन्तरग सतह (बेड) के समान है, जिस पर जल-प्रवाह अभी तो बन्द है, किन्तु, एक अनिश्चित दीर्घकाल के बाद जिसमे फिर से धारा लौट आती है। रूपक की भाषा मे इस कथन का यह अर्थ निकलता है कि आदि-बिम्ब उस पुरानी नदी की सूखी धारा के समान है, जिसमे जीवन-रूपी जल बहुत दिनो तक रहने के कारण (यह जानी हुई बात है कि जिस पुरानी सूखी नदी मे जितने अधिक समय तक पानी ठहर चुका होता है, उसमे फिर से जलधारा के लौटने की सभावनाये उतनी ही सशक्त रहती है) पर्याप्त गहराई खोद चुका हो।[1] इस प्रकार युग ने अपनी धारणा को स्पष्ट करने के लिए आदि-बिम्ब की उपमा 'रिपलडेड रिवर बेड' से दी है। साराश यह है कि आदि-बिम्ब का सबध एक व्यक्ति की आनुवशिक चेतना अथवा किसी राष्ट्र की सांस्कृतिक वासना और जातीय अनुभूति से है। यदि हम एक सरलीकृत उदाहरण ले, तो कह सकते है कि मर्यादा-पालन की दृष्टि से राम, रसिकता की दृष्टि से रास-रचैया कृष्ण, वीरता की दृष्टि से पार्थ-अभिमन्यु, इत्यादि समग्र हिन्दू जाति या यहाँ की साहित्य-सस्कृति मे पले व्यक्ति के लिये ऐसे ही आदि-बिम्ब माने जा सकते हैं। उक्त बिम्बो का उद्बोध तदनुकूल मानसिक परिस्थितियो

---

perception."

C. "The Primordial image has advantage over the clarity of the idea in its vitality. It is a self-living organism, endowed with creative force, for the primordial image is an inherited organization of psychic energy, a rooted system, which is not only an expression of the energic process but also a posibility for its operation."

—Psychological Types, G. G. Jung, London, 1944, Pages 555, 557, 560.

१. 'बॉटन' शीर्षक निबन्ध, एसेज ऑन कण्टेम्पोररी इवेण्ट्स, केगन पॉल, १९४८ में सकलित, से उद्धृत।

से होता है। किसी रावण जैसे अत्याचारी को देखकर राम का स्मरण अथवा किसी लुटती हुई द्रौपदी को देखकर कृष्ण का मानसिक प्रत्यानयन उक्त प्रकार से आदि-बिम्ब का ही मानसिक उद्बोध कहा जायगा। इस विवेचन से यह भी संकेतित होता है कि आदि-बिम्ब प्राय पीढियो की शिविका पर चलते है और बहुत दूर तक शाश्वत बने रहते हैं। आदि-बिम्बो अथवा आद्य बिम्बो (आर्कटाइप) का यह गुण उत्कृष्ट प्रतीको मे भी रहता है। इसलिए श्रेष्ठ प्रतीको पर प्राय परम्परा की मुहर लगी रहती है। पिकासो के ग्वेरिका मे अकित साँड और घोडा इसलिए विशिष्ट प्रतीक बन सके है कि उनके प्रतीकार्थ का परम्परा से सबध है, वे नितान्त निजी कल्पना से आनीत प्रतीक नही हैं। हाँ, कलाकार को इतना ध्यान अवश्य रखना चाहिए कि वह परम्परा के गिरे हुए अथवा घिसे हुए असंवेद्य प्रतीको को कला मे स्थान न दे, क्योकि ऐसे विगत या पर्युषित प्रतीक कला मे अवरोधक एकरूपता का काम करते है। इस प्रसग मे यह ध्यातव्य है कि युग के आदि-बिम्ब को ही ईषत् भिन्नताओ के साथ डा० मन्नहीम ने 'पैरेडिग्मैटिक एक्सपिरियेन्स', डा० ओल्ड्हम ने 'कमाण्डिग एक्सपिरियेन्स' और मॉड बोड्किन ने 'टाइप-इमेज' कहा है।[१]

युग के आदि-बिम्ब का कला-विवेचन मे बहुत महत्त्व है, क्योकि कला के शाश्वत प्रतीक प्राय आदि-बिम्ब ही हुआ करते है।[२] इनमे आशु साधारणीकरण का गुण रहता है, क्योकि ये सामूहिक अवचेतन (कलैक्टिव अन्कन्सस)[३] से उत्पन्न होते है। सामूहिक अवचेतन से सम्बद्ध इन बिम्बो का प्रयोक्ता और उद्गाता होने के कारण ही कलाकार को युग ने, सभवत, 'सामूहिक मानव' (कलैक्टिव मैन) कहा है।[४] युग की आदि-बिम्ब और सामूहिक अवचेतन से सबद्ध इन धारणाओ पर आधुनिक कला-चिन्तको ने पर्याप्त विचार किया है। विशेषकर, हर्बर्ट रीड ने इन मान्यताओ पर जीवविज्ञान और शरीरविज्ञान को दृष्टिगत रखते हुए जो मन्तव्य प्रस्तुत किया है, वह बहुत ही महत्त्वपूर्ण है। उनका कथन है कि युग की आदि-बिम्ब वाली मान्यता शरीर-विज्ञान

से पूर्णत समर्थित मालूम पड़ती है। कारण, मानव-मस्तिष्क की रचना और अग-रूप मे उसके विकास-क्रम को देखकर यह पता चलता है कि वर्तमान बनावट तक पहुँचते-पहुँचते उसके रचना-विधान मे अनेक परिवर्तन हुए है, किन्तु, इन परिवर्तनो के क्रम मे भी प्रमस्तिष्क वाह्यको पर कुछ प्राचीन सस्कार-लेख (एनग्राम्स) अनिवार्य रूप मे आज भी सामान्यत· अकित मिलते हैं, जिन्हें हम मनुष्य की जातीय या सामूहिक निधि कह सकते हैं। इस तरह प्रमस्तिष्क वाह्यको (सेरेब्रल कोर्टेक्स) पर अकित ये पूर्वाघात या प्राचीन सक्षोभ (ट्रॉमा) कुछ विशेष प्रकार के बिम्बो की आशु अवधारणा की सशक्त क्षमता रखते हैं। इन्ही विशेष प्रकार के बिम्बो को व्यजित करने के लिये युग ने 'आदि-बिम्ब' की स्थापना प्रस्तुत की है।[1] किन्तु, कुछ आधुनिक कला-विचारक यह कहकर युंग के सिद्धान्त-स्थापन की उपेक्षा भी करते हैं कि युंग ने पुरानी बातो को ही कुछ नये शब्दो के छद्म से कहा है, अत· युग की विचारणाओ मे केवल शब्द-भेद या शब्दान्तर है, कोई नई बात नही।[2]

सौंदर्यशास्त्र या कला-विवेचन और विशेषकर काव्यालोचन की दृष्टि से बिम्ब एक प्रकार का रूप-विधान है, जो प्राय किसी ऐन्द्रिय प्रभाव या सवेदन की मानसिक प्रतिलिपि अथवा प्रतिकृति हुआ करता है। तदनन्तर, रूप-विधान होने के कारण अधिकाश बिम्ब दृश्य अथवा चाक्षुप होते हैं और विशुद्ध बौद्धिक अथवा भावात्मक बिम्ब होने पर भी कुछ न कुछ अशो मे अनिवार्यत ऐन्द्रिय रहते है। इसका कारण यह है कि वस्तु-विशेष के प्रति ऐन्द्रिय आकर्षण ही कलाकार को बिम्ब-विधान की ओर प्रेरित करता है, हालाँकि बिम्ब-विधान के समय कलाकार के समक्ष केवल वस्तु-बोध ही नही रहता, बल्कि वड्र्सवर्थ के शब्दो मे 'स्टॉर्म आव एसोसियेशन' भी रहता है। आसगो से आवृत्त होने के कारण उत्कृष्ट बिम्ब के दो व्यावर्त्तक लक्षण होते हैं। पहला यह है कि उत्कृष्ट बिम्ब-विधान मे सवेदनो अथवा प्रभावो का सातत्य रहता है, क्योकि सवेदनो या प्रभावो के सातत्य का निर्वाह करने वाले बिम्ब ही कलाकार की मर्मन्तुद जीवनानुभूति से सत्य ग्रहण कर बलिष्ठ हो पाते हैं। बात यह है कि कला के बिम्ब ऐन्द्रिय सन्निकर्ष मे आई हुई वस्तुओ का निरपेक्ष मानसिक पुनर्निर्माण नही करते, बल्कि उस मानसिक पुनर्निर्माण मे आई हुई वस्तु अथवा वस्तुओ को इस तरह किसी अनुभूति के सन्दर्भ मे उपस्थित करते हैं कि वे बिम्ब रूप-विधान होने के साथ ही भाव-विशेष के सफल वाहक भी

---

१. द फॉर्म्स ऑव थिंग्स अननोन, सॉव हर्बर्ट रीड, फेबर एण्ड फेबर, लन्दन, १९६०, पृष्ठ ५३-५४।

२. [illegible]

बन सकें। इस प्रकार कला के बिम्ब इन्द्रिय-सन्निकर्ष से पाई हुई वस्तु-मात्र को नहीं, वस्तु के विशेष और विविध भाव-सबधों को मूर्तिमान करते हैं। उत्कृष्ट बिम्बों का दूसरा व्यावर्तक लक्षण यह है कि वे प्रसग, अनुबन्ध और विधान के साथ अनुपात रक्षा का निर्वाह नहीं कर पाते। वे, जैसा कि सी० डी० लेविस ने कहा है, निरर्थक बिम्ब बन जाते हैं और उनसे किसी कलाकृति का कोई उपकार नहीं हो पाता है। इसलिये बिम्ब विधान में बिम्बों के सृजन के अलावे बिम्बों के पारस्परिक सग्रथन सामर्थ्य को सौदर्यशास्त्रीय कला-विवेचन की दृष्टि से बहुत महत्त्व दिया जाता है। वस्तुत श्रेष्ठ कलाकार अपनी रचना को क्रमहीन बिम्बों का 'अलबम' नहीं बनाता है, बल्कि वह बिम्बों को एक सारगर्भ और अर्थवती शृखला प्रदान करता है।[1]

पूर्व पृष्ठों के विश्लेषण में हम देख चुके हैं कि कलाकार या कवि के भावों को बिम्ब ही प्रेषणीय और ग्राह्य बनाते हैं। यहाँ यह ध्यातव्य है कि वे ही बिम्ब इस सामर्थ्य से युक्त हो सकते हैं, जिनमें ये तीन गुण विद्यमान हों—(प्रत्यग्रता, तीव्र घनता और उद्बोधनशीलता) प्रत्यग्रता वह गुण है, जो प्रयोग-वक्रिमा, रगन्यास, स्वरारोह-अवरोह या पद-लालित्य के सहारे बिम्बों में जीवन-गन्ध भरती है। तीव्र घनता वह गुण है, जिससे बिम्ब छोटे फलक पर ही अधिकतम अर्थवत्ता के केन्द्रीकरण की शक्ति अर्जित करते हैं। और, उद्बोधनशीलता वह शक्ति है, जिसके द्वारा बिम्ब कृतिगत भावावेग के प्रति सहृदय-चित्त की प्रत्यर्थता को उद्बुद्ध करते हैं। प्रत्येक देश, जाति अथवा समुदाय की साहित्य-सस्कृति में कुछ न कुछ ऐसे शब्द, स्वर-दोल, पदार्थ और नाम अवश्य रहते हैं, जो नियत सन्दर्भ में प्रयोग की सुदीर्घ परम्परा और जातिगत सस्कार के कारण स्वभावत उद्बोधनशील होते हैं। कई कलाशास्त्री ऐसे पारम्परीण बिम्बों को 'कन्वेन्शनल इमेज' कहते हैं। किन्तु, कुछ विचारक द्वितीय गुण—तीव्र घनता—से उपेत बिम्बों को ही सर्वाधिक सशक्त और कला के लिये उपयोगी मानते हैं। कारण, तीव्र घनता से पूर्ण बिम्ब इतने सन्दर्भ-समर्थित और प्रयोक्ता के स्पन्दित सवेग से चालित या प्रणोदित होते हैं कि वे सहृदय की वैयक्तिक अनुभूति की धारा को भटका कर वैसा ही (अपने अनुकूल या अपनी तरह) स्पन्दित सवेग सहृदय के चित्त में पैदा कर देते हैं।

विकास की दृष्टि से बिम्ब के तीन प्रकार माने जा सकते हैं। प्रथम अवस्था में बिम्ब वस्तु-विशेष की छाया या स्पष्ट सम्मूर्तन करते हैं, और दूसरी अवस्था में छाया की छाया का सम्मूर्तन करते हैं, किन्तु तीसरी

१. द पोयेटिक इमेज, सी० डी० लेविस, लन्दन, १९४७, पृ० ७४।

अवस्था मे बिम्ब वस्तु-बोध से इतने पृथक हो जाते हैं कि वे प्रतीक के समीपी और समकक्ष बन जाते हैं। इस तीसरी अवस्था के बिम्ब नन्दतिक दृष्टि से अधिक कलात्मक मूल्य रखते हैं। तदनन्तर, प्रतिपादन की दृष्टि से बिम्बो को दो श्रेणियो मे बाँटा जा सकता है—लक्षित बिम्ब (डाइरेक्ट इमेज) और उप-लक्षित बिम्ब (फिगरेटिव इमेज)। काव्य के क्षेत्र मे उपलक्षित बिम्ब का बहुत अधिक महत्त्व है, क्योकि इसमे औपम्य-प्रधान और रूपक-गर्भित आधार पर सादृश्य विधान के द्वारा कवि अपने घनीभूत भावो को अप्रस्तुतो मे बाँधकर मार्मिक ढग से प्रस्तुत करता है। इसलिये उपलक्षित बिम्बविधान मे हमे कवियो के अचेतन मन के पटलो का रहस्य-सकेत मिलता है। इसके विपरीत लक्षित बिम्ब विधान मे विवक्षित वस्तु अथवा काव्य-निबद्ध आकृति की बाह्य रूपरेखा का स्पर्श या सकेत रहता है। अत इस कोटि के बिम्बविधान मे वर्ण-बोध एव अन्य चाक्षुप तत्त्वो की प्रधानता रहती है। फलस्वरूप, ऐसे बिम्ब, प्राय, क्रिया प्रधान अथवा चित्रात्मक हुआ करते है। व्यवहार मे ऐसा देखा जाता है कि लक्षित बिम्ब तभी सुन्दर बन पाते है, जब उनमे आद्यन्त सश्लिष्टता रहती है अथवा प्रभावान्विति का केन्द्रीकरण रहता है।

जो विचारक अन्य ललित कलाओ को छोडकर केवल काव्य की दृष्टि से बिम्बो पर विचार करते है, वे उपलक्षित बिम्बो को ही बिम्ब का एकमात्र रूप मानते हैं। जैसे, एच० कुम्बे का कहना है कि बिम्ब अनिवार्यत एक प्रकार का 'फिगर ऑव स्पीच' है।[1] इस दृष्टिकोण को प्रस्तुत करते हुए इन्होने बिम्बो के दो भेद माने है—सक्षिप्त बिम्ब (कन्साइज इमेज) या व्यजक बिम्ब (सजेस्टिव इमेज) और शिथिल बिम्ब (लूज इमेज) या प्रसृत बिम्ब (डिफ्यूसिव इमेज)। प्रथम प्रकार के बिम्ब मे एक उत्प्रेक्षा-सुलभ सक्षिप्तता और कसावट रहती है। इसकी अवतरणिका विशद नही रहती है और इसके अन्तर्गत कम मे कम मे अधिक से अधिक की व्यजना की जाती है। अर्थात्, इसका अप्रस्तुत-विधान प्रसग-गर्भित और अध्याहार-प्रधान होता है। दूसरे प्रकार के बिम्ब मे मालोपमा या सागरूपक से सादृश्य रखनेवाला केन्द्रगामी विस्तार रहता हैं। इसकी अवतरणिका 'सी, सा, सम' इत्यादि जैसे वाचक अथवा अन्य लक्षक शब्दो को जोडकर विशद बना दी जाती है। इस तरह प्रथम प्रकार और द्वितीय प्रकार के बिम्बो मे कुछ वैसा ही अन्तर है, जैसा क्रमश एकदेश विवर्त्ति और समस्तवस्तुविषय सागरूपक मे हुआ करता है। यहाँ एच० कुम्बे के अनुसार इतना स्मरणीय है कि प्रथम प्रकार का बिम्ब-विधान अपेक्षाकृत कठिन हुआ

---

१. लिटरेचर एण्ड क्रिटिसिज्म, ले० एच० कुम्बे, चैटो एण्ड विण्डस्, लन्दन, १९५८, पृ० ४९।

करता है, क्योंकि इसके लिये कल्पना की गम्भीर चाप (प्रेसर) के नैरन्तर्य और अडिग बौद्धिक नियन्त्रण की आवश्यकता होती है।

इसी तरह कुछ विचारकों ने विनियोग की दृष्टि से बिम्बों के तीन भेद माने हैं—प्राथमिक बिम्ब (प्राइमरी इमेज), विकसित बिम्ब (सेकेण्डरी इमेज) और व्युत्पन्न बिम्ब (टेर्शियरी इमेज)। प्राथमिक बिम्ब नियन्त्रित, परिमेय, धारणात्मक, सहजग्राह्य और तथ्यबोधक होते हैं। विकसित बिम्ब ठीक इसके विपरीत होते हैं। श्रेष्ठ कलाकार, जिनके पास शिल्पित शैली के साथ ही छायावादी भावना अथवा रहस्यात्मक वृत्ति की समृद्धि रहती है, इसी प्रकार के बिम्बों का अधिक प्रयोग करते हैं। किन्तु, ये बिम्ब नियन्त्रण, परिमेयता, धारणात्मकता अथवा तथ्यबोधकता से अनुपेक्षणीय दूरी रखने पर भी पूर्णत अर्थवान् होते हैं। तदनन्तर, व्युत्पन्न बिम्बों को हम बिम्ब से उत्पन्न बिम्ब कह सकते हैं। इस तरह ये बिम्ब वस्तु-जगत् के निश्चित तथ्यबोधक न होकर उस भावजगत् के दूरवर्ती बोधक होते हैं, जिस भाव-जगत् को कला, प्राय, रूप-जगत् अथवा मूल्य-जगत् में परिवर्तित कर उपस्थित किया करती है। अर्थात्, ये बिम्बविशिष्ट, स्वयविधायक और आत्मनिष्ठ हुआ करते हैं। उदाहरणार्थ, मैथिलीशरण गुप्त की 'मातृभूमि' शीर्षक कविता की निम्नांकित पंक्तियों में—

नीलाम्बर परिधान हरित पट पर सुन्दर है,
सूर्य-चन्द्र युग-मुकुट मेखला रत्नाकर है।
नदियाँ प्रेम-प्रवाह, फूल तारे मण्डन हैं,
बन्दीजन खगवृन्द, शेष-फन सिंहासन हैं।
करते अभिषेक पयोद हैं, बलिहारी इस वेष की,
हे मातृभूमि! तू सत्य ही सगुण मूर्ति सर्वेश की।

जितने भी बिम्ब हैं, वे परिमेय, धारणात्मक, सहजग्राह्य और तथ्यबोधक हैं। अत हम इन्हें प्राथमिक बिम्ब कह सकते हैं। किन्तु, दिनकर की 'हिमालय के प्रति' शीर्षक कविता की इन पंक्तियों में—

युग-युग अजेय, निर्बन्ध मुक्त,
युग युग गर्वोन्नत, नित महान,
निस्सीम व्योम में तान रहे,
युग से किस महिमा का वितान।

प्रयुक्त बिम्ब विकसित बिम्ब हैं, क्योंकि 'महिमा का वितान', 'निर्बन्ध मुक्त' और 'युग-युग अजेय' के द्वारा यद्यपि हमें कोई इन्द्रियगम्य तथ्यबोधकता नहीं मिलती है, तथापि इन पदों की निश्चित अर्थवत्ता में कोई सन्देह नहीं किया जा सकता। तदनन्तर, व्युत्पन्न बिम्ब तो बहुत ही सौन्दर्यबोधक और रसा-

त्मक होते है। उदाहरण के लिए, महादेवी वर्मा द्वारा लिखित 'नीरजा' की इन पक्तियो—

इसमें उपजा यह नीरज सित,
कोमल कोमल लज्जित मीलित,
सौरभ की लेकर मधुर पीर।
इसमें न पंक का चिह्न शेष,
इसमें न ठहरता सलिल-लेश,
इसको न जगाती मधुप-भीर।

मे प्रस्तुत कमल का बिम्ब वस्तु-जगत् के औसत तथ्य का बोधक नही है, तथापि इसमे भाव-जगत् के एक अनुभूत अनमोल सत्य की रूपात्मक अभिव्यक्ति है। इस तरह व्युत्पन्न बिम्ब निर्गुण भाव को सगुण बनाकर अभिव्यक्त करते हैं और प्रयोग के पौन पुन्य से रूढ होकर प्राय. प्रतीक बन जाते है। कुछ गहराई मे विचार करने से यह स्पष्ट हो जाता है कि प्राथमिक बिम्ब की रचना चेतन मन (कन्सस माइण्ड), जो व्यवसायात्मिका बुद्धि या तर्कात्मक बुद्धि से बहुत दूर नही रहता, के द्वारा होती है। तदनन्तर, विकसित बिम्ब चेतन और अचेतन मन के उस सगम से उत्थित होता है, जो तर्क अथवा निरीक्षण-परीक्षण की अपेक्षा विचार तथा आसंगो से अधिक निकट रहता है। और, व्युत्पन्न बिम्ब का निर्माण कलाकार के उस आत्म-तत्त्व के द्वारा होता है, जो 'सूक्ष्म' और 'विराट' को स्वायत्त करने की क्षमता रखकर भी न कोई निश्चित रूप रखता है और न कोई इन्द्रियगम्य अर्थ ही देता है।

कुछ काव्यालोचको ने बिम्बो का वर्गीकरण करते समय मूर्त्तता और सूक्ष्मता के आधार पर उनके दो प्रकारों का निरूपण किया है— मूर्त्त बिम्ब (कक्रीट इमेज) और अमूर्त्त बिम्ब (एब्स्ट्रैक्ट इमेज)।[1] किन्तु, मेरी दृष्टि मे ऐसा वर्गीकरण निरर्थक है, क्योकि मूर्त्तता तो बिम्बो का अनिवार्य गुण है, अत· मूर्त्तता को वर्गीकरण का भेदक आधार नही मानना चाहिये। बिम्बो के भेद, प्रकार या वर्ग-निर्धारण के प्रसग मे काव्यालोचको के और दो मत मिलते है। एक मत के अनुसार काव्य की विकसित दशा मे बिम्बो के तीन रूप होते है—प्रतीक, रूपक और उपमा। दूसरे मत के अनुसार काव्य की विकसित दशा मे बिम्बो के पाँच रूप होते है—प्रतीक, रूपकात्मक बिम्ब (एलिगरिकल इमेज), चिह्नात्मक बिम्ब (एम्ब्लेमेटिक इमेज), रूपक और उपमा। कई विचारक इस सख्या-वृद्धि से भी सन्तुष्ट नही है। वे बिम्बो के और दो रूप मानते हैं—प्रति-

---

१ द इमेजरी ऑव कीट्स एण्ड शैली, लेखक रिचर्ड हर्टर फॉग्ले, द युनिवर्सिटी ऑव नॉर्थ कैरोलिना प्रेस, १९४९, पृ० १८४।

लेख (ट्रान्सक्रिप्ट) और संकेत (साइन)। संक्षेप में, बिम्ब के उक्त रूपों को हम इस प्रकार समझ सकते हैं—

उपमा—जो बिम्ब वर्ण्य-अवर्ण्य की सत्ता को अलग स्वीकार करते हुए दोनों में सीच-सा, जैसा, सदृश इत्यादि के 'वाचन' से तुलना या समता स्थापित करता हो।

रूपक—जो बिम्ब वर्ण्य-अवर्ण्य के अन्तर का निषेध करते हुए दोनों के बीच तुलनात्मक सादृश्य-निबन्धन अथवा किसी वस्तु के विशिष्ट गुण का शब्द-कथन करके उस गुण में साम्य रखनेवाली अन्य दूरवर्ती वस्तु को उपलक्षित करता हो।[1]

रूपकात्मक बिम्ब (एलिगरिकल इमेज)—वह बिम्ब, जो किसी कृति में ऊपरी दृष्टि से एक ही अर्थ को लेकर चलता हो, किन्तु, अन्तरंग में किसी अन्य आधेय अर्थ, प्रत्यय या विचार को छिपाये हुए हो।

चिह्नात्मक बिम्ब (एम्ब्लेमेटिक इमेज)—वह बिम्ब, जो किसी विशेष अर्थ का अभिज्ञान बनकर प्रयुक्त हुआ हो।

प्रतिलेख (ट्रान्सक्रिप्ट)—वह व्यंजक बिम्ब, जो एक मुख्यार्थ के साथ ही अनेक आलंबों के सहारे विविध अर्थच्छायाओं का प्रकाश करता हो।

संकेत—(साइन) वह बिम्ब, जो प्रतीकात्मक मूल्य धारण करते हुए भी किसी कृति में गौण स्थान रखता हो।

---

१. इस प्रसंग में यह स्मरणीय है कि हीगेल ने बिम्ब को metaphor और simile का मध्यवर्ती माना है।—"We may place the 'image' midway between the metaphor and the simile It has, in fact, so close an affinity with the metaphor that we may regard it as merely a metaphor fully amplified, an aspect which at the same time marks its very close resemblance to the simile, there is, however, this distinction, that in the case of the image as such the significance is not set forth in its independent opposition to the concrete external object expressly compared with it That which we term the image arises when two phenomena or conditions, which by themselves stand substantially apart, are placed in concurrence so that one condition supplies the significance which is made intelligible by means of the other."—*Hegel*, The Philosophy of Fine Art, Volume II, London, 1920, Pages 144-145

प्रतीक—वह विम्ब, जो किसी कृति मे विना कोई तुलनात्मक आधार ग्रहण किए हुए अपना स्वतंत्र 'स्थान' रखता हो और उत्कृष्ट आसंग गर्भत्व के साथ ही अनेक गूढार्थों की व्यंजना करता हो।

अधिक गहराई मे जाने पर हम पाते हैं कि जिन आलोचको ने अन्य ललित कलाओ को छोडकर केवल काव्य की दृष्टि से विम्बो पर विचार किया है, उन्होने बिम्ब को केवल शब्दाश्रित माना है। किन्तु, विम्बो को मात्र शब्दाश्रित मान लेने से काव्येतर ललित कलाओ का पक्ष छूट जाता है, उदाहरणार्थ, बिम्बो को मात्र शब्दाश्रित माननेवाले विचारको मे रॉबिन स्केल्टन के विम्ब-विवेचन को देखा जा सकता है।[1] इनका मत है कि बिम्ब उस शब्द या उन शब्दो से निर्मित होता है, जिसमे या जिनमे विवक्षित वस्तु अथवा भाव के मानस-प्रत्यक्ष कराने की शक्ति रहती है। इनके अनुसार विम्बो के प्रमुख प्रकार निम्नलिखित हैं—

क. सरल बिम्ब (सिम्पल इमेज)—वह विम्ब, जो भावो को इस प्रकार जगावे कि उनका मानस-प्रत्यक्ष हो जाय। जैसे—चमकीला, नीला, पीला, शीत, कोमल इत्यादि।

ख. भावानीत विम्ब (इमेजेज आव एब्स्ट्रैक्शन)—मानस अथवा अन्य ऐन्द्रिय प्रत्यक्ष से रहित भाव को पैदा करनेवाले बिम्ब। जैसे—सत्य, प्रत्यय, वैदुष्य इत्यादि।

ग. आशु (इमिजियेट) विम्ब—श्रुति, दृष्टि, गंध, रस और स्पर्श के भावो को सद्य समीरित करनेवाले बिम्ब। जैसे—कलकल, टलमल, खुरदुरा, मीठा, महमह, इत्यादि।

घ. विकीर्ण विम्ब (डिफ्यूज इमेज)—ऐन्द्रिय प्रत्यक्ष से अनृजु या प्रकारान्तर सम्बन्ध रखनेवाले अथवा किसी एक इन्द्रिय के प्रति भाव-निवेदन नही रखनेवाले विम्ब, अर्थात् अनेक इन्द्रियो के प्रति भाव-निवेदन रखनेवाले विम्ब। जैसे—गोष्ठी, इच्छा, साहस, इत्यादि।

च. अमूर्त्त (एब्स्ट्रैक्ट) बिम्ब—(ख. से नितान्त साम्य) भावानयन से निर्मित ऐसे बिम्ब जो मानवीकरण अथवा अन्य ऐसे ही उपायो से वर्ण्य का मानस प्रत्यक्ष पैदा करते हो। जैसे—दया, विभु, विभा, इत्यादि।

छ. संयुक्त (कम्बाइण्ड) बिम्ब—दो या दो से अधिक शब्दो के संयोग

---

१. द पोयेटिक पैटर्न, ले० रॉबिन स्केल्टन, रूट्लेज एण्ड केगन पॉल, १९५६, पृ० ९०-९१।

से बननेवाले ऐसे बिम्ब, जो किसी एक वस्तु अथवा भाव का मानस प्रत्यक्ष कराते हों। जैसे—लाल कान्ति।

ज सकुल (कम्प्लेक्स) बिम्ब—दो या दो से अधिक शब्दों का ऐसा सयोग, जो एक से अधिक बिम्बों का सृजन करता हो। जैसे—सुनहले 'डैफोडिल्स', सशैवाल रक्तकमल।

झ सयुक्त भाववाची (कम्बाइण्ड एब्स्ट्रैक्ट) बिम्ब—शब्दों का ऐसा सयोग, जिससे कोई भाववाची बिम्ब (मानस प्रत्यक्ष से रहित) पैदा होता हो। जैसे—भद्र सत्य, शालीन करुणा, इत्यादि।

ट सकुल अमूर्त (कम्प्लेक्स एब्स्ट्रैक्ट) बिम्ब—शब्दों का ऐसा सयोग, जिससे एकाधिक भाववाची बिम्ब (मानस प्रत्यक्ष से रहित) पैदा होते हों। जैसे—विश्वस्त दानशीलता, ईमानदार प्रेम।

ठ अमूर्त सयुक्त और अमूर्त सकुल बिम्ब (एब्स्ट्रैक्ट कम्बाइण्ड एण्ड एब्स्ट्रैक्ट कम्प्लेक्स इमेज)—वह सकुल या सयुक्त बिम्ब, जिसमें भावात्मकता बिम्बधर्मिता से अधिक प्रधान हो और बिम्बधर्मिता उस भावात्मकता का केवल गुण-बोध करती हो।

जैसे—स्वर्गिक गर्वीलापन, विकम्पित विगलित करुणा, इत्यादि।

उपर्युक्त विश्लेषण से स्पष्ट है कि रॉबिन स्केल्टन द्वारा प्रस्तुत बिम्ब-विवेचन का सबसे बड़ा दोष है—उसमें शब्द-प्रधान आधार का होना। स्केल्टन ने बिम्बों को मात्र शब्दाश्रित माना है और, फलस्वरूप, शब्दों के आधार पर ही उनका वर्गीकरण प्रस्तुत किया है। अतः काव्येतर ललित कलाओं के लिये बिम्बों के इस विवेचन का कोई सौन्दर्यशास्त्रीय महत्त्व नहीं रह जाता है।[1]

समग्र ललित कलाओ की दृष्टि से विम्बो का उत्कृष्ट वर्गीकरण तभी हो सकता है, जब अभिव्यक्ति की कला और नन्दतिक बोध को आधार माना जाय ।

अब हम ऐन्द्रिय बोध के अनुसार बिम्बो के विभाजन पर विचार करेंगे, क्योंकि मूर्त्तविधायिनी कल्पना से सृष्ट बिम्ब अपने ऐन्द्रिय निवेदन के द्वारा ही हमारे लिये ग्राह्य होते है । अत हम इनमे कभी एकोन्मुखी और कभी अनेकोन्मुखी ऐन्द्रिय निवेदन पाते है । अर्थात् हमे कोई विम्ब चाक्षुप अनुभूति देता है या स्पार्शिक अनुभूति । किन्तु, कभी ऐसे भी सकुल अथवा मिश्र विम्ब होते हैं, जो एक ही साथ हमे स्पार्शिक, घ्राणिक एव चाक्षुप—कई प्रकार की अनुभूतियाँ प्रदान करते है । जैसे—पन्त जी की इन पक्तियो—

दूर उन खेतो के उस पार
जहाँ तक गई नील झकार

मे हम 'नील झकार' पर विचार कर सकते हैं । यहाँ 'नील' रग-बोध से सम्पृक्त होने के कारण हमारी चाक्षुप प्रतीति से सबद्ध है और 'झकार' ध्वनि-बोधक होने के कारण हमारी श्रावण प्रतीति से । अत यहाँ हमे सरल अथवा शुद्ध नही, बल्कि, सकुल अथवा मिश्र बिम्ब की प्राप्ति होती है, क्योकि एक ही बिम्ब हमारे चक्षु और श्रवण—दोनो को तृप्त करता है । इस तरह श्रेष्ठ कलाकार ऐसे भी बिम्ब को प्रस्तुत कर सकता है, जो दो क्या, हमारी तीन-चार ज्ञानेन्द्रियो को एक साथ 'अपील' करता हो ।

उपर्युक्त ऐन्द्रिय बोध के आधार पर हम सामान्यत कला मे विनियोग पानेवाले विम्बो को निम्नलिखित वर्गों मे विभाजित कर सकते हैं —

१. चाक्षुष, २. श्रावण, ३. स्पार्शिक, ४. घ्राणिक, ५. रासनिक (गस्टेटरी), ६. आंगिक अथवा जैव, ७. वेगोद्‌भेदक (किनेस्थेटिक), और ८ गत्वर (मोटर) । पुन इनमे से कुछ बिम्बो को एकाधिक उपवर्गों मे बाँटा जाता है । जैसे चाक्षुष विम्ब दो प्रकार के माने जाते हैं—सश्लेषणात्मक और विश्लेपणात्मक । इसी तरह स्पार्शिक बिम्बो के अन्तर्गत तापबोधक बिम्बो (थर्मल इमेजेंज) को स्वीकार किया जाता है, जिन्हे प्राय, दो प्रकारो—शीत बिम्ब और उष्ण बिम्ब मे विभक्त किया जाता है ।[1] बिम्बो का ऐसा विभाजन कुछ दूर

---

१. विम्बों के प्रकार-निरूपण की यह सख्या अनिश्चित है । मनोवैज्ञानिक, जीववैज्ञानिक या अत्यधिक कलावादी दृष्टिकोण लेकर चलने विाले विचारकों ने विम्ब के प्रकारों को इस तरह वढा दिया है कि हम विम्ब के वैसे प्रकार-निर्देश को किसी सुन्दर विशेषण का चुनाव भर कह सकते है । जैसे—विसेरल इमेज, टैक्टाइल इमेज, मस्कुलर इमेज, मिमेटिक इमेज, आर्टिकुलेटरी इमेज, टायॅड इमेज, फ़क्शनल इमेज, पलैप्वायट इमेज, जक्स्टापोज्ड इमेज, फीलिग इमेज, इत्यादि ।—प्रिन्सिपल्स ऑव लिटररी क्रिटिसिज़म, आई० ए० रिचर्ड्स, रूटलेज एण्ड केगन पॉल, १६५५, पृ० १२०-१२४, १५२ ।

(टेक्सचर), विस्तार (वॉल्यूम) और रूप-भेद तथा प्रमाण (एस्पैक्टिव)। काव्य कला मे चाक्षुष बिम्बो का अधिक उपयोग स्थूल सौन्दर्य के चित्रण मे हुआ करता है। इसलिये जिस युग मे मानव-जगत् या मानवेतर जगत् के दृश्य रूप के प्रति कवियो की रुचि अधिक रहती है, उम युग के काव्य मे चाक्षुष बिम्बो का सर्वाधिक विनियोग मिलता है।[1]

तदनन्तर, श्रावण बिम्ब (आडिटरी इमेज) श्रव्य कलाओ के लिये विशेष उत्कर्ष विधायक होते है। सगीत कला की ध्वनियाँ ऐसे ही बिम्बो के अन्तर्गत आती है। ये श्रावण बिम्ब, प्राय , ध्वनि-कल्पना से उत्थित होते है। विशेषकर काव्य के क्षेत्र मे ध्वनि-कल्पना से हमारा आशय है—कविता के श्रव्य पक्ष की ऐसी योजना अथवा नाद-सौन्दर्य की ऐसी प्रेपणीयता, जो पाठक या श्रोता के द्वारा कविता के समझे जाने के पूर्व ही सहृदय-चित्त मे कवि के भाव-निवेदन या आकृतियो की व्यजना को प्रेपित कर दे। सामान्यतः, ध्वन्यर्थ चित्रण को प्रस्तुत करते समय कवि को इसी ध्वनि-कल्पना का सहारा लेना पडता है। ध्वनि-कल्पना से युक्त भापा मे एक प्रकार की मत्र-शक्ति होती है। अर्थात् वैसी भापा को समझे बिना ही (श्रवण मात्र से) कवि के भाव-निवेदन के दल खुलने लगते है, जैसे, गायत्री मत्र अथवा वैदिक ऋचाओ के श्रवणमात्र से ही अन्तर्मन मे एक उच्चाशयता विकीर्ण होने लगती है। अत: यहाँ यह भी ध्यातव्य है कि ध्वनि-कल्पना के प्रेषण मे सस्कारो के उद्बोध का महत्वपूर्ण योग रहता है। काव्य मे यह ध्वनि-कल्पना पदशय्या की रचना के साथ ही छन्द-योजना के विशिष्ट प्रकार पर भी निर्भर करती है। जैसे, अमृतध्वनि छद को सुनते ही वीरता और ओज का उद्भास होने लगता है। विश्लेपण करने पर प्राय सभी श्रेष्ठ काव्य-शिल्पियो (प्राचीन या अर्वाचीन) मे उस ध्वनि-कल्पना के प्रति मोह मिलता है, जो कियदश मे पाठको अथवा श्रोताओ की दीक्षित या सस्कारजन्य श्रुति-चेतना पर निर्भर करती है। भवभूति की 'एते ते कुहरेषु गदगनदद् गोदावरी वारयो' वाली उक्ति या टी० एस० इलियट के 'वेस्ट-लैण्ड' वर्णित विहग-कठ से प्रस्फुटित जल-बूदो के 'टिपिर-टिपिर' सगीत 'ड्रिप ड्रॉप ड्रिप ड्रॉप ड्रॉप ड्रॉप ड्रॉप ड्रॉप'—मे हमे इसी ध्वनि-कल्पना का उपयोग मिलता है।[2] बूदो की इस आवाज और वर्षा-सगीत को ध्वनि-कल्पना के सहारे प्रस्तुत करने का प्रयास जानकीवल्लभ शास्त्री ने भी किया है—

१. चाक्षुष बिम्बों को मनोविज्ञान, दर्शनशास्त्र और सौन्दर्यशास्त्र के पण्डितों ने अनेक प्रकारों में बांटा है। द्रष्टव्य—Imagination by *E J. Furlong*, New York, 1961, Page 70.

२. आधुनिक कवियों के बीच टी० एस० इलियट ने इस ध्वनि-कल्पना को सैद्धान्तिक रूप में बहुत ऊँचा स्थान दिया है।—द एचिवमेंण्ट ऑव टी० एस० इलियट, एफ० ओ० मैथीसन, ए गैलेक्सी बुक न्यूयार्क ऑक्सफोर्ड युनिवर्सिटी प्रेस, १९५९, पृ० ८१-९६।

मेघ-रन्ध्र में मन्द्र-सान्द्र ध्वनि—
द्रिम-द्रिम-द्रिम उन्मद मृदंग की।
. . . .
रिमझिम रिमझिम, रनझुन रनझुन,
छुनछिट तच्छुम रनरन-रनरन,
छुम-छुम छनन, झनन-झुनझुन,
मुक्तकेश सरका श्यामाम्बर।
हरित-शस्य-अंचल अचलतर॥
ताल-ताल पर उच्छल-उच्छल—
चल जल छलछल टलमल टलमल,
फुलफुल-फुलफुल, फलफल-फलफल,
प्रति-पदगति नति शत-तरंग की।
तड़ित भंगिमा अंग-अंग की॥[1]

इसी तरह बंगला के कवि ईश्वरगुप्त ने संगीतधर्मी निसर्ग-वर्णन-पद्धति का उदाहरण प्रस्तुत करते हुए ध्वनि-कल्पना के सहारे वर्षा का सुन्दर चित्र उपस्थित किया है—

चारिदिके घोरतर नीरधर आडम्बर
शून्य पर करे अतिशय।
चाप चाप समुभित गुरु गुरु गरजित
दूरू दूरू कम्पित हृदय।
बहितेछे समीरन करितेछे घोर रन
निदाघ वरषा सहकार।
सन् सन् स्वरे गाजे, झन् झन् माझे माझे
शब्द करे, स्तब्ध त्रिसंसार।
चक्‌मक् चिकि मिकि धक् धक् त्रिकि धिकि
सुचंचला चपलार माला।
झम्‌झम् हय जल धरातल सुशीतल
घुचे गेल सन्तापेर ज्वाला।[1]

इस प्रकार ध्वनि-कल्पना से प्रसूत श्रावण बिम्बो मे एक प्रकार की स्वन-सम्पदा रहती है।

स्पार्शिक बिम्ब, प्राय, शारीरिक सौंदर्य-चेतना या सन्निकर्ष-प्रधान रूप-भावना से सबद्ध रहते है। अतः इनके द्वारा अधिकतर सस्पर्श, त्वक्चेतना या रूपात्मक सभार के भावो का मूर्त्तन किया जाता है। यो, दृश्य कलाओ, विशेषकर, मूर्त्तिकला और चित्रकला मे स्पार्शिक बिम्बो के द्वारा सूक्ष्म अदृश्य भावो का भी वस्तु-मूर्त्तन (ऑब्जेक्टिफिकेशन) कर दिया जाया है। तदनन्तर, घ्राणिक, रासनिक, आंगिक अथवा जैव[1] और गत्वर बिम्ब आते है, जिनका स्वरूप उनके नाम से ही स्पष्ट है और जिनकी सोदाहरण विवेचना प्रस्तुत प्रबन्ध के द्वितीय खण्ड (छायावाद का कला-सौष्ठव) के चतुर्थ अध्याय मे विस्तारपूर्वक की जायगी। यहाँ हमारे लिये वेगोद्भेदक बिम्बो[2] के स्वरूप को समझ लेना आवश्यक है। वेगोद्भेदक बिम्ब मे तिग्मध्वान-गुण, त्वरा, विस्फोट और विभ्राट—सब कुछ एक साथ रहते हैं। निराला ने 'राम की शक्तिपूजा' शीर्षक कविता की निम्नलिखित पक्तियो मे वेगोद्भेदक बिम्ब की सुन्दर योजना की है—

> शत घूर्णावर्त्त, तरंग-भंग उठते पहाड़,
> जल राशि-राशि जल पर चढ़ता खाता पछाड़,
> तोड़ता बन्ध—प्रतिसन्ध धरा, हो स्फीत वक्ष,
> दिग्विजय-अर्थ प्रतिपल समर्थ बढ़ता समक्ष
> शत वायु-वेग-बल, डुबा अतल मे देश-भाव,
> जलराशि विपुल मथ मिला अनिल मे महाराव
> वज्रांग तेजघन बना पवन को, महाकाश
> पहुँचा एकादश रुद्र क्षुब्ध कर अट्टहास।[3]

> षट्पादतन्त्रीमधुराभिधान
> प्लवगमोदीरित कण्ठतालम्।
> आविष्कृत मेघमृदङ्ग नादै—
> वनेषु सगीतमिव प्रवृत्तम्॥
>
> (किष्किन्धाकाण्ड, २८, ३६)।

१. आंगिक अथवा जैव बिम्बों का सबध 'थ्योरी ऑव इम्पैथी' से भी दिखलाया जा सकता है, जिसकी चर्चा हम आगे समानुभूतिक बिम्बविधान (इम्पैथिक इमेजरी) के प्रसग में करेंगे।

२. द्रष्टव्य है—*Richard Harter Fogle*, The Imagery of Keats and Shelley, Chapel Hill, 1949.

३. अपरा, ले० निराला, साहित्यकार संसद, प्रयाग, सवत् २०१२, पृ० ३७।

विम्वो के विधायक कवि को विभिन्न प्रकार और स्तर के सवेदनो के 'मूल राग' का पारखी वनना पडता है। इस 'मूल राग' के प्रति कलाकार या कवि का अलग-अलग दृष्टिकोण होता है। इसलिये सहसवेदनात्मक सश्लिष्ट बिम्ब-विधान मे कोई कवि वोध-विपर्यय (सेन्स-ट्रान्सफरेन्स) से काम लेता है, तो कोई कवि वोध-मिश्रण (सेन्स-फ्यूजन) से। समासत, सहसवेदनात्मक सश्लिष्ट विम्बविधान की सवसे वडी विशेषता यह है कि इसमे विभिन्न प्रकार के सवेगो और सवेदनो का एक ऐसा सौहार्द्रपूर्ण सन्तुलन रहता है, जिसके अभाव मे हम अपने आवेष्टन की सकुलता और उसके विचित्र ऐश्वर्य के साथ अपने अन्तःकरण का रागात्मक सवध नही स्थापित कर सकते।

तदनन्तर, समानुभूतिक विम्वो ('इम्पैथिक इमेजेज') की वारी आती है। पाश्चात्य आलोचको ने समानुभूतिक विम्वो का विवेचन 'थ्योरी आव इम्पैथी' के आधार पर किया है, जिस सिद्धान्त का विश्लेषण हम सौंदर्य सवधी अध्याय मे कर चुके हैं। विम्बो के सन्दर्भ मे विचारको ने 'समानुभूति' की वह व्याख्या स्वीकार की है, जो हेर्मान लोहसे ने १८५८ ईस्वी मे उपस्थित की थी। इस व्याख्या के अनुसार समानुभूति वहाँ रहती है, जहाँ हम अपने अहम्, मन स्थिति, क्रिया-व्यापार, शरीरस्थ सचरण या अन्तर्वृत्ति का आरोप मानवेतर दृश्यजगत् पर करते हैं। इस तरह मानवीकरण से लेकर 'पैथेटिक फैलेसी' तक का क्षेत्र समानुभूतिक विम्वो के अन्तर्गत पडता है। मूर्त्तिकला और चित्रकला जैसी प्रतिरूपात्मक कलाओ (रिप्रेजेण्टेशनल आर्ट्स) मे समानुभूतिक विम्वो की प्रधानता रहती है, क्योकि समानुभूतिक बिम्ब अधिकतर चाक्षुप प्रत्यक्ष से सवधित रहते हैं। जव गोचर प्रत्यक्ष से प्राप्त वाह्य जगत् के पदार्थों पर कलाकार अपनी आत्मसत्ता और अन्तर्वृत्ति का प्रक्षेपण कलात्मक ढग से करता है, तव समानुभूतिक विम्वो की सृष्टि होती है। कई विचारको ने तो समानुभूति का यह अर्थ ही प्रतिपादित किया है कि इसमे द्रष्टा और दृश्य, विचारक और वस्तु अथवा आश्रय और आलम्वन भाव-घन होकर एक हो जाते है। अत. समानुभूतिक विम्वो मे हमे एक प्रकार का तादात्म्य-चित्रण मिलता है, किन्तु, ऐसा तादात्म्य-चित्रण जो सवेदनशील और इन्द्रियग्राह्य हो। साधारणतः मानवीकरण, 'पैथेटिक फैलेसी' एव 'इमोशनल ह्यूमैनाइजेशन' के अन्य प्रयास मूर्त्त और चित्रात्मक अप्रस्तुत योजना धारण करने पर समानुभूतिक विम्वो के ही अन्तर्गत आते हैं। जैसे—

> सामने शुक्र की छवि झलमल, तैरती परी सी जल मे कल,
> रुपहरे कचों में हो ओझल।[1]

---

१. आधुनिक कवि, सुमित्रानन्दन पन्त, हिन्दी साहित्य सम्मेलन प्रयाग, २०११, पृ० ५७।

यहाँ पुष्प की छवि का पत्नी के अप्रस्तुत से कुछ क्रिया-व्यापारों (जैसे—पैरना, प्रसन्न होना) के सहारे संवेगात्मक मानवीकरण (इमोशनल ह्यूमैनाइज़ेशन) किया गया है। किन्तु, ऐसे स्थलों की अपेक्षा समानुभूतिक बिम्ब वहाँ अधिक उत्कृष्ट बन पाते हैं, जहाँ निबद्ध चित्र में द्रष्टा और दृश्य का पारस्परिक विलयन अथवा तादात्म्य निरूपित रहता है। यों, संस्कृत काव्यशास्त्र के अनुसार अधिकांश समानुभूतिक बिम्ब रसाभास के अन्तर्गत आते हैं। मेरी दृष्टि में समानुभूतिक बिम्बों की एक ऐसी विशिष्टता निर्धारित होनी चाहिये, जिससे ये बिम्ब मानवीकरण, हेत्वाभास या रसाभास से कुछ पृथक् अपना व्यक्तित्व रख सकें। अतः समानुभूति की शरीरस्थ संचरणवाली विशेषता को यहाँ भी मान्यता मिलनी चाहिये। अर्थात् समानुभूतिक बिम्ब में मानवेतर प्रस्तुत पर मानवसदृश अंग-संचालन, अंग-संस्थानों के संकोच-विकोच, मांस-पेशियों की गति और तनाव तथा अन्य मानव-सदृश शारीरिक क्रिया-व्यापारों का आरोप रहता है। जैसे, इकबाल ने जहाँ हिमालय की अमेय ऊँचाई को चित्रात्मक अभिव्यक्ति देने के लिए यह लिखा है—

ए हिमाला, ए फसीले किश्वरे-हिन्दोस्ताँ !
चूमता है तेरी पेशानी को झुक कर आसमाँ !

यहाँ हम समानुभूतिक बिम्ब मानेंगे, क्योंकि इसमें 'पेशानी' 'चूमने' और 'झुकने' के माध्यम से मानववत् अंग-संचालन, तात्स्थानिक संकोच-विकोच और शारीरिक क्रिया-व्यापार का संकेत किया गया है। इसी तरह निराला ने भी 'राम की शक्तिपूजा' शीर्षक कविता में एक सफल समानुभूतिक बिम्ब प्रस्तुत किया है—

है अमानिशा, उगलता गगन घन अन्धकार,
खो रहा दिशा का ज्ञान, स्तब्ध है पवन चार,
अप्रतिहत गरज रहा पीछे, अम्बुधि विशाल,
भूधर ज्यों ध्यानमग्न; केवल जलती मशाल।[1]

उपर्युक्त उद्धरणों से स्पष्ट है कि समानुभूतिक बिम्ब एक ऐसी काल्पनिक प्रक्रिया से निष्पन्न होते हैं, जो निबद्ध प्रस्तुत में हमारे 'सदृश' शरीरस्थ संचरण से प्रारम्भ होती है, किन्तु, जिसकी परिसमाप्ति, प्रभाव की दृष्टि से, हमारे 'तनुकूल' मन प्रदेश के स्पन्दनों में होती है। इस तरह समानुभूतिक बिम्बों का कुछ न कुछ संबंध उस ऐन्द्रिय कल्पना से अनिवार्यरूपेण रहता है, जो हमारी मांसपेशियों, स्नायुतन्तुओं अथवा आंगिक प्रक्रियाओं से किसी न किसी रूप में सम्बद्ध रहती है।

1. अनामिका, सूर्यकान्त त्रिपाठी निराला, भारती भण्डार, इलाहाबाद, संवत् २००५, पृ० १५०।

इसी तरह बिम्बों के और भी भेद या प्रकार निर्धारित किये जा सकते हैं,[1] किन्तु, हमे यह स्वीकार करना पडता है कि अद्यावधि कला-विचारको न बिम्बो के प्रकार की कोई सुनिश्चित सारिणी निरूपित नही की है और न उनके विभाजन का कोई सर्ववादिसम्मत मानदण्ड निर्णीत किया है। बिम्बो के प्रकार-निर्धारण के नाम पर अधिकाश विचारक अब तक कुछ सुन्दर विशेषणो की सृष्टिमात्र करते रहे हैं।

हिन्दी आलोचको के बीच आचार्य शुक्ल ने बिम्बो के तात्त्विक विवेचन का कुछ शास्त्रीय प्रयास किया है। किन्तु, शुक्ल जी ने यह तात्त्विक विवेचन केवल काव्य को ही (सभी ललित कलाओ को नही) दृष्टि मे रखकर किया है। इनके अनुसार बिम्ब-विधान विभाग के अन्तर्गत होता है, कारण, इनका मत है कि बिम्ब-ग्रहण कराने के लिये चित्रण काव्य का प्रथम विधान है, जो विभाव मे दिखाई पडता है। तदनन्तर, इनकी दृष्टि मे बिम्ब-ग्रहण का अर्थ है काव्यनिबद्ध वस्तुओ का सूक्ष्म रूप-विवरण और आधार-आधेय की संश्लिष्ट योजना, क्योंकि काव्य मे प्रस्तुत प्रकृति-चित्रण के सन्दर्भ मे बिम्ब-ग्रहण पर विचार करते हुए इन्होने लिखा है कि बिम्ब-ग्रहण वही मिल पाता है, जहाँ चित्रण मे संश्लिष्ट रूप-योजना का निर्वाह किया जाता है। और, कवि इस प्रकार की संश्लिष्ट रूप-योजना से समन्वित चित्रण मे तभी प्रवृत्त होता है, जब वह बाह्य प्रकृति को आलम्बन रूप मे ग्रहण करता है, कारण, उद्दीपन रूप मे जो वस्तु-विधान होता है, उसमे कुछ इनी-गिनी वस्तुओ के उल्लेखमात्र से काम चल जाता है।[2] निष्कर्ष यह है कि शुक्ल जी आलम्बन के मार्मिक ग्रहण को ही बिम्ब-ग्रहण मानते हैं। इनका कहना है कि मन मे आलम्बनो का मार्मिक ग्रहण बिम्ब-ग्रहण के रूप मे होता है, केवल अर्थग्रहण के रूप मे नही।[3] साथ ही, सफल बिम्बग्रहण और बिम्बविधान के लिये इन्होने प्रकृति

---

१. द्रष्टव्य—पोयेटिक इमेजरी, हेनरी डब्ल्यू वेल्स, कोलम्बिया युनिवर्सिटी प्रेस, १९२४। इसी तरह दीप्ति और साफगोई के आधार पर 'द ह्यू मैनिटीज' के लेखकों ने बिम्बों के अनेक प्रकार निरूपित किए हैं। द्रष्टव्य—द ह्यू मैनिटीज, बाय लुई डड्ले एण्ड ऑस्टिन फैरिसी, मैकग्रो हिल, बुक कम्पनी, न्यूयार्क एण्ड लन्दन, १९४०।

१. चिन्तामणि, भाग २, द्वितीय आवृत्ति, पृष्ठ ५८।

२. बिम्बग्रहण और अर्थग्रहण के भेद को प्रतिपादित करते हुए आचार्य शुक्ल ने लिखा है—"अभिधा द्वारा ग्रहण दो प्रकार का होता है—बिम्बग्रहण और अर्थग्रहण। किसी ने कहा 'कमल'। अब इस 'कमल' पद का ग्रहण कोई इस प्रकार भी कर सकता है कि ललाई लिए हुए सफेद पखुडियों और नाल आदि के सहित एक फूल का चित्र अन्तःकरण में थोडी देर के लिए उपस्थित हो जाय; और इस प्रकार भी कर सकता है कि कोई चित्र उपस्थित न हो, केवल पद का अर्थमात्र समझकर काम चलाया जाय। व्यवहार में तथा शास्त्रों में इसी दूसरे प्रकार के संकेत-ग्रह से काम चलता है। वहाँ एक-एक पद के वाच्यार्थ के रूप पर

के नानारूप और व्यापारों का कलाकार के द्वारा निकट से पर्यवेक्षण अनिवार्य माना है क्योंकि इनकी दृष्टि मे "शब्द-काव्य की सिद्धि के लिये वस्तु-काव्य का अनुशीलन परम आवश्यक है।"[1] तदनन्तर, उनकी यह मान्यता है कि 'बिम्ब' जब होगा, तब 'विशेष' या 'व्यक्ति' का ही होगा, 'सामान्य' या 'जाति' का नही, क्योंकि काव्य (अथवा अन्य कलाओ) का काम बुद्धि के सामने कोई विचार (कन्सेप्ट) लाना नही, बल्कि किसी मूर्त्त भावना को उपस्थित करना है। इसलिये कल्पना बिम्ब के द्वारा जो कुछ उपस्थित करती है, वह सदा 'व्यक्ति' या 'विशेष' ही होता है, कारण 'सामान्य' या 'जाति' की तो मूर्त्त-भावना हो ही नही सकता।[2] प्रस्तुत रूप-विधान के अन्तर्गत बिम्बो पर लिखते समय शुक्ल जी ने बिम्बवादी आन्दोलन की भी चर्चा की है[3] और इस आन्दोलन की मूर्त्तत्तावाली धारणा को स्वीकार करते हुये कहा है कि " काव्य चित्र-विद्या और सगीत दोनो की पद्धतियो का कुछ-कुछ अनुसरण करता है। विभाव और अनुभाव दोनो मे रूप-विधान होता है जिसका उसी प्रकार कल्पना द्वारा स्पष्ट ग्रहण वाछित होता है, जिस प्रकार नेत्र द्वारा चित्र का। अत मूर्त्तभावना की आवश्यकता सबको स्वीकार करनी पडेगी।"[4] इतना ही नही, शुक्ल जी का स्पष्ट मत है कि 'काव्य मे बिम्ब-स्थापना प्रधान वस्तु है।' इस तरह केवल काव्य की दृष्टि से बिम्बो पर विचार करने के कारण शुक्ल जी

अपने जानने की फुरसत नहीं रहती। पर काव्य के दृश्य-चित्रण में संकेत-ग्राह्य पहले प्रकार का होता है। उसमें कवि का लक्ष्य 'बिम्बग्रहण' कराने का रहता है, केवल 'अर्थग्रहण' कराने का नहीं। वस्तुओं के रूप और आसपास की परिस्थिति का ब्यौरा जितना स्पष्ट या स्फुट होगा उतना ही पूर्ण बिम्बग्रहण होगा और उतना ही अच्छा दृश्य-चित्रण कहा जायगा।" —वही, पृष्ठ १०२।

१. रस-मीमांसा, पृष्ठ ३०४।

२. वही, पृष्ठ, ३१०-३११।

३. "मूर्तिमत्तावाद (इमेजिज्म) के प्रवर्तक फिन्ट (एफ० एस० फ्लिन्ट) थे, जिनकी '[illegible]' नामक पुस्तक सन् १९०९ में प्रकाशित हुई थी। इस सम्प्रदाय में हॉलटम और [illegible] भी थे, यद्यपि [illegible] धीरे-धीरे इससे बाहर निकल आए। इन लोगों का सिद्धान्त था मूर्त रूप में ही विषय को रखना, अतः ये छोटी-छोटी कविताएँ ही ठीक [illegible], जिनका [illegible] में [illegible] था। बड़ी और लम्बी कविताओं [illegible] थे। अपने सिद्धान्त के अनुसार ये [illegible] (कंक्रीट) शब्द ही [illegible] (एब्स्ट्रैक्ट) शब्दों को दूर रखने की [illegible] थे। [illegible] मूर्तिमत्ता वाले शब्द कल्पना में स्पष्ट और स्थायी रूप-विधान [illegible] हैं और [illegible] भी होते हैं। वर्णनात्मक और [illegible] [illegible] है। इस सिद्धान्त में [illegible] आधार है, पर [illegible]।"—रस-मीमांसा, पृ० ३०५।

४. वही, पृ०, ३०२।

ने भाषा-पक्ष का भूमिका मे भी बिम्बो पर सोचा है। इनके अनुसार "भाषा के दो पक्ष होते हैं·· एक साकेतिक (सिम्बॉलिक) और दूसरा बिम्बाधायक (प्रजेण्टेटिव)। एक मे तो नियत सकेत द्वारा अर्थबोध मात्र हो जाता है, दूसरे मे वस्तु का बिम्ब या चित्र अन्त करण मे उपस्थित होता है। वर्णनो मे सच्चे कवि द्वितीय पक्ष का अवलम्बन करते हैं। वे वर्णन इस ढग पर करते हैं कि बिम्ब-ग्रहण हो।"[३] कुल मिलाकर शुक्ल जी के मत का साराश यह है कि श्रेष्ठ कविता के लिये भाषा के बिम्बाधायक पक्ष का उपयोग अनिवार्य होता है। काव्य की दृष्टि से बिम्बो की इस तात्त्विक विवेचना के बाद शुक्ल जी ने बिम्ब-विधान के प्रकार-निर्धारण की भी चेष्टा की है। इन्होने इसके तीन प्रकार माने है · प्रत्यक्ष रूपविधान, स्मृत रूपविधान और कल्पित रूपविधान। प्रत्यक्ष रूपविधान मे तात्कालिक ऐन्द्रिय अनुभव की प्रधानता रहती है। स्मृत रूपविधान मे स्मृति के सहारे नूतन वस्तुव्यापार-विधान प्रस्तुत किया जाता है। किन्तु, इस नूतन वस्तु-व्यापार-विधान का क्रम स्मृति से अनुशासित नही रहता है। जब वस्तु-व्यापार-विधान स्मृति से अनुशासित रहकर अतीत का यथाक्रम अनुवर्धन करता है, तब उसे स्मृत रूपविधान कहते है। यहाँ यह स्मरण-योग्य है कि शेष दो रूपविधान प्रत्यक्ष रूप-विधान पर ही, कुछ न कुछ अशो मे, आश्रित रहते हैं। यो, शुक्ल जी ने केवल कल्पित रूप-विधान को ही विशुद्ध कल्पना का क्षेत्र माना है और इसी के अन्तर्गत काव्य के सम्पूर्ण रूप-विधान को स्वीकार किया है।

निष्कर्ष यह है कि हिन्दी आलोचना मे अब तक बिम्बो का तात्त्विक विवेचन, वाछित मात्रा मे नही हो सका है। और, जो विवेचन हुआ है, वह केवल काव्य को दृष्टि मे रखकर, जबकि सौन्दर्यशास्त्र की दृष्टि से काव्येतर ललित कलाओ को भी ध्यान मे रखना आवश्यक है। समग्र ललित कलाओ की दृष्टि से बिम्बो का प्रकार-निर्धारण ज्ञानेन्द्रियो अथवा ऐन्द्रिय प्रतीतियो के ही आधार पर होना चाहिये। अत प्रस्तुत प्रबन्ध के द्वितीय खण्ड (छायावाद का कला-सौष्ठव) के चतुर्थ अध्याय मे इसी आधार को प्रधानता दी जायगी, किन्तु, छायावादी कविता को विशेप सन्दर्भ मे रखने के कारण बिम्बो के उन उपर्युक्त प्रकारो को भी विश्लेषित और उदाहृत किया जायगा, जो अन्य ललित कलाओ को छोडकर मुख्यत काव्य की ही दृष्टि से निरूपित किये गये है, क्योंकि ऐसा करने पर ही बिम्वविधान का सर्वांगीण विवेचन संभव हो सकेगा।

इस अध्याय मे उपस्थित किये गये उपर्युक्त विचारो का साराश इस प्रकार प्रस्तुत किया जा सकता है —

---

३. वही, पृष्ठ ३५८।

(१) काव्य एवं तत्सम्बन्धित ललित कला के प्रमुख तत्त्वों में बिम्ब विधान का सर्वाधिक महत्त्व है, क्योंकि कवि की सूक्ष्म भावनाओं या अमूर्त सहजानुभूतियों को बिम्बों के द्वारा ही मूर्त्तता अथवा अभिव्यक्ति की चारुता मिल पाती है।

(२) बिम्बों का आविर्भाव कल्पना से होता है और कभी कभी प्रतीकों का आविर्भाव बिम्बों से। जब कल्पना मूर्त्त रूप धारण करती है, तब बिम्बों की सृष्टि होती है और जब बिम्ब प्रतिमित या व्युत्पन्न अथवा प्रयोग के पौनःपुन्य से किसी निश्चित अर्थ में निर्धारित हो जाते हैं, तब वे प्रतीकों का रूप ग्रहण कर लेते हैं।

(३) बिम्बों का विचार-चित्र, उपमा और रूपक से पृथक् एक स्वतन्त्र अस्तित्व है।

(४) बिम्ब-विधान में मूर्त्तता, सादृश्य और ऐन्द्रिय बोध की अनिवार्य उपस्थिति रहती है। जो बिम्ब जितना ही ऐन्द्रिय रहता है, वह उतना ही सशक्त होता है।

(५) उत्कृष्ट बिम्ब कवि या कलाकार के घनीभूत संवेगों से संश्लिष्ट रहता है, क्योंकि जो बिम्ब स्रष्टा की चित्तानुकूलता से आश्लिष्ट नहीं हो पाता, वह चित्रात्मक होने पर भी जीर्ण बिम्बों की तरह अरसनीय सिद्ध होता है।

(६) बिम्ब-विधान के समय कल्पना बहुत कार्यरत रहती है। पहले कल्पना स्मृति के क्रोड में सोये हुये बिम्बों को प्रत्यक्षोपलब्ध अनुभूतियों के स्पर्श से जगाती है और तब उन बिम्बों को अभीप्सित शिल्प के साँचे में ढालती है। अतः बिम्ब एक प्रकार का स्मरण-निर्भर मानसिक पुनर्निर्माण है।

(७) बिम्बों के सृजन तथा भावन पर व्यक्ति-भेद, अतः, रुचि-भेद का प्रभाव पड़ता है।

(८) सांस्कृतिक अवचेतन से सम्बद्ध बिम्ब सौन्दर्यशास्त्र की दृष्टि से अधिक महत्त्वपूर्ण होते हैं, क्योंकि इनमें आशुप्राप्यता का गुण रहता है।

(९) वस्तु-विशेष के प्रति ऐन्द्रिय आकर्षण कलाकार को बिम्ब-विधान की ओर प्रेरित करता है। यद्यपि बिम्ब-विधान के समय कलाकार के समक्ष केवल वस्तु-बोध ही नहीं रहता, बल्कि विभिन्न प्रकार के आसंगों, संवेगों अथवा प्रभावों का सातत्य भी रहता है। इस तरह कला-जगत् के बिम्ब इन्द्रिय-वर्तियों में आई हुई वस्तुमात्र को नहीं, वरन् उनके विशेष और विविध भाव सत्त्वों को भी मूर्तिमान करते हैं।

(१०) सभी बिम्बों में, प्रायः, ये तीन गुण विद्यमान रहते हैं: ताजगी, तीव्रता और उद्दीपनशीलता।

(११) बिम्ब विधायकों ने छन्द रहित [illegible]

की दृष्टि से बिम्बो का विवेचन किया है, उन्होने बिम्ब को मात्र शब्दाश्रित माना है। किन्तु, बिम्बों को केवल शब्दाश्रित मान लेने से काव्येतर ललित कलाओ का पक्ष छूट जाता है। अतः समग्र ललित कलाओ की दृष्टि से बिम्बो को सौन्दर्य-बोध पर आश्रित मानना अधिक समीचीन है और बिम्बो का वर्गीकरण या विभाजन इन्द्रिय-बोध के आधार पर करना अधिक युक्तिसंगत है।

प्रतीक

प्रतीक

प्रतीक और प्रतीकवाद पर सौन्दर्यशास्त्रीय दृष्टिकोण के अलावे दार्शनिक, मनोवैज्ञानिक, समाजशास्त्रीय आदि विभिन्न दृष्टियो से विचार किया गया है। प्रतीकवाद पर दार्शनिक दृष्टि से विचार करने वालो मे ए० एन० ह्वाइटहेड, एर्नस्ट कासिरेर[1] प्रभृति का विशिष्ट स्थान है।[2] ह्वाइटहेड ने प्रतीक के उस व्यापक अर्थ की चर्चा की है, जिसके अन्तर्गत शब्द, मुद्रा, भाषा एव सम्पूर्ण वाङ्मय प्रतीक के क्षेत्र मे पडते हैं। इस व्यापकता का कारण, ह्वाइटहेड के अनुसार, यह है कि प्रतीको का उस बोध प्रत्यक्ष (सैन्स-पर्सेप्शन) से घनिष्ठ संबध है, जो सभी प्रकार के आनुभविक ज्ञान के मूल मे प्रतिष्ठित है। किन्तु प्रतीकात्मक प्रेषण और आनुभविक ज्ञान मे एक ध्यातव्य अन्तर है। आनुभविक ज्ञान प्रत्यक्षो और अनुभूतियो पर निर्भर रहने के कारण, ऋजुता से प्राप्त होने के कारण औसत स्तर के सभी व्यक्तियो के लिए सर्वदा ग्राह्य होता है। अर्थात्, जब जैसी अनुभूति होगी, जैसा प्रत्यक्ष होगा, तब तदनुरूप ही आनुभविक ज्ञान

---

१. एर्नस्ट कासिरेर ने बहुत ही व्यापक और विद्वत्तापूर्ण ढग से प्रतीकों का दार्शनिक विवेचन किया है। कासिरेर के बाद आने वाले आधुनिक युग के विचारक इनकी मान्यताओं से बहुत प्रभावित दीख पडते है और कासिरेर स्वय प्रतीक सबधी अपनी मान्यताओं को प्रस्तुत करने में काण्ट-दर्शन के 'schema' से बहुत प्रभावित ह। इनके अनुसार 'schema' विभावन (concept) और सहज-ज्ञान (intuition) का समीकरण है। काकसिरेरी प्रतीक-विधान सबधी धारणा उनके 'स्केमा'-सिद्धान्त का ही विवर्द्धन है, यद्यपि कहीं-कहीं कासिरेर ने काण्ट की कुछ मान्यताओं का आशिक विरोध भी किया है। जैसे, काट का मत है कि मानव-बुद्धि के लिए बिम्बों की निरन्तर अनिवार्यता है, जब कि कासिरेर के मत मे मानव-बुद्धि के लिए प्रतीकों की निरन्तर अनिवार्यता है। कुछ विचारकों का कहना है कि ऐसे स्थलों पर कासिरेर 'एडवान्स्ड गॉडर्न मैथेमेटिक्स' से प्रभावित हैं, जिसका गभीर अध्ययन उन्होंने प्रारम्भिक जीवन में किया था। तदनन्तर, कासिरेर के अनुसार बिम्ब और प्रतीक में एक निश्चित पार्थक्य रहता है और ये दोनों मानव-ज्ञान के लिए अत्यावश्यक हैं। इन दोनों में प्रमुख पार्थक्य यह है कि बिम्ब स्वत. सम्भवी होते हैं जबकि प्रतीकों का निर्माण करना पडता है। किन्तु, कासिरेर यह स्वीकार करते हैं कि बिम्बों से ही प्रतीक का निर्माण किया जाता है और इस निर्माण में बुद्धि कर्त्ता के पद पर रहती है। इस प्रकार कासिरेर ने भी प्रतीक-विधान में बुद्धि और ऐन्द्रियता (बिम्ब का प्रमुख धर्म) के उस समागम को स्वीकार किया है, जो काण्ट के 'स्केमा' विवेचन का प्रस्थान-बिन्दु है।— *Ernst Cassirer*, The Philosophy of Symbolic Forms, translated by Ralph Manheim, New Haven, London, 1953, Page 69

२. *A N Whitehead*, Symbolism Its Meaning and Effect, University Press, Cambridge, 1928.

होगा। किन्तु, ध्वन्यात्मक प्रेषण के साथ ऐसी बात नहीं है। प्रतीकों के द्वारा प्रेषित अर्थ को भिन्न-भिन्न गृहीता अपनी सूझ-बूझ, शक्ति, दीक्षा और योग्यता के अनुसार अलग-अलग ढंग से और विविध मात्रा में समझते हैं। अत अनेक बार गृहीता प्रतीक को उस अर्थ में ग्रहण कर लेता है, जो प्रयोक्ता को अभिप्रेत नहीं था। सम्भवत ऐसी भ्रान्तियों से बचने के लिये ही प्रतीकों के विमर्श में 'प्रतीक-सन्दर्भ'[1] को बहुत महत्त्व दिया जाता है। ह्वाइटहेड ने 'प्रतीक-सन्दर्भ' की तीन स्थितियाँ स्वीकार की हैं। पहली स्थिति में यह विचारणीय है कि आश्रय और आलम्बन के बीच कैसा सबंध है, क्योंकि स्थिति-भेद में इस सबंध मे परिवर्तन सभव है। दूसरी स्थिति में द्रष्टा या प्रयोक्ता की मनोदशा को ध्यान में रखना आवश्यक है, क्योंकि इसका अपरिहार्य प्रभाव प्रतीक की अर्थवत्ता पर पड़ता है। और, तीसरी स्थिति में यह विचारणीय है कि आश्रय या प्रयोक्ता की अनुभूति-दशा के किस अंश से प्रतीक की रचना हुई है और उसके किस अंश ने उस प्रतीक में अभिप्रेत अर्थ का आधान किया है। प्रतीक-सन्दर्भ की इन स्थितियों पर विचार करने के बाद ही किसी प्रतीक का उचित अर्थ-निर्णय हो सकता है।[2] कुल मिलाकर ह्वाइटहेड ने सृष्टि की सम्पूर्ण 'अभिव्यक्ति' को प्रतीक की अन्तर्गत क्रिया मानकर यह सिद्ध किया है कि मानव-जीवन और जगत् स्वभावत प्रतीकों से परिपूर्ण हैं।[3]

प्रतीक पर दार्शनिक दृष्टि से विचार करने वालों में लैंगर का भी महत्त्वपूर्ण स्थान है। लैंगर ने प्रतीक-सृष्टि में चार पक्षों को अनिवार्य माना है—आश्रय, आलम्बन, वस्तु और धारणा। वस्तु और धारणा प्रतीक के तात्त्विक उपादान हैं तथा आश्रय और आलम्बन प्रतीक के भावन-पक्ष से सबंधित हैं। इन चार पक्षों में लैंगर ने 'धारणा' को बहुत महत्त्व दिया है। इनके अनुसार प्रतीक, वस्तुत, धारणाओं के वातायन हुआ करते हैं। इस तथ्य को दृष्टिगत रखते हुए लैंगर ने दो महत्त्वपूर्ण बातें कही हैं, जिन्हें उन्हीं के शब्दों में उपस्थित करना उचित समीचीन होगा —१ "सिम्बल्स आर नाट प्रॉक्सी फॉर देयर ऑब्जेक्ट्स, बट आर वेहिकल्स फॉर द कन्सेप्शन ऑव ऑब्जेक्ट्स।"

---

[1] प्रतीक-शास्त्र में या प्रतीकों के अर्थग्रहण में प्रतीकों की सन्दर्भ-भूमि अथवा प्रसंग-परिवेश को विशेष और व्यापक रूप से बड़ा महत्त्व दिया है। वस्तुत, प्रतीकों की अर्थवत्ता सन्दर्भ-भूमि या प्रसंग-परिवेश पर निर्भर करती है। द्रष्टव्य—The Meaning of Meaning by *C K Ogden* and *I A Richards*, London, 1956, Page, 209

[2] *A N Whitehead*, Symbolism, Its Meaning and Effect, Cambridge, 1928, Page 15

[3] *A N Whitehead*, Symbolism Its Meaning and Effect, Page 73.

२ "इट इज द कन्सेप्शन, नाट द थिंग्स, दैट सिम्बल्स डाइरेक्टली 'मीन'" । इस प्रकार लैंगर की दृष्टि से हम प्रतीको को 'कन्सेप्चुअल साइन'[१] कह सकते हैं। तदनन्तर, लैंगर की दूसरी मान्यता यह है कि प्रतीक-सृजन मे मनुष्य का मस्तिष्क केवल 'ट्रान्समीटर' का ही काम नही करता, बल्कि वह एक महान् 'ट्रान्स-फार्मर का भी काम करता है। मस्तिष्क की इस क्रियमाणता के कारण हम प्रतीक-सृजन को बुद्धि का व्यापार भी कह सकते हैं। लैंगर की तीसरी मान्यता यह है कि अपनी अनुभूतियो को प्रतीको मे बाँधना मनुष्य का स्वभाव है। इन्होंने मनुष्य की इस स्वाभाविक प्रवृत्ति को 'सिम्बॉलिक ट्रान्सफार्मेशन' कहा है, जो एक प्रकार की प्रत्यर्थता (लैंगर के शब्दो मे 'हाइयर नर्वस रेस्पॉन्स') है। इनकी उक्त मान्यताओ का निष्कर्ष यह है कि प्रतीक-सृष्टि मनुष्य की चिन्तन-प्रणाली और क्रिया का एक आवश्यक अंग है।[२] अन्य प्राणियो की तुलना मे मनुष्य की कुछ श्रेष्ठ पृथकताओ अर्थात् विशिष्ट गुणो के बीच प्रतीक-सृजन की क्षमता प्रमुख है। इसीलिए एर्न्स्ट कासिरेर ने मनुष्य को 'animal rationale' की अपेक्षा 'animal symbolicum' कहना अधिक उचित समझा है।[३] इस तरह प्रतीक-सृष्टि मनुष्य की अनिवार्य विशिष्टता है, क्योंकि मानव-मन, प्रायः अपनी अनुभूतियो को प्रतीको मे अनूदित करता रहता है।

इस दार्शनिक निरूपण की तरह ही कुछ विद्वानो ने प्रतीको पर समाज-शास्त्रीय दृष्टि से भी विचार करने का प्रयास किया है। इस श्रेणी के विचारको मे जॉन० एफ० मर्क का विशिष्ट स्थान है। मर्क के अनुसार अब तक प्रतीको पर जितने दार्शनिक, मनोवैज्ञानिक अथवा सौन्दर्यशास्त्रीय अध्ययन किये गये हैं, वे सभी अपूर्ण है, क्योकि प्रतीको का अध्ययन तभी सन्तोषजनक हो सकता है, जब उन पर समाजशास्त्रीय दृष्टिकोण से विचार किया जाय।

---

१. हीगेल ने भी 'साइन' के साथ प्रतीक का घनिष्ठ संबंध माना है। इनकी दृष्टि में प्रत्येक प्रतीक पहले एक प्रकार का 'साइन' होता है। उदाहरणार्थ, किसी राष्ट्र या संस्था की ध्वजा में प्रयुक्त रंग को हम इसी प्रकार का 'साइन' कह सकते हैं। कभी-कभी अपने आन्तरिक गुणों के कारण भी कोई 'साइन' विकसित होकर किसी निश्चित भाव का प्रतीक बन जाता है। जैसे, अपने आन्तरिक गुणों के कारण ही सिंह और सियार, क्रमशः, शक्ति तथा छल के प्रतीक बन गए हैं। इस तरह प्रतीकों 'साइन' का विकसित रूप मान लेने के कारण हीगेल ने कई स्थलों पर प्रतीक को 'emblematical conception' कहा है।—*Hegel*, The Philosophy of Fine Art, translated by Osmaston, Volume II, London, 1920, Page 22.

२. *Susanne K. Langer*, Philosophy in a New Key, Page 32.

३. Symbolism and American Literature, *Charles Feidelson*, Phoenix Books, 1962, Page 55.

इस पूर्वमान्यता को प्रस्तुत करने के बाद मर्के ने प्रतीक-प्रक्रिया के दो प्रकार स्थापित किये हैं। एक प्रकार वह है, जिसमें प्रतीक सन्दर्भित चेतना जगाकर हमारे मनोवेगों के लिये उद्दीपन का काम करता है और दूसरा प्रकार वह है, जिसमें प्रतीक निर्वैयक्तिक होकर प्राविधिक कामों में प्रयुक्त होता है।[1] इन दोनों प्रक्रियाओं से उत्पन्न प्रतीक, समाज-शास्त्रीय दृष्टिकोण के विचारकों के अनुसार, सभ्यता और संस्कृति की अनेकरूपता तथा संकुलता के परिचायक हुआ करते हैं। विशेषकर कला के प्रतीक, जो वैज्ञानिक प्रतीकों की तरह निर्देशक-स्वरूप नहीं होते बल्कि प्रयोक्ता और सहृदय के मनोरागों से रंजित रहते हैं, सांस्कृतिक और सामाजिक विकासों के भिन्न-भिन्न स्तरों का प्रतिनिधित्व करते हैं। विकसित स्तर के प्रतीकों में मानव-मनोवेगों को प्रकट करने का एक विशिष्ट अभिव्यक्ति-लाघव रहता है। समाजशास्त्रीय दृष्टि से मनुष्य के मौलिक और तीव्र मनोवेगों में भूख और काम मूर्धन्य महत्त्व रखते हैं। अतः हम कला के प्रतीकों पर भी इनका प्रचुर प्रभाव पाते हैं। इतना ही नहीं, भूख और काम से सम्बन्धित प्रतीक कला के क्षेत्र से बाहर मनुष्य के अन्य आहार-व्यवहार और रीति-रिवाजों पर भी हावी हैं। जैसे, धार्मिक अवसरों पर यौन प्रतीक की मिठाइयाँ और पकवान खाने की प्रथा सभी देशों में है। इस प्रकार हम देखते हैं कि समाजशास्त्रीय दृष्टि के अनुसार रूढ़ रीति-रिवाज से लेकर भाषा-सृष्टि तक में मनुष्य प्रतीकों का अनुगामी है। सारांश यह है कि समाज और संस्कृति के साथ प्रतीकों का निकटतम संबंध है। संस्कृति को विकास, परिमार्जन और विस्तृति प्रदान करने वाली अपनी दो विशेषताओं—बोधगम्य प्रतीकों का निर्माण तथा शब्द-शक्ति द्वारा इन प्रतीकों का प्रसार—के कारण ही मनुष्य अन्य जीवधारियों की तुलना में श्रेष्ठ है। इस तरह गणित से लेकर काव्य और धर्म-पूजा तक के विभिन्न सांस्कृतिक क्षेत्रों में यदि मनुष्य के पास प्रतीक-सृजन और उनके अर्थग्रहण की शक्ति नहीं रहती, तो आज मानव-संस्कृति अविकसित ही रह गई होती। अतः संस्कृति की इस हेतुभूत निकटता ने भी प्रतीकों को व्यापक क्षेत्र प्रदान किया है।[2] किन्तु, हम यहाँ प्रतीक के संबंध में निरूपित समाजशास्त्रीय दृष्टिकोणों पर अधिक विस्तार से विचार नहीं करेंगे, कारण कला-तत्त्व-विवेचन के प्रसंग में हमारे लिये उसका कोई विशेष उपयोग नहीं है।

प्रतीकों पर मनोवैज्ञानिक दृष्टि से बहुत विस्तृत विचार किया गया है। और, तब से मनोविश्लेषण के सिद्धान्तों के आधार पर कला की आलोचना

---

१. *John F Markey*, The Symbolic Process London, 1928, Page 155.

२. श्यामाचरण दुबे, मानव और संस्कृति, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, १९६०, पृ० ७५।

का प्रचार हुआ है, तब से प्रतीकों का मनोवैज्ञानिक निरूपण कला-जगत् मे भीआशिक दृष्टि से उपयोगी बन गया है। अत प्रतीको के मनोवैज्ञानिक निरूपण पर प्रसगानुसार विचार कर लेना हमारे लिये आवश्यक है। प्रतीको का मनोवैज्ञानिक निरूपण करने वाले विचारको मे फ्रायड, एड्लर, युंग, अर्नेस्ट जोन्स, मिलर, सिल्वरर, पद्मा अग्रवाल[1] इत्यादि प्रमुख हैं। इन मनोवैज्ञानिको ने भी चिह्न, प्रतीक और रूपक के अर्थ-भेद को ध्यान मे रखा है। सादृश्य-व्यजक सक्षिप्त कथन मे प्राय: 'चिह्न' का प्रयोग होता है। जहाँ अपेक्षाकृत कम परिचित अप्रस्तुत से प्रस्तुत की व्यजना होती है, वहाँ प्रतीक का अवतरण होता है और जहाँ अप्रस्तुत मे प्रस्तुत का ऐच्छिक आरोप या रूपान्तरण रहता है, वहाँ रूपक की सृष्टि होती है। यहाँ यह ध्यातव्य है कि सामान्य व्यवहार मे आने वाले प्रतीक, कला के प्रतीक, और मनोविज्ञान के प्रतीक मे पर्याप्त अन्तर है। मनोविज्ञान, विशेषकर, मनोविश्लेषण के अनुसार प्रतीको की यह एक अनिवार्य विशिष्टता है कि वे अचेतन मन की दमित इच्छाओ की छद्म अभिव्यक्ति करते हैं और स्वभावत शृगारमूलक होते हैं। अर्नेस्ट जोन्स ने भी 'पेपर्स ऑन साइकोएनालिसिस' मे प्रतीको की इस विशिष्टता पर बहुत बल दिया है।[2] यदि हम प्रमुख मनोवैज्ञानिको की मान्यताओ पर समवेत दृष्टि से विचार करें, तो कुल मिलाकर मनोविज्ञान की दृष्टि से प्रतीको की ये मुख्य विशेषतायें सामने आती हैं —

१. प्रतीक अवचेतन मन मे पडी हुई इच्छाओ, कुठाओ और दमित वासनाओ की छद्म अभिव्यक्ति करते हैं।

२. प्रतीको की इस छद्म अभिव्यक्ति मे व्यर्थ, बिखरी हुई और अनर्गल बातें हो नही रहती, बल्कि उनका विश्लेषण करने पर निश्चित धारणाओ और निश्चित विचारो का पता चलता है।

३. प्रतीक घुणाक्षर न्याय से अथवा जैसे-तैसे नही बन जाते, बल्कि मनुष्य की वैयक्तिक परिस्थितियो से अनिवार्य सबध रखते हैं।

४. प्रतीक कभी भी आसगमुक्त नही होते और सदा विभिन्न प्रकार के आसगो तथा सवेग-सन्दर्भ से सश्लिष्ट रहते हैं।

५. उपर्युक्त विशेषताओ के कारण ही सभी देशों और जातियो की

---

१. *Dr. Padma Agrawal*, Symbolism . A Psychological Study, Banaras Hindu University, 1955,

२. प्रतीक-विधान में जोन्स के अनुसार तीन प्रकार के मानसिक तत्त्व रहते हैं :—क. अचेतन ग्रन्थियाँ, ख. अचेतन मन की इच्छाओं को दमित करने वाले वाह्य प्रभाव, अवरोध या अधीक्षण और ग. व्यक्ति की उन्मेषपूर्ण प्रवृत्तियाँ।

स्वप्न मे अभिव्यक्त दमित वासनाओ को 'सेल्फ' का आनुरूप्य देना भी उसी प्राक्-चेतन का काम है, जिसका कार्यक्षेत्र चेतन और अवचेतन के मध्य मे अवस्थित है। इस प्रकार मूल वासना, अधीक्षण का भय और कुंठा—इन सबो के मिल जाने से छद्मवेषी स्वप्नो के प्रतीक बहुत ही अर्थ-गूढ हो जाते है।[1] अत. इन प्रतीको का गूढ अर्थ विस्थापन, घनीभवन इत्यादि की व्याख्या के द्वारा ही समझा जा सकता है। सामान्यत विस्थापन आरोप-प्रधान होता है। इसमे अनुभूति के मूल आलम्बन पर किसी अधीक्षक (सेन्सर)—स्वीकृत अर्थात् समाज-नीति-स्वीकृत आलम्बन का आरोप कर दिया जाता है। उदाहरण के लिये, कोई पुरुष सपने मे राधा की पूजा करके अथवा कोई स्त्री कृष्ण की पूजा करके अपनी दमित वासना को अभिव्यक्त कर सकती है। इस विस्थापन को हम प्रतीकान्तर्गत भावो का आलम्बन-विपर्यय कह सकते हैं। इसी प्रकार स्वप्न-प्रतीको के रहस्य की दूसरी कडी घनीभवन है। घनीभवन का मुख्य गुण संक्षिप्तता है। यहाँ यह भी ध्यातव्य है कि मूल स्वप्न की अपेक्षा स्मृत स्वप्नो के प्रतीक अधिक उलझे हुये होते है। इसीलिये फ्रायड ने स्मृत स्वप्नो को विकृत स्थानापन्न माना है। वास्तविकता भी इसी मान्यता के समीप है। कारण, स्वप्न अवचेतन की सम्पत्ति है, किन्तु, स्मृति के क्षणो मे उसे चेतन के क्षेत्र मे आना पडता है और अधीक्षण का भय पुन उपस्थित हो जाता है। फलस्वरूप, अवचेतन से चेतन तक सक्रमित होने मे स्मृत स्वप्न मूल स्वप्न की तुलना मे बहुत कुछ विकृत हो जाता है। अत काव्य एव अन्य कलाओ[2] मे मूलत ऐन्द्रिय और लौकिक स्वप्न-प्रतीको का स्मृत होने के कारण इन्द्रियातीत-सदृश बन जाना और अलौकिक-सी भासमान अनुभूतियो के कृत्रिम आलबाल से वेष्टित हो जाना स्वाभाविक एवं सरल है। फ्रायडीय मनोविश्लेषण की शब्दावली मे हम कह सकते हैं कि कला-निबद्ध स्वप्न-प्रतीको मे हमे व्यक्त स्वप्न-वस्तु मिलती है, किन्तु, उनके गुप्त स्वप्न-विचार को जानने के लिये हमे आसग-व्याख्या का सहारा लेना पडता है। इस प्रकार स्मृत स्वप्न-प्रतीको

---

१. *J A. Hadfield*, Dreams and Nightmares, Penguin Books, 1954, Page 136.

२. द्रष्टव्य—(a) *Sigmund Freud*, Leonardo Da Vinci, A Psychological study of an Infantile Reminiscence, translated by A. A. Brill, London, 1948. (b) *Erich Newmann*, Art and the Creative Unconscious, London, 1959, (c) *W. P. Wucutt*, Blake : A Psychological Study, London, 1946 (d) *Ella Freeman Sharpe*, Collected Papers on Psycho-Analysis, London, London, 1950.

की ऐन्द्रिय लौकिक अनुभूतियों को न पकड़ पाने का एक कारण यह है कि उनका निर्माण अधिकतर स्थानापन्न मनोबिम्बों के द्वारा होता है और स्थानापन्न मनोबिम्बों की यह विशेषता होती है कि वे अन्योक्ति अथवा समासोक्ति की तरह किसी दूरवर्ती अप्रस्तुत को सरलतापूर्वक संकेतित कर देते हैं। निष्कर्ष यह है कि फ्रायड के अनुसार प्रतीक मन के गोपित रहस्यों का वहन करते हैं और दमित इच्छाओं या कुण्ठाओं से उत्थित होने के कारण मूलतः शृंगारपरक होते हैं।[1]

जैसा ऊपर के विश्लेषण से स्पष्ट है, मनोवैज्ञानिकों का एक निकाय यह मानता है कि प्रतीक-विधान के द्वारा सृजनशील व्यक्ति अपने चेतन और अचेतन मन तथा विषय-प्रधान चित्त और विषयी-प्रधान चित्त के विरल संघर्षों में समझौता स्थापित करता है। अधिकतर, इस संघर्ष में अहम् (Ego) की विजय होती है और व्यक्ति की प्राथमिक इच्छायें दमित हो जाती हैं। कालक्रम में ये ही दमित इच्छायें प्रतीकों के माध्यम से व्यक्त होती हैं। यह प्रतीकात्मक अभिव्यक्ति एक प्रकार से आत्मसुरक्षात्मक प्रयास हैं। अपने बचाव का उपाय हैं और एक ऐसी क्षतिपूरक क्रिया हैं, जिसके द्वारा व्यक्ति अपनी दमित इच्छाओं को आंशिक सन्तोष देकर भी जीवन के आदर्शों से स्खलित नहीं हो पाता है।

कला और सौन्दर्यशास्त्र की दृष्टि से प्रतीक के संबंध में युग की मान्यतायें अन्य मनोवैज्ञानिकों की अपेक्षा अधिक महत्त्वपूर्ण हैं। युग ने प्रतीक-विवेचन में व्यक्ति के मन की दमित इच्छाओं के साथ मानव-मन के जातीय शीलविचार को भी महत्त्व दिया है। यह जातीय शील-विचार मानव-मन के उन-आदि भावों पर निर्भर रहता है, जो सामूहिक अचेतन के प्रतिरूप होते हैं। इस सामूहिक अचेतन[2] से उत्थित होनेवाले आद्यबिम्बों को युग ने 'आर्क टाइप'

---

१. यहाँ यह ध्यातव्य है कि स्वप्न-प्रतीक और कला अथवा साहित्य के प्रतीकों में पर्याप्त अन्तर रहता है। अतः उन्हें हम समतुल्य नहीं मान सकते। *W Y Tindall* ने भी इन दोनों प्रकार के प्रतीकों के पार्थक्य को बहुत स्पष्ट ढंग से उपस्थित किया है—
"However analogous to dream symbol the literary symbol is not dream but art or an element in a work of art Belonging as much to the external world as to the internal, the literary symbol, mediating between them, follows not only the demands of the unconscious but social and aesthetic necessity."
—*W Y Tindall*, The Literary Symbol, New York, 1955, Page 168

२. Collective unconscious—'inherited potentialities of human imagination'.

की व्याख्या दी है। यह 'आर्क टाइप'[1] जातीय विरासत के रूप मे प्रत्येक व्यक्ति के मन मे विद्यमान रहता है और जीवन की आवर्त्तक अनुभूतियो मे निर्मित होता है। किन्तु, युंग के आलोचको का यह आरोप है कि उनके द्वारा प्रस्तुत 'आर्क टाइप' का निरूपण मनोवैज्ञानिक से अधिक 'मेटाफिजिकल' हो गया है, क्योकि उन्होने इसके उद्गम को सुनिर्णीत और वस्तुपरक ढग से नही बतलाया है।

युंग के अनुसार मन के तीन खण्ड है—चेतन मन, व्यक्तिगत अचेतन मन और सामूहिक अचेतन मन। प्रतीको का सबंध अचेतन मन की दोनो अवस्थाओं—व्यक्तिगत अवचेतन मन और सामूहिक अचेतन मन—से है। किन्तु, अधिकाश प्रतीको का मूल सामूहिक अचेतन मन मे रहता है। मन के इस गहन खण्ड मे सुदीर्घ काल से चले आनेवाले परिवार, समूह तथा जाति से संबधित प्रभाव एव स्मृतियो के सग्रह रहते हैं, जो समय-समय पर चेतन मन की ओर अग्रसर होते रहते है। अचेतन से चेतन की ओर होने वाले इसी अग्रसरण मे प्रतीको की सृष्टि होती है। युंग ने 'कन्ट्रिब्यूशन्स टु एनलिटिकल साइकालॉजी' नामक पुस्तक के 'ऑन साइकिकल एनर्जी' शीर्षक अध्याय[2] मे प्रतीको पर अपने मौलिक विचार प्रस्तुत किये हैं। इन्होने भी एक विशेष प्रकार के प्रतीको को 'लिबिडो' से सबधित माना है। ऐसे प्रतीक 'लिबिडो' के अतिरेक से पैदा होते हैं[3]। तदनन्तर, युंग ने प्रतीक-सृजन को एक सास्कृतिक प्रयास माना है। अर्थात्, प्रतीक 'लिबिडो' का प्राकृतिक प्रवाह नही, सास्कृतिक क्रियान्तरण है। जब मनुष्य 'लिबिडो' की स्वाभाविक गति और क्रिया को रोककर उसे किसी सास्कृतिक प्रयास मे सलग्न कर देता है, तब प्रतीको की सृष्टि होती है। युंग की दूसरी स्थापना यह है कि प्रतीक-सृष्टि कभी भी 'सुविचारित रमणीय' नही हुआ करती है।[4] अर्थात् मनुष्य जानबूझकर या सचेष्ट होकर प्रतीको की सृष्टि नही करता है। मनुष्य का अचेतन ही आदि-

१. Pre-existent forms of apprehension.

२. *C G Jung*, Contributions to Analytical Psychology, London, 1928.

३. "Symbols are the manifestations and expression of the excess libido" Ibid

४. "After a period of gestation in the unconscious a symbol is produced which can attract the libido, and also serve as a channel diverting its natural flow. The symbol is never thought out consciously, but comes usually as a revelation or intuition, often appearing in a dream."—*Frieda Fordham*, An Introduction to Jung's Psychology, Penguin Books, 1956, Page 19.

काल से 'लिबिडो' का रूपान्तरण प्रतीकों में करता आ रहा है, जो एक प्रकार का 'ट्रान्सेण्डेण्ट फंक्शन' है। इसीलिये युग ने प्रतीक को 'लिबिडो एनालोग' कहा है और कुछ विशेष प्रकार के प्रतीकों का सहजज्ञान से भी सबंध माना है। युग की तीसरी मान्यता यह है कि सभ्यता की प्रगति के साथ वैयक्तिक प्रतीकों (individual symbols) को बलात् दबाने की प्रवृत्ति बढ़ती जा रही है। यह दूसरी बात है कि व्यापक सामाजिक पैमाने पर पुनः व्यक्तिवाद के अभ्युदय से भविष्य में वैयक्तिक प्रतीकों के नवीकरण और नवजागरण का प्रारम्भ हो जाय। अतः हम सुसंस्कृत काल की कलाओं में अनिर्वैयक्तिक प्रतीकों की जगह समाज-स्वीकृत प्रतीकों का प्रयोग पाते हैं।[1]

आद्य-बिम्ब और सामूहिक अचेतन के जो भाव सामान्य व्यवहार की तर्कपूर्ण भाषा या अभिव्यक्ति की स्वीकृत पद्धति में नहीं व्यक्त हो पाते हैं, वे प्रतीकों के माध्यम से ललित कहानियों, निजन्धरी कथाओं, पौराणिक आख्यानों, स्वप्नों और ललित कलाओं में अभिव्यक्त होते हैं। यदि आद्य बिम्ब और सामूहिक अचेतन के भाव सामान्य व्यवहार की भाषा और प्रचलित अभिव्यक्ति-पद्धति में ही व्यक्त हो जाते, तो कला-सृष्टि का कोई सांस्कृतिक प्रयोजन ही शेष नहीं रहता, क्योंकि कलाओं के माध्यम से हम उन्हीं भावों को व्यक्त करते हैं, जिनकी अभिव्यक्ति अन्यथा संभव नहीं है। और, यदि उनकी अन्यथा अभिव्यक्ति की भी जाय, तो वह प्रभविष्णु नहीं होगी। अतः ऐसे आद्य बिम्ब और सामूहिक अचेतन के भाव सामान्य अभिव्यक्ति-पद्धति की सीमाओं को पारकर उन प्रतीकों के रूप में व्यक्त होते हैं, जिनके लिये दृश्य और श्रव्य कलायें सर्वोत्तम अधिकरण बन सकती हैं।

फ्रायड और युग जैसे प्रतिनिधि विचारकों के अलावे कई अन्य (या गौण) मनोवैज्ञानिकों ने भी प्रतीकवाद पर विचार किया है। सामान्यतः मनोवैज्ञानिक यह मानते हैं कि प्रतीक-निर्माण और प्रतीक की व्याख्या—दोनों में वैयक्तिक

---

[1] युग के अनुसार उत्कृष्ट प्रतीक के लक्षण इस प्रकार हैं—"An effective symbol must have a nature that is unimpeachable. It must be the best possible expression of the existing world-philosophy, a container of meaning which cannot be surpassed; its form must also be sufficiently remote from comprehension as to frustrate every attempt of the critical intellect to give any satisfactory account of it; and, finally, its aesthetic appearance must have such a convincing appeal to feeling that no sort of argument can be raised against it on this score." C. G. Jung: Psychological Types, translated by H. G. Baynes, London 1944, Page 291.

चिन्तन-परिवेश की प्रधानता रहती है। एक ही प्रतीक को भिन्न-भिन्न व्यक्ति अथवा भिन्न-भिन्न समुदाय अलग अर्थ मे गृहीत कर सकते हैं। इसीलिये डा० पद्मा अग्रवाल ने भी प्रतीको की इस गतिशील अर्थवत्ता को बहुत महत्त्व दिया है।[१] किन्तु इस प्रसग मे हमे इतना स्वीकार करना पडता है कि मनोविज्ञान के प्रतीको और कला के प्रतीको मे पर्याप्त अन्तर रहता है। किसी भी दृष्टि से कला के प्रतीको की नितान्त मनोवैज्ञानिक व्याख्या और मनोविज्ञान के प्रतीको की कलाशास्त्रीय व्याख्या उचित नही है। इसलिये प्रतीको के विश्लेषण के पूर्व हमे उनकी 'जाति या प्रकार' का निश्चय कर लेना चाहिये कि विवेच्य प्रतीक 'कलात्मक प्रतीक' है या 'मनोवैज्ञानिक प्रतीक' है। कलात्मक प्रतीको का निर्माण सामान्य जन द्वारा नही, कलाकारो के द्वारा होता है। कलाकार स्वानुभूति के जिन अशो को सामान्य अभिव्यक्ति के प्रचलित साधनो (शब्द, रेखा, ध्वनि, इत्यादि) के द्वारा नही व्यक्त कर पाया है, उन अशो की व्यजना या अभिव्यक्ति के लिये ही वह प्रतीको का सहारा लेता है। अर्थात् कलाकार स्वानुभूति के 'अकथनीय' अशो को प्रतीक के द्वारा कथनीय और प्रेषणीय बनाता है।

इसी तरह मनोविज्ञान अथवा कला के प्रतीको से धर्मक्षेत्र, उपासना-जगत् या विज्ञान के प्रतीक सर्वथा भिन्न होते हैं। उपासना के क्षेत्र मे उपास्य परब्रह्म के चिह्न, पहचान, अवतार, अश या प्रतिनिधि के तौर पर आई हुई नामरूपात्मक वस्तु को प्रतीक कहते है। तिलक जी ने 'प्रतीक' शब्द के धात्वर्थ को बतलाते हुये उपासना के क्षेत्र मे इसके आशय को बहुत अच्छी तरह स्पष्ट किया है—"प्रतीक (प्रति+इक) शब्द का धात्वर्थ यह है—'प्रति.' अपनी ओर, 'इक' अर्थात् झुका हुआ। जब किसी वस्तु का कोई एक भाग पहले गोचर हो, और फिर आगे उस वस्तु का ज्ञान हो, तब उस भाग को प्रतीक कहते है। इस नियम के अनुसार सर्वव्यापी परमेश्वर का ज्ञान होने के लिये उसका कोई भी प्रत्यक्ष चिह्न, अश रूपी विभूति या भाग 'प्रतीक' हो सकता है।[२] इस तरह ज्ञान-विज्ञान, साधना और साहित्य के विभिन्न क्षेत्रो मे प्रतीक के भिन्न-भिन्न रूप तथा अर्थ होते हैं। प्रतीको का क्षेत्र इतना व्यापक इसलिये है कि सभी प्रकार की अनुभूतियो की अभिव्यक्ति का प्रतीको से सहज सबध है। जब

---

१. " the symbol has a dynamic meaning and is never independent of individual conditioning factors."—*Dr. Padma Agrawal*, Symbolism: A Psychological Study, Banaras Hindu University, 1955, Page 17.

२. लोकमान्य बालगगाधर तिलक, श्रीमद्भगवत् गीता-रहस्य, अनुवादक, माधव रावजी सप्रे, तिलक मन्दिर, गायकवाड बाडा, पूना, १९५५, पृष्ठ ४३५।

कोई अनुभूति गाढ और गूढ होती है, तब उसकी सम्पूर्णता या अन्योक्ति को व्यक्त करने के लिये आकांक्षी व्यक्ति को उसके तुल्यार्थ प्रतीकों का अन्वेषण करना पड़ता है। इस प्रकार संस्कृति और कला की सम्पूर्ण साधना प्रतीकों का अन्वेषण सिद्ध होती है।[1]

किन्तु, कला-जगत् के प्रतीक और अन्य प्रतीकों—यथा, धर्म, दर्शन या विज्ञान के प्रतीकों में मुख्य अन्तर यह है कि धर्म, दर्शन अथवा विज्ञान के प्रतीक, प्राय, सर्वथा निर्धारित एवं मान्य अर्थ रखते हैं। उन क्षेत्रों में प्रयोक्ता प्रतीकों का प्रयोग उसी परिनिष्ठित अर्थ में करता है, जिसे पाठक या श्रोता उसी एकात्म्य के साथ जानता है। अर्थात्, इन क्षेत्रों में प्रतीक के वास्तविक अभिप्राय और अर्थप्रतिपत्ति के संबंध में प्रयोक्ता और पाठक या श्रोता प्राय एकमत होते हैं। किन्तु, कला के प्रतीकों में प्रयोक्ता और पाठक, द्रष्टा या श्रोता के बीच किसी निर्धारित अर्थ के लिये ऐसा विश्रब्ध ऐकमत्य नहीं रहता है। कथ्य को अधिक स्पष्ट करने के लिये हम निर्धारित अर्थवाले प्रतीकों के बीच अंकगणित और रसायन के प्रतीकों को उदाहरणार्थ दे सकते हैं, जिनका बोध्य विषय एकदम सुनिश्चित रहता है —

अंकगणित के कुछ प्रतीक

१ तीन तरह के कोष्ठ—( ), { }, [ ]
२ अंकगणित की क्रियाओं के प्रतीक—+ —, ×, ÷,
३ सिग्मा प्रतीक—Σ
४ गुणनखण्ड (फैक्टोरियल) प्रतीक—⌐ अथवा ⌉ अथवा !
५ समाकलन (इण्टेग्रल) प्रतीक ∫
६ डेल्टा प्रतीक—△ अर्थात् अन्तरसूचक प्रतीक
७ दो बदलते हुये परिमाणों के संबंध सूचक प्रतीक—Γ

रसायन के कुछ प्रतीक

पदार्थ	प्रतीक
१. सोना ·· ····	सूर्य ○
२. चाँदी··· · ···· ·	चन्द्रमा ☽
३. लोहा ········	मगल ♂
४. हाइड्रोजन· ·······	H
५. ऑक्सिजन · ······	O
६. नाइट्रोजन·· ····	N
७. फासफोरस ······	P[1]

कुछ विस्तार मे जाने पर इन प्रतीकों मे सुनिश्चित अर्थनिर्धारण का महत्त्व और भी प्रकट होता है। एक तो रसायन मे डाल्टन के प्रतीको को हटाकर बर्जेलिमस के प्रतीको की स्वीकृति इसका सूचक है। दूसरे, कुछ ऐसे पदार्थो के प्रतीक, जिनके सज्ञासूचक शब्दो के प्रथमाक्षर समान है, के अर्थ को निश्चित रखने तथा किसी भी भ्रम की गुजाइश न रखने के लिए पदार्थ-विशेष के नाम के प्रथमाक्षर के साथ उसके दूसरे लक्षक अक्षर (कैरेक्टरस्टिक लेटर) को सलग्न कर दिया गया है। जैसे, केवल 'B' (ब) से प्रारम्भ होने वाले पाँच पदार्थों के प्रतोक को देखा जा सकता है —

पदार्थ	प्रतीक
1. Boron ······ ··	·E
2. Barium ·	·Ba
3. Beryllium ···	Be
4 Bismuth ····	···Bi
5 Bromine · ·	···Br.

इतना ही नहीं, सुनिश्चित अर्थनिर्धारण की रक्षा के लिये रसायन के प्रतीको मे पदार्थ के परिमाण-बोध को भी निश्चित कर दिया गया है। उदाहरण के लिये, रसायन के प्रथम खण्ड के उद्धृत प्रतीको मे पाँचवाँ—O—ऑक्सिजन के केवल एक परमाणु का ही सकेत नही करता, वल्कि इसके परमाणु-भार का भी। उदाहरण के लिये, कुछ और परिमाण-सकेतक प्रतीक देखे जा सकते है:—

१. रसायन के प्रथम तीन प्रतीक डाल्टन के चलाए हुए प्रतीकों से लिए गए है, जो १८१४ ई० में वर्जिलियस द्वारा चलाए गए वर्णिक प्रतीकों के वाद चलन से हटा दिए गए। उपर्युक्त उदाहरण के शेष चार प्रतीक वर्जेलियस के चलाए गए प्रतीक है। जॉन जैकव वर्जिलियस (१७९९-१८४८) स्टॉकहोम में रसायन के प्राध्यापक थे। रसायन में इनके प्रतीकों को सार्वभौम मान्यता मिल चुकी है।

$CaCO_3$ ... अर्थात्, कैल्सियम कार्बोनेट का एक अणु, जिसमें कैल्सियम का एक परमाणु, कार्बन का एक परमाणु और ऑक्सिजन के तीन परमाणु हों।

$5NH_3$ ... अर्थात्, अमोनिया के ऐसे पाँच अणु, जिनमें से प्रत्येक में नाइट्रोजन का एक परमाणु और हाइड्रोजन के तीन परमाणु विद्यमान हों।

इस प्रकार विज्ञान के प्रतीकों में हम केवल गुणात्मक नहीं, परिमाणात्मक अर्थ-निर्धारण भी पाते हैं। सारांश यह है कि विज्ञान के प्रतीक एक निश्चित 'चिह्न-प्रणाली' (साइन-सिस्टम) पर चलते हैं, किन्तु, कला के प्रतीकों में हमें ऐसे परिमाणात्मक अथवा गुणात्मक अर्थ-निर्धारण और एतावत्व के बोध का कोई प्रयास नहीं मिलता है। बल्कि इसके विपरीत कला के प्रतीकों की संभावनाओं और नमनीयता का पर्याप्त महत्त्व रहता है, कारण वे प्राय बुद्धिजन्य न होकर कल्पनाजन्य या कल्पनाजीवी होते हैं। इसलिये अधिकांश विचारक यह कहा करते हैं कि कला के प्रतीक भावोत्तेजक होते हैं और विज्ञान के प्रतीक विचारोत्तेजक या बौद्धिक होते हैं। दूसरी बात यह है कि कला के प्रतीकों में प्राय अर्थ-स्फीति होती रहती है, क्योंकि ये प्रतीक केवल प्रयोक्ता ही नहीं, पाठक के भी कल्पनाबोध और उन्नत संवेदन से सापेक्षिक संबंध रखते हैं, जबकि इनमें प्रयोक्ता और पाठक के बीच निर्धारित अर्थ के लिये कोई विश्वस्त ऐकमत्य नहीं रहता। फलस्वरूप, इन प्रतीकों को समझने में प्रयोक्ता और पाठक, श्रोता या द्रष्टा के बीच भ्रान्ति पैदा होने की संभावना बनी रहती है। किन्तु, इसके विपरीत विज्ञान प्रतीकों के क्षेत्र में नये अन्वेषणों के कारण पैदा होने वाली भ्रान्ति की नगण्य संभावनाओं का भी निवारण करता रहता है। उदाहरणार्थ, 'आइसोटोप्स' के अन्वेषण के बाद परमाणु-भार की भिन्नता के आधार पर ऑक्सिजन के जब दो प्रकार सिद्ध हुए, तब शीघ्र ही उसके प्रतीक 'O' में संशोधन लाया गया—O^{16} और O^{18}। अर्थ-निर्धारण और एतादृश एतावत्व के लिये हम कला के प्रतीक विधान में ऐसी सचेष्टता नहीं पाते हैं।

इसी तरह धर्म के प्रतीक भी कला के प्रतीक से भिन्न होते हैं। कारण, धर्म के प्रतीक भावुक संवेग में नहीं, विश्वास भावना में बलवित होते हैं।[1] इसलिए धर्म का कोई प्रतीक तब तक प्रभाव नहीं पैदा करता है, जब तक उसके अनुकूल सहृदय अथवा भावक के पास विश्वास-भावना न रहती हो। दूसरी

---

१. उदाहरण के लिए भारतीय धर्म और पुराणों में कमल का प्रतीक और विभिन्न रूपों में उसके अनेक अर्थ, जो मानव विश्वास-भावना पर निर्भर है। विस्तार के लिए द्रष्टव्य—Myths and Symbols in Indian Art and Civilization by *Heinrich Zimmer*, New York, 1953. Pages 90-102.

बात यह है कि कला के प्रतीक जहाँ नन्दतिक रजकता की ओर उन्मुख रहते हैं, वहाँ धर्म के प्रतीक दर्शन के ऋणी होते हैं। इसलिये धर्म के प्रतीको मे चिन्तन-तत्त्व प्रधान रहता है।[1] यो धर्म के प्रतीक भी एक स्तर पर आकर कला के प्रतीको की तरह रमणीय बन जाते हैं। यह तब होता है, जब सहृदय इज्या अथवा पूजा-भाव को अपना स्वभाव-सिद्ध गुण बना कर उसे अपने चित्-अस्तित्व का अश बना लेता है जैसे, हिन्दू धर्म के प्रतीको मे ॐ, शिव, प्रणव, नाद, बिन्दु, इत्यादि इस दृष्टि से विचारणीय महत्त्व रखते हैं। किन्तु, धर्म के कुछ ऐसे भी प्रतीक होते है, जो सार्वजनीन न होकर सकीर्ण साम्प्रदायिक विश्वास पर निर्भर करते हैं। जैसे—गणेश का मूषक (विघ्न का प्रतीक), शिव का त्रिशूल (त्रिगुणात्मिका शक्ति का प्रतीक)। साराश यह है कि धर्म के क्षेत्र मे भी वे ही प्रतीक अधिक सफल सिद्ध होते है, जिनमे कलागत प्रतीको की तरह भावोद्‌बोधन की क्षमता रहती है। यही वह सामान्य भूमि है, जिसके चलते विज्ञान के कुछ प्रतीको की तरह धर्म के प्रतीक भी काव्य के क्षेत्र मे उपेक्षित नही रहते। यो, धर्म के प्राय· सभी श्रेष्ठ प्रतीक कला के वरेण्य प्रतीक रहते आये हैं। यहाँ इसे दुहरा देना उचित प्रतीत होता है कि विज्ञान के प्रतीक असग, भूतात्मक और शुष्क विचारो के वाहक होते हैं अथवा किसी भावानीत प्रत्यय के निश्चित अर्थ-सकेतक होते हैं। अर्थात् विज्ञान के प्रतीक बाह्यधर्मी होते है, वे व्यजित वस्तु को अन्तस्थ नही रखते, अत ऊपर से चिपकाये हुये 'लैबेल' की तरह होते हैं, जब कि धर्म के प्रतीक समाज-सापेक्ष, अध्यात्म प्रवण और नैतिक मूल्यो से भरेपूरे रहते हैं। हाँ, धर्म-दर्शन का वह भाग, जो तत्रप्रधान अथवा योगमूलक रहता है या जिसमे साधना कौशल न रहकर विज्ञान बन जाती है, निश्चय ही कुछ वैसे प्रतीको से काम लेता है, जो विज्ञान के प्रतीको की तरह निश्चित अर्थ-सकेतक और चिह्न-प्रधान होते है।[2] जैसे—

---

१ धार्मिक और आस्तिक दृष्टिवाले विद्वान प्रतीक के दो मुख्य भेद मानते हैं—नित्य और कल्पित। पुन· नित्य प्रतीक के भेदोपभेदो को उपस्थित करते हुए वे चिह्न प्रतीक, रग प्रतीक, पदार्थ प्रतीक, प्राणि प्रतीक, पुष्प प्रतीक, शस्त्र प्रतीक, वाद्य प्रतीक, वृक्ष प्रतीक वेश प्रतीक से सकेत-प्रतीक (मुद्राएँ) तक पहुँच जाते हैं। आपातत· यह विभाजन आकर्षक प्रतीत होता है, किन्तु, इस विभाजन में कोई सैद्धान्तिक पूर्णता नहीं है, क्योंकि इस सूची में और भी अनेक नाम जोडे जा सकते हैं। तदनन्तर, दूसरी दृष्टि से भी कुछ विचारक प्रतीकों का कोटि-भेद निर्धारित करते हैं, जैसे—अक्षरात्मक प्रतीक, सकेतात्मक प्रतीक, रूपकात्मक प्रतीक, कथात्मक प्रतीक और संख्यात्मक प्रतीक। स्पष्टतः इस कोटि-निर्धारण में कोई नन्दतिक दृष्टिकोण प्रधान नहीं है और यह मूलतः सन्त साहित्य को दृष्टि में रखकर किया गया विभाजन है।

२. डॉ० जनार्दन मिश्र, भारतीय प्रतीक विद्या, बिहार-राष्ट्रभाषा-परिषद्, १९५९, पृ० ४६६।

चक्र	प्रतीक	भाव या सिद्धि का फल
१—मूलाधार		नित्यानन्द-परम्परा, पीयूष-धारा।
२—स्वाधिष्ठान		अहंकार मोहादि नाश
३—मणिपूर		शक्ति-चेतना, ज्ञान-सन्दोह
४—अनाहत		शक्ति-चालन, परकाय-प्रवेश, काव्याम्बुधारा।
५—विशुद्ध		वाग्मी, ज्ञानी, शान्तचेता, त्रिकालदर्शी।
६—आज्ञा		विष्णु-स्थान, वाक्सिद्धि
७—सहस्रार	शून्य	सुधाधारासार, शिवस्थान, परमपुरुषस्थान, हरिहरपद, कैलाशपद अमर प्रकृति-पुरुष स्थान, नित्यानन्द पद, निर्वाण कला, हंसपद, शून्यपद, इत्यादि।

पाश्चात्य साहित्य मे भी इस प्रकार के कुछ प्रतीक मिलते हैं। जैसे, डब्ल्यू० बी० यीट्स का 'g' प्रतीक, जिसे उन्होने 'gyre' symbol की आख्या दी है[1] और जिसे पहले आयरलैण्ड के निवासी 'pern' या 'spool' कहते थे। यह ज्यामितिक अंकन आत्मनिष्ठता और वस्तुनिष्ठता के परस्परान्तरण का प्रतीक है। यीट्स का यह 'g' प्रतीक भी 'सोलोमन्स सील' से मिलता-जुलता है[2]—

यीट्स का 'g' प्रतीक

सोलोमन्स सील
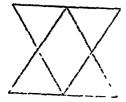
इस तरह धर्मक्षेत्र के प्रतीक भी विज्ञान के प्रतीको की तरह निश्चित अर्थ-संकेतक और चिह्न-प्रधान होते हैं।

उपर्युक्त तुलनात्मक विवेचन से यह निष्कर्ष निकलता है कि कला के प्रतीक, सामान्यत:, आश्रय के अनुभव अथवा अनुभूति की अवस्था-विशेष के व्यंजक हुआ करते हैं। इनमे एतावत्व के बदले सामान्य सादृश्य के साथ सूक्ष्म सांकेतिक तत्त्वों को महत्त्व दिया जाता है। इसलिये कला का एक प्रतीक अनेक स्तरों पर अपना कार्य करता है और अनेक प्रकार के भाव तथा मानसिक चित्र उत्पन्न करने मे सक्षम होता है। दूसरी बात यह है कि कला के प्रतीक का सम्पूर्ण अर्थ निश्चयपूर्वक प्रकट नही किया जा सकता, जबकि उसकी सम्पूर्ण अनुभूति संभव है। पुन संकेतात्मकता के बाहुल्य के कारण सामान्य जनो और आवश्यकता मे कम विकसित संवेदनवाले व्यक्तियों के लिये प्रतीकात्मक कथन मे कुछ न कुछ अस्पष्टता की प्रतीति बनी रहती है। सूक्ष्मता की दृष्टि से प्रत्येक उत्कृष्ट कलात्मक प्रतीक दो वस्तुओ के बीच सादृश्य-निबन्धन की चरम अवस्था है। इसी अर्थ मे वह उपमा, साध्यवसान रूपक और चिह्न—सबो से अधिक नन्दतिक मूल्य रखता है। तदनन्तर, कला के प्रतीको मे एक ही साथ गोपन और प्रकाशन की क्षमता रहती है। सचमुच, कला के प्रतीकों का लक्ष्य कभी भी किसी वस्तु को ज्यो का त्यो रखना अथवा पुन.प्रत्यक्ष या पुनरुत्पादन नही रहता है। उसमे प्रकाशन और गोपन का समन्तात् निर्वाह किया जाता है। इसलिये आर्थर सायमन्स द्वारा उद्धृत 'कौंत गोब्ले दालविएला'[3] का यह

---

१. *W. B Yeats*, A Vision, London, 1961, Page 210.

२. *Richard Ellmann*, Yeats : The Man and The Masks, London, 1949, Pages 231-232

३. Comte Gobletd' Alviella

विचार समीचीन मालूम पड़ता है कि प्रतीक केवल 'रिप्रोडक्शन' नहीं होता है।[1] वह कलाकार के भावों के प्रेषण का माध्यम होता है। इस तरह प्रतीकात्मक प्रेषण कलाकार की वह क्रिया है, जिसके द्वारा कलाकार असह्य यथार्थों या भावनाओं के तुमुल आलोड़न को व्यक्त करने के लिये कुछ दूरवर्ती अप्रस्तुतों का समतुल्य उपस्थित करता है।[2] कुछ ऐसा ही संकेत हमें प्राचीन काव्य-शास्त्र में मिलता है। आधुनिक 'प्रतीक' को हम प्राचीन काव्यशास्त्र के 'उपलक्षण' का एक विकसित रूप मान सकते हैं। 'एकपदेन तदर्थान्यपदार्थं कथमुपलक्षणम्' अर्थात् जब कोई वस्तु-नाम इस रूप में प्रयुक्त हो कि वह वस्तु-नाम अपने गुण-गौरव से अपने समान अन्य वस्तु अथवा वस्तुओं का भी बोध करा दे, तो वह शब्द (वस्तु-नाम) 'उपलक्षण' रूप में प्रयुक्त कहा जाएगा। इसीलिये काव्य के प्रतीकों में (प्राचीन काव्यशास्त्र की शब्दावली में) साध्यवसाना गौणी प्रयोजनवती लक्षणा अथवा धर्मगत प्रयोजन लक्षणा प्रधान रहती है।

प्रतीक-विवेचन के प्रसंग में विचारकों ने प्राय. 'मिथ' की भी चर्चा की है। किन्तु, अपने सन्दर्भिक मूल्य के कारण प्रतीक 'मिथ' से सर्वथा भिन्न है, क्योंकि 'मिथ' में सन्दर्भिक मूल्य नहीं, धर्म की तरह विश्वास की व्यवस्था प्रधान रहती है। 'मिथ' की मुख्य विशेषता यह है कि वह अनेक प्राय प्रतीकों का गुच्छ हुआ करता है। एक प्रतीक से 'मिथ' की सृष्टि नहीं हो सकती। अनेक अनुसरणशील बिम्बों (धार्मिक और पारम्परीण) के गुच्छ को ही हम 'मिथ' कहते हैं।[3] 'मिथ' को हम कॉलरिज के शब्दों में, जैसा कि जॉर्ज वैले का भी मत है, 'लाइन्स वर्नेनियन स्पाइडर वैब नेट आव स्टील—स्ट्रांग एज स्टील, येट लाइट एज एयर' कह सकते हैं।

'मिथ' में प्राय मानवेतर कथायें—विशेषकर देवताओं के चरित्र और

---

[1] "A symbol might be defined as a representation which does not aim at being a reproduction"—*A Symons*, The Symbolist Movement in Literature, 1958, Page 1,

[2] इस प्रसंग में अनेक परिभाषाएँ उपस्थित की गई हैं। जैसे, शिप्ले ने प्रतीक की परिभाषा इस प्रकार की है— 'Symbolism may be defined as the representation of a reality on one level of reference by a corresponding reality on another"—*Joseph T*, *Shipley*, Dictionary of World Literature, 1962, Page 405.

[3] [illegible] 'मिथ' के अन्तर को स्पष्ट करते हुए लिखा है— "A symbol proves to be a special kind of metaphor and the myth proves to be a cluster of symbols brought into resonance in the process of metaphor"—*George Whelley*, Poetic Process, 1953, Page 164

कार्य-कलाप—प्रधान रहती हैं।[1] दूसरे, 'मिथ' मे मिथ्यातत्त्व अधिक रहता है। तीसरे, 'मिथ' प्रसिद्ध होने के बाद समाज की मौखिक परम्पराओ से सबद्ध होने की प्रवृत्ति रखता है। चौथी बात यह है कि एकाधिक 'मिथ' के तुलनात्मक अध्ययन से उनके अन्दर छिपा हुआ कोई न कोई 'मोटिफ' स्पष्ट नज़र आने लगता है, जब कि हमे प्रतीको मे कोई सागोपाग कथा-रूढि नही मिलती है। इसी तरह बिम्ब और 'मिथ' मे मुख्य अन्तर यह है कि 'मिथ' मनुष्य की सामूहिक चेतना की उपज है और बिम्ब व्यक्ति-चेतना की। यह दूसरी बात है कि निर्मित होने के उपरान्त बिम्ब को भी स्वीकृति के लिये उसी 'सामूहिक-चेतना' के पास जाना पडता है। इस प्रसग मे यह विशेष महत्त्व की बात है कि 'मिथ' की प्रारम्भिक अवस्था मे कपोल-कल्पना का तत्त्व अधिक रहता है। इस शब्द की व्युत्पत्ति भी इसका समर्थन करती है। 'मिथ' ग्रीक शब्द[2] से बना है, जिसका अर्थ होता है 'मुँह से निकला हुआ।'[3] इस प्रकार 'मिथ एक ऐसी जातीय कल्पना है, जिसे बाद मे चलकर धार्मिक विश्वासो ने स्वायत्त कर लिया।[4]

---

१. *Heinrich Zimmer*, Myths and Symbols in Indian Art and Civilization, Edited by Joseph Campbell, New York, 1953.

२. Mythos.

३. "At first the Greek word 'mythos' meant 'the thing spoken' or uttered by the mouth, that is, it was a speech or tale"—*Lewis Spence*, The Outlines of Mythology, Page 1.

४. 'मिथ', सिम्बल' और 'एलिगरी' के भेद पर शाब्दिक व्युत्पत्ति की दृष्टि से विचार करते हुए एडविन होनिग ने लिखा है—" · the word allegory (Gr. allegoria, Fr. allos+agoria, 'other'+speaking') and the word symbol (Gr. symbolon, Fr. syn+ballein, "with" or "to-gether"+"to throw") become related through shifting usage to the word myth (Gr Mythos, "word", 'speech—talk, tale) and the word mystery (Gr. mysterion, Fr. mystes, "close-mouthed" *fr.* myein, "to be shut"). Mythos is originally the 'word', the first 'tale', which Greek thought subsequently distinguished from the synonyms epos and logos Mythos thus entails the activity of allegoria—"other-speaking" or 'speaking otherwise than one seems to speak"—as well as 'symbolon', the "throwing together" of word and thing. And the activity indicated by mythos, allegoria and symbolon is synonymous with, rather than contrary to, the activity indicated by mysterion, the unspoken, "close-mouthed", as established by sacred use."—*Edwin Honing*, Dark Conceit, London, 1959, Page 24.

'साइफर' के अधिक निकट पडता है। दूसरे, 'एम्ब्लेम' व्यक्ति विशिष्ट न होकर समुदायगत हुआ करता है और उसके पीछे व्यक्ति की नही, समुदाय-विशेष की धार्मिक और जातिगत धारणायें तथा अन्धविश्वास काम करते है। जैसे, हस सरस्वती के लिये, उल्लू लक्ष्मी के लिये, अर्द्ध-चन्द्रमा या वृषभ शिव के लिये[1] और सिंह दुर्गा के लिये 'एम्ब्लेम' का काम करते हैं।[2] यो कुछ विचारको ने चिह्नात्मक प्रतीक कहकर भी प्रतीको का एक प्रकार निरूपित किया है। इस दृष्टिकोण के प्रस्तोता विचारको का कहना है कि प्रतीक के सहारे मानव-मन चेतना की किसी स्थिति या उसकी वक्रता को चिरकाल के लिये सुरक्षित रखना चाहता है। इसलिये सम्पूर्ण स्थिति का नही, उसके किसी विशिष्ट सकेत का विधान प्रतीक मे किया जाता है। यही कारण है कि प्रतीक स्मरण सुलभ होते है। उदाहरणार्थ, शिव-मन्दिर के सम्पूर्ण स्थापत्य-शिल्प को समझना और याद रखना कठिन है, लेकिन मन्दिर के ऊपर चिह्न-रूप लगे हुए त्रिशूल को देखते ही साधारण आदमी भी उसे शिवालय समझ लेता है। इस त्रिशूल-जैसे व्यंजक चिह्नो को ही कुछ विचारको ने 'एम्ब्लेमैटिक सिम्बल' कहा है। ये चिह्नवत् प्रतीक अधिकतर धर्म-भावना और 'मिथ' से सबद्ध होते हैं। जैन पुराणो मे चौबीस तीर्थंकरो मे से प्रत्येक ऐसे चिह्नात्मक प्रतीक से उपेत माने गये हैं। इन तीर्थंकरो के चिह्नात्मक प्रतीक क्रमशः इस प्रकार हैं—वृषभ, गज, अश्व, कपि, क्रौच, रक्त कमल, स्वस्तिक, अर्द्धचन्द्र, मकर, श्रीवत्स, गरुड, महिष, वराह, भल्लूक, वज्रदण्ड, मृग, अज, मत्स्य, कुम्भ, कच्छप, नील कमल, शख, सर्प और सिंह।[3] स्पष्ट है कि ऐसे चिह्नात्मक प्रतीको का भाव-निवेदन एक प्रकार की धर्म-भावना और पौराणिक दृष्टि पर निर्भर है। अतः ये चिह्नात्मक प्रतीक कला-जगत् के सौन्दर्य वोधपरक सौष्ठव की दृष्टि से विचारणीय नही हैं। अन्य प्रतीक भी प्रयोग से खिर कर या छीज कर चिह्न (एम्ब्लेम) अथवा 'साइफर' बन जाते है,[4]

---

१. *Heinrich Zimmer*, Myths and Symbols in Indian Art and Civilization, edited by Joseph Campbell, New York, 1953, Page 48.

२. लेसिंग ने भी प्रतीक और 'एम्ब्लेम' के अन्तर पर पर्याप्त विचार किया है।—Lessing's Laokoon, translated by E. C. Beasley, Page 71.

३. तालिका के लिए द्रष्टव्य—On The Indian Sect of The Jains by *Johnn George Buhler*, edited with an outline of Jain Mythology by J A. Burgress, London, 1903.

४. शास्त्रीय दृष्टि से विचार करने पर भी यह सिद्ध होता है कि सतत प्रयोग से रूढ बनकर प्रतीक अपनी लाक्षणिकता और व्यंजकता खो देते हैं और उसी तरह अभिधा के अधीन हो जाते हैं, जिस तरह मुहावरे या लाक्षणिक प्रयोग सादृश्य प्रतिपादन में रूढ होकर लाक्षणिक नहीं, वाचक मात्र रह जाते हैं।

मूल्यो का सर्वोत्तम वाहन हुआ करते है। इसलिये कला की उत्कृष्टता, बहुत दूर तक, सन्दर्भ-सचेष्ट प्रतीकों के विनियोग पर निर्भर करती है। प्राचीन काव्यशास्त्र की भाषा मे उपमा, रूपक और प्रतीक का अन्तर स्पष्ट करते हुए हम कह सकते है कि उपमा में प्रस्तुत और अप्रस्तुत का भेद स्पष्ट रहता है। रूपक मे प्रस्तुत और अप्रस्तुत—उभय पक्षो का कथन होने पर भी दोनों मे अभेद या तद्रूपता आरोपित होती है। किन्तु, प्रतीक मे आये अप्रस्तुत की एक स्वतत्र अर्थ-परिवृत्ति होती है और उसके अन्तर्गत आनीत साम्य का निर्वाह किसी आलकारिक सरणि पर नही होता है। तदनन्तर, प्रतीक मे प्रस्तुत-अप्रस्तुत की विवक्षा पृथक्-पृथक् नही की जाती है। केवल काव्य की दृष्टि से प्रतीको का विवेचन करने पर यह प्रतीत होता है कि प्रतीक-विधान गौणी लक्षणा का विषय है, क्योकि यहाँ प्रस्तुत वस्तु का बोध लक्षणा द्वारा होता है। व्यजना का कार्य यहाँ प्रस्तुत और अप्रस्तुत के मध्य गुण, क्रिया अथवा व्यापार-समष्टि का साम्य-मात्र बताना होता है। इस तरह प्रतीक हमे गुणी द्वारा गुण तक पहुँचाता है।

प्रतीक और रूपक के भेद को बतलाने की चेष्टा डब्लू० बी० यीट्स ने भी की है।[1] इन्होने रूपक की तुलना मे प्रतीक की अनन्वय श्रेष्ठता प्रतिपादित की है। इनका मत है कि प्रतीक के द्वारा अभीप्सित वस्तु की वैसी पूर्ण अभिव्यक्ति होती है, जैसी किसी अन्य प्रकार से सभव नही है, किन्तु, रूपक के द्वारा वैसी अभिव्यक्ति होती है, जिसके समान या जिससे बढकर सुन्दर अभिव्यक्ति दूसरे प्रकार से भी सभव है।[2] दूसरे, रूपक को समझने के लिये ज्ञान की आवश्यकता होती है, जबकि प्रतीक के भावन के लिये अन्त प्रेरणा या सहज वृत्ति आवश्यक है। तदनन्तर, प्रतीक 'कल्पना' से उत्थित होता है, किन्तु, रूपक-विधान 'फैन्सी' से ही निष्पन्न हो जाता है। और, यीट्स की दृष्टि मे सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण यह है कि रूपक-विधान एक प्रकार का मनोविनोद है, लेकिन प्रतीक एक प्रकार का अलौकिक प्रकाशन है, क्योकि इसके

---

१. *W. B Yeats*, "William Blake and His Illustrations to The Divine Comedy" collected in 'Essays and Introductions' by W. B. Yeats, London, 1961, Page 116

२. सभवतः यीट्स से प्रभावित होकर *W. Y Tindall* ने भी प्रतीक और रूपक के विषय में ऐसी धारणा व्यक्त की है—"The Symbol is the only possible embodiment of what it presents, whereas an allegorical image, one of several possibilities, is a substitute for what it presents" —*W. Y. Tindall*, The Literary Symbol, New York, 1955, Page 31.

स्वयं निगीर्ण रहे, तब अप्रस्तुत ही प्रस्तुत का स्थानापन्न बनकर प्रतीक का काम देता है। काव्य-परिभाषा मे इसे उपचार-वक्रता कहते है।"[1] किन्तु, अन्योक्ति को विस्तृत अर्थ मे लेने पर भी, अर्थात् अन्योक्ति अलकार, अन्योक्ति पद्धति और अन्योक्ति ध्वनि को ध्यान मे रखने पर भी प्रतीक की तुलना मे अन्योक्ति का भिन्न और सीमित क्षेत्र है। पहली बात यह है कि अन्योक्ति का प्रमुख क्षेत्र काव्य और सामान्य क्षेत्र श्रव्य कला है। दृश्य कलाओ मे अन्योक्ति का विनियोग प्राय नही हुआ करता है। इसलिये शब्द-प्रतीको का साम्य अन्योक्ति के साथ हो सकता है और काव्य के प्रतीको मे निश्चितरूपेण अन्योक्ति-तत्त्व रहता है, किन्तु, वस्तु-प्रतीक या वर्ण-प्रतीक, जो दृश्य कलाओ के सार्वभौम साधन और अगीभूत तत्त्व है, अन्योक्ति के साथ कोई सीधा सम्बन्ध नही रखते है। इस तरह प्रतीक का क्षेत्र जहाँ काव्येतर कलाओ तक फैला हुआ है, वहाँ अन्योक्ति प्रधानत. काव्य-कला तक सीमित है। दूसरी बात यह है कि प्रतीक प्राय अतिनिर्धारित बिम्ब हुआ करते है, जिनका कभी न रीतनेवाला अर्थ भी विशेष ढग से सुनिश्चित रहता है, जबकि अन्योक्ति मे अर्थ की नमनीयता बनी रहती है और वक्रता, व्यजना, श्लेष या अपह्नव के द्वारा कथन की बहुविध व्याख्याओ की सभावना सुरक्षित रहती है। इसलिये रहस्यवादी काव्य मे हमे जो प्रतीक मिलते है, उनमे, प्राय अन्योक्तिपरकता प्रधान रहती है।[2] कारण, रहस्यवादी काव्य मे प्रतीकवत् प्रयुक्त लौकिक रूपको के द्वारा अतिरिक्त अर्थ का, जो प्रायः अलौकिक हुआ करते है, ध्वनन होता है।

इस प्रसग मे प्रतीक और अप्रस्तुत के सबधो पर भी विचार कर लेना आवश्यक है, क्योकि इतर ललित कलाओ की तुलना मे अप्रस्तुत-विधान और शब्द-प्रतीक काव्य कला की नायाब विशेषतायें है। सामान्यत यह माना जाता है कि आभ्यन्तर प्रभाव-साम्य वाले अप्रस्तुत ही उत्कृष्ट प्रतीक बन सकते है। इसलिये कुछ विचारक, जैसे आचार्य शुक्ल, प्रतीक को एक विशेष प्रकार का उपमान मानते हैं। किन्तु, यह मान्यता पूर्णत उचित नही है। जैसे, हिन्दी कविता मे अनेक स्थलो पर 'उषा' को आनन्द का प्रतीक माना गया है। ऐसे स्थलो मे उषा आनन्द का उपमान नही है, क्योकि उपमानत्व मे साम्य की अपेक्षा होती है, जो उषा मे नही है। वस्तुतः यहाँ आनन्द एव उषा मे कार्य-कारण-भाव-सबध है, उपमानोपमेय भाव-सबध नही। साराश

---

१. डॉ० ससारचन्द्र, हिन्दी काव्य में अन्योक्ति, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, १९६०, पृ० ६९।

२. *W. R. Inge*, Christian Mysticism, 8th edition, London, Pages 251-252

कारण अनिर्वचनीय और अकथनीय है, सकेत-व्यजना करता है।[1] अर्थात्, प्रतीक-विधान मे 'फेनोमेना' के द्वारा 'न्युमेना' का सकेत किया जाता है, सगुण के द्वारा निर्गुण की ओर दृश्य के द्वारा अदृश्य की व्यजना की जाती है। यहाँ हमे ध्यान रखना है कि कला मे प्रयुक्त भावानीत दृश्य जगत् (फेनोमेना) का ज्ञान कलाकार को सहजानुभूति के द्वारा मिलता है और उसमे व्यजित अदृश्य सत्चेतना की उपलब्धि कलाकार की धारणा-शक्ति (कन्सेप्ट) से होती है। इस प्रकार प्रतीक-विधान मे एक ओर सहजानुभूति और दृश्य जगत् (फेनोमेना) की विद्यमानता रहती है, तो दूसरी ओर धारणा (कन्सेप्ट) तथा अदृश्य सत्चेतना की व्यजना भी। फलस्वरूप, प्रतीक-विधान मे हमे वह समीकरण मिलता है, जो अपने भीतर सहजानुभूति और विभावन के सगम के साथ ही दृश्य जगत् और अदृश्य जगत् का मेल छिपाये रहता है। अत जो कलाकार सहजानुभूति के साथ ही विभावन का भी धनी रहता है, वही उत्कृष्ट प्रतीको की सृष्टि कर पाता है।

उपरिवर्णित प्रीतकोपम अप्रस्तुतो की तरह काव्य-जगत् मे शब्द-प्रतीको का भी अपना महत्त्व है। ये शब्द-प्रतीक प्राय व्युत्पन्न प्रतीक होते है। इनका उद्भव शब्द-बिम्बो से होता है अथवा ये पौराणिक आख्यान या किसी धार्मिक सम्प्रदाय की गुह्यसाधना (इसोटेरिज्म) से लिये जाते हैं। ये व्युत्पन्न प्रतीक भावन की दृष्टि से आशु ग्राह्य नही होते है, क्योकि इनकी सृष्टि मे एक प्रतीक के लिये दूसरे प्रतीक का और दूसरे प्रतीक के लिये तीसरे प्रतीक का, एवम् प्रकारेण, शृखला-रूप विधान होता है। फलस्वरूप, अन्तिम प्रतीक और मूल भाव का सबध इतना अप्रकट और कृच्छ्रग्राह्य हो जाता है कि साधारण सहृदय उसका उद्घाटन ही नही कर पाते और वह व्युत्पन्न प्रतीक एक प्रकार से कूटप्रतीक बन जाता हैं। इस प्रकार के शब्द-प्रतीको का आकाक्षी कलाकार, जो ईप्सित सफलता नही प्राप्त कर सकता, अप्रस्तुत-विधान के घनात्मक या दुहरे प्रयोगो से भी सन्तोप कर ले सकता है। साराश यह है कि व्युत्पन्न शब्द-प्रतीको में मूल भाव या मूल वस्तु तथा व्युत्पत्ति से प्राप्त प्रतीक के मध्यस्थ

---

१ इस दृष्टि से हीगेल की यह धारणा भी विचारणीय है—".. symbol is some form of external existence immediately presented to the senses, which, however, is not accepted for its own worth, as it lies thus before us in its immediacy, but for the wider and more general significance which it offers to our reflection."—*Hegel*, The Philosophy of Fine Art, translated by Osmaston, Volume II, London, 1920, Page 8

प्रसिद्ध हैं कि इन्होने उपन्यास-रचना मे प्रतीकवादी सिद्धान्तो का स्पृहणीय विनियोग किया है।[१] प्रतीकवादी गल्पकार अपने बहुवर्णी और अनेकमुख आसगो को व्यक्त करने के लिये क्षण-क्षण परिवर्तनशील बिम्बो के बदले अनेक पात्रो, परिस्थितियों, स्थानो, विचक्षण क्षणो, गदराये हुये सवेगो तथा व्यवहार-सरणियो की पुनरावृत्ति का सहारा लेता है। इन पाश्चात्य प्रतीकवादी गल्पकारो मे बॉल्जक, गोतिये, इत्यादि विशेष प्रसिद्ध है।[२]

कहने का आशय यह है कि जीवन के विभिन्न क्षेत्रो की तरह साहित्य की सभी विधाओ मे प्रतीको का प्रयोग सभव है, क्योंकि प्रतीक 'अदृश्य सत्यों' की इन्द्रियग्राह्य रूपो मे साकेतिक अभिव्यक्ति करते हैं। और, यह जानी हुई बात है कि जीवन के प्रत्येक क्षेत्र मे ऐसे अदृश्य सत्य रहा करते हैं, जिन्हे इन्द्रियग्राह्य रूपो मे बाँधकर अभिव्यक्त करने की चिरन्तन आवश्यकता पडती है। इसलिये अनेक विचारक निर्गुण सत्य की सगुण अभिव्यक्ति को प्रतीक कहते है। विशेषकर, कला-जगत् मे सूक्ष्म सौंदर्य को ही व्यक्त करने के लिये प्रतीको का प्रयोग किया जाता है। यह सूक्ष्म सौदर्य, यदि प्रतीको के द्वारा इन्द्रियग्राह्य रूप मे न व्यक्त किया जाय, तो कला के अवलोकन या अवगाहन से सहृदय-चित्त को रसमग्नता नही मिल सकती है। सभवत प्रतीको के बिना सूक्ष्म सौंदर्य की अभिव्यक्ति ही असभव है। सगीत कला मे भी हम श्रवण-दुर्लभ स्वर-सगतियो का श्रवण-सुलभ स्वर-प्रतीको के माध्यम से रस-भोग कर लेते है।[३] इस प्रकार कला-जगत् मे प्रतीक 'अतीन्द्रिय' और 'ऐन्द्रिय' के

---

१. एडमण्ड विल्सन ने मार्शल प्रू के इस पक्ष पर अच्छा विचार किया है। द्रष्टव्य— Axel's Castle by *Edmund Wilson*, London, 1947, Pages 132-190.

२ The Symbolist Movement in Literature by *Arthur Symons*, New York, 1958, Pages 99-144.

३. जिस प्रकार काव्य मे हम शब्दों से प्रतीक-सृष्टि करते है, उसी प्रकार सगीत में 'टोन' (tone) के द्वारा प्रतीकात्मक प्रयत्न किया जाता है। सगीतदर्शन के विश्लेषणकर्ताओं का यह मत है कि सगीत के 'टोन' में उसी प्रकार निश्चित अर्थवत्ता रहती है, जिस प्रकार काव्य-कला के शब्दों में; क्योंकि सगीत भी एक प्रकार से भावों की भाषा है। अतः अनेक विचारकों ने 'टोन' को संगीत का 'गत्वर प्रतीक' (dynamic symbol) कहा है।— *Victor Zuckerkandl*, Sound and Symbol, translated from the German by Willard R. Trask, 1956, Pages 66, 69. सगीत की ही तरह स्थापत्य कला में भी प्रतीकों का प्रयोग होता है, जिन्हे ज्यामितिक प्रतीक (geometrical symbol) कहा जाता है। ये ज्यामितिक प्रतीक आकृतियों के सम्मूर्त्तन में सर्वोत्तम सिद्ध होते हैं। *Elie Foure*, History of Art, Volume V, translated by Walter Pach, London, 1930, Pages 274-275 इन ज्यामितिक प्रतीकों को,

दार्शनिको की रचनाओ मे प्राप्य है। प्रतीकवाद का साम्य उन्नीसवी शती के आदर्शवादी दर्शन की स्थापनाओ से भी है। अठारहवी शताब्दि मे ही स्वेडेन वर्ग ने 'करेस्पाण्डेन्स का सिद्धान्त' निरूपित किया था और इस भाँति प्रतीको द्वारा वैयक्तिक अनुभवो के प्रकाशन की परम्परा को शक्ति मिली थी। आगे चलकर चार्ल्स बाद्लेयर इस नवीन सिद्धान्त से प्रभावित हुआ और उसने 'सिनेस्थेसिस' के सिद्धान्त का प्रतिपादन किया;[१] जिसके द्वारा इस मत की स्थापना हुई कि दृष्टि, श्रवण, घ्राण तथा स्पर्श द्वारा प्राप्त अनुभवो का साम्य है और वे आपस मे परिवर्त्तनीय हैं।[२] इसी तरह मलार्मे ने भी प्रतीकवादी मान्यताओ के निरूपण और व्यावहारिक विनियोग मे एक अग्रदूत का कार्य किया।[३] कहा जाता है कि बाद्लेयर ने प्रतीको का मूल्याकन किया, वर्लेन ने उन्हे व्यावहारिक परिणति दी और मलार्मे ने प्रतीकवाद की इन द्विविध लब्धियो को एक विशिष्ट दर्शन प्रदान किया।[४]

प्रतीकवाद की मूल मान्यता यह है कि प्रत्येक सवेग और सवेदन के स्वरूप मे व्यक्ति की सतत प्रवहमान चेतना की भिन्न स्थितियो के कारण हर क्षण परिवर्तन होता रहता है। फलस्वरूप, यह किसी भी व्यक्ति के लिये एक कठिन कार्य है कि वह अपने सवेग और सवेदन को सामान्य साहित्य या वोलचाल की दैनन्दिन भाषा मे ठीक उसी तरह व्यक्त कर दे, जिस रूप मे उसने उस विवक्षित सवेग अथवा सवेदन की सही-सही अनुभूति की थी। अर्थात्, अनुभूत सवेग और सवेदन को कोई भी व्यक्ति पूर्ण यथारूपता के साथ लोकप्रचलित भाषा और शैली मे नही व्यक्त कर सकता है। पुन प्रतीकवादियो का कहना है कि प्रत्येक कवि के व्यक्तित्व की अपनी वक्रतायें होती हैं तथा उसके सवेग, सवेदन और क्षण की (उपभुक्त दशा अथवा आमग की दृष्टि से) निजी विशिष्टताये होती हैं। अतः प्रत्येक कवि का यह कर्तव्य है कि वह अपने व्यक्तित्व और अनुभूतियो की विशिष्टता के अनुरूप अभिव्यक्ति के किसी विशेष मार्ग का अन्वेषण और निर्धारण कर ले। इसी विशेष मार्ग के अन्वेषण मे कवि को नूतन प्रतीको के प्रयोग की अनिवार्यता से गुजरना पडता है। इसलिये

---

१. Charles Baudelaire (Selected Poems) translated by Geoffrey Wagner and an introduction by Enid Starkie, London, 1946, Introduction

२. राम अवध द्विवेदी, काव्य में प्रतीक-विधान, आलोचना, जुलाई, १९५७, पृ० ३७।

३ *C M. Bowra*, The Heritage of Symbolism, London, Page 1

४. Stephane Mallarme Poems translated by Roger Fry with commentaries by Charles Mouron, London.

प्रतीकों के इस तात्त्विक विवेचन के उपरान्त प्रतीको के प्रकार पर भी सक्षेप मे विचार कर लेना अनिवार्य है। मूलतः प्रतीक ध्वनि और दृष्टि पर निर्भर करते है, क्योकि श्रुति और चक्षु—इन्ही दो माध्यमो के द्वारा प्रतीक अपना अर्थ-प्रेषण करते है। इसलिये स्वभावत कलाकार भी अपने प्रतीको की प्रेषणीयता की सुरक्षा के लिये प्रतीक-सृष्टि के समय ध्वनि और दृष्टि के माध्यमो पर विशेष ध्यान रखता है, ताकि सहृदय-पक्ष की ग्राहिका-शक्ति पर अधिक बल नही पडे। इस तरह हम प्रतीको के मुख्य दो प्रकार निरूपित कर सकते हैं—ध्वनि-निर्भर प्रतीक और दृष्टि-निर्भर प्रतीक। डब्ल्० बी० यीट्स ने भी प्रतीको के दो ही प्रमुख प्रकार माने हैं, किन्तु, इनका प्रकार-निर्धारण एक दूसरी दृष्टि पर निर्भर है। इन्होने सवेग और विचार की प्रधानता के आधार पर प्रतीको का प्रकार-निर्धारण किया है -ध्वनि-प्रतीक और प्रत्यय-प्रतीक ('सिम्बल्स आव आइडियाज')। इनके अनुसार ध्वनि-प्रतीक मे सवेग-सृष्ट प्रतीको का अन्तर्गणन हो सकता है और प्रत्यय-प्रतीको मे बौद्धिक (इण्टेलेक्चुअल) प्रतीको का, क्योकि प्रत्यय-प्रतीक साधारणत विशुद्ध विचारो के और कभी-कभी भावना मिश्रित विचारो के उत्प्रेरक हुआ करते हैं। किन्तु, इन विशुद्ध साहित्यिक या सौंदर्यशास्त्रीय दृष्टिकोणो के अलावे अन्य दृष्टियो से भी प्रतीको के प्रकार पर सोचा-विचारा गया है, जो बहुत ही अव्यवस्थित, किसी व्यापक आधार से हीन और अनावश्यक खीचतान से मुद्रित है। जैसे, एवलिन अण्डरहिल ने रहस्यवाद के सदर्भ मे प्रतीको पर विचार करते हुये इन तीन प्रमुख प्रकारो का निर्देश किया है—यात्रा-द्योतक प्रतीक, प्रेमद्योतक प्रतीक और यतिभावद्योतक प्रतीक।[१] इसी तरह किसी ने प्रतीको के चार प्रकार माने है : गूढार्थ, सस्मरणात्मक, औपम्यमूलक और वस्तुगर्भ, तो किसी ने अभिव्यक्ति की स्तर-भिन्नता के आधार पर प्रतीकों का चतुर्विध विभाजन दूसरे नामो से प्रस्तुत कर दिया है प्राणिवादमूलक, औपम्यमूलक, सादृश्यमूलक और बिम्बमूलक। किन्तु, प्रतीको के प्रकार की संख्या का 'इदमित्थ' यहा भी नही हुआ है। उदाहरण के लिये लैंगर ने अपनी प्रसिद्ध पुस्तक मे प्रतीको के अनेक प्रकार गिनाये है, जिनमे से कुछ इस प्रकार हैं 'वर्बल सिम्बल', 'डिस्कर्सिव सिम्बल', 'रिप्रेजेण्टेशनल सिम्बल', 'डेथ सिम्बल', 'काण्डेन्स्ड सिम्बल' (जैसे नारीत्व के लिये चांद), 'चार्ज्ड सिम्बल',) (जैसे ईसा की फांसी का क्रॉस) इत्यादि।[२] इसी तरह कही-कही प्रतीको के विभाजन की अवतरणिका और भी विषद मिलती है। जैसे—कूट प्रतीक, वैपरीत्यमूलक

१. *Evelin Underhill*, Mysticism, Pages 126-127.
२. *Suscnne K. Langer*, Philosophy in a New Key

है कि प्रतीको का व्यक्तिगत मनोरागो से कोई सबध ही नही बच पाता है। इसी तरह मनोवैज्ञानिक दृष्टि से किये गये अध्ययन मे प्रतीको को व्यक्ति के अचेतन मन, दमित इच्छाओ और मानसिक स्वन चालन से इस प्रकार मुद्रित कर दिया जाता है कि इन आधारो को स्वीकार कर लेने पर कला-जगत् मे अनेक प्रकार की भ्रान्तियो का मार्ग प्रशस्त हो जाता है। इस तरह प्रतीको के सौन्दर्य-शास्त्रीय अध्ययन का एक स्वतत्र रूप है, हालाँकि सौन्दर्यशास्त्र अपने अध्ययन की परिपूर्णता के लिये दार्शनिक, मनोवैज्ञानिक या समाजशास्त्रीय अध्ययन के ग्राह्य अशो को निःसकोच स्वीकार करता है।

(२) कला-जगत् के प्रतीको पर सौन्दर्यशास्त्रीय विचार-विमर्श करते समय प्रतीक-सन्दर्भ (symbolic reference) को पर्याप्त महत्त्व दिया जाता है।

(३) प्रतीक-सृष्टि मनुष्य की चिन्तन-प्रणाली और क्रिया का एक आवश्यक अग है। अन्य प्राणियो की तुलना मे मनुष्य की कुछ श्रेष्ठ पृथकताओ अर्थात् विशिष्ट गुणो के बीच प्रतीक-सृजन की क्षमता प्रमुख है।

(४) ललित कला और सौन्दर्यशास्त्र की दृष्टि से प्रतीक के सबध मे युग की मान्यताये अन्य मनोवैज्ञानिको की अपेक्षा अधिक महत्त्वपूर्ण है। युग ने प्रतीक-सृजन को एक सास्कृतिक प्रयास माना है, क्योकि आद्य-बिम्ब और सामूहिक अचेतन से सबद्ध भाव सामान्य अभिव्यक्ति-पद्धति की सीमाओ को पारकर उन प्रतीको के रूप मे व्यक्त होना चाहते हैं, जिनके लिये दृश्य और श्रव्य कलाये सर्वोत्तम अधिकरण सिद्ध होती हैं।

(५) कला-जगत् के प्रतीको का सौन्दर्यशास्त्रीय दृष्टि से ही विश्लेषण होना चाहिये, क्योकि कलात्मक प्रतीको का निर्माण सामान्य जन के द्वारा नही, कलाकारो के द्वारा होता है। कलाकार स्वानुभूति के जिन अंशो को सामान्य अभिव्यक्ति के प्रचलित साँचो मे नहीं ढाल पाता है, उन अशो की व्यजना या अभिव्यक्ति के लिये ही वह प्रतीको का सहारा लेता है। इस तरह कलाकार स्वानुभूति के अकथनीय अशो को प्रतीक के द्वारा कथनीय और प्रेषणीय बनाता है। इस बात को दार्शनिक भाषा मे इस प्रकार कहा जा सकता है कि प्रतीक-विधान के सहारे कलाकार दृश्य जगत् के अप्रस्तुतो के द्वारा अदृश्य सत् की, जो अभिव्यक्ति के प्रचलित माध्यमो की सीमा के कारण अनिर्वचनीय है, सकेत-व्यजना करता है। अर्थात् प्रतीक-विधान मे 'फेनोमेना' के द्वारा 'न्युमेना' का सकेत किया जाता है।

(६) कला-जगत् के प्रतीक एव अन्य प्रतीको—जैसे धर्म, दर्शन या विज्ञान के प्रतीको मे मुख्य अन्तर यह है कि धर्म, दर्शन अथवा विज्ञान के प्रतीक सर्वथा निर्धारित एव स्वीकृत अर्थ रखते है। इन क्षेत्रो मे प्रतीको के निर्दिष्ट अभिप्राय और अर्थ के संबध मे प्रयोक्ता तथा श्रोता या पाठक अथवा द्रष्टा प्राय एकमत

सम्मूर्त्तन और चित्रोपमता को प्रधानता दी जाती है, वहाँ प्रतीक-विधान मे एक अभिव्यक्ति-लाघव के साथ किसी सूक्ष्म सत्य, सौन्दर्य या प्रभाव की सकेत-व्यजना की जाती है। यहाँ यह ध्यातव्य है कि बिम्ब भी कभी-कभी प्रयोग की आवृत्ति से किसी विशेष अर्थ मे प्रतिमित होकर प्रतीक का रूप धारण कर लेते है।

(१४) प्रतीको का प्रकार-निर्धारण अबतक बहुत ही अनिश्चयात्मक और अव्यवस्थित रहा है। अत प्रतीको का प्रकार-निर्धारण भी बिम्बो की तरह ज्ञानेन्द्रियो अथवा ऐन्द्रिय प्रतीतियो के आधार पर होना चाहिये।

परिशिष्ट

[अंग्रेजी-हिन्दी शब्दार्थ-संकेत]

Abstract form=नैरूप्यवादी विधान
Allegory=रूपक
Architectural proportion=वास्तु अनुपात
Association=आसंग
Attitude=संस्थिति
Classical tradition=शास्त्रीय परम्परा
Cliches=एकरूपता
Code symbol=कूट प्रतीक
Cognitive content=बोध्य विषय
Colour-harmony=वर्ण-छद
Colour-perception=वर्ण-बोध, वर्णात्मक प्रत्यक्ष
Colour-sensation=वर्ण-संवेदना
Concept=धारणा
Conceptual=धारणात्मक
Concrete=पिण्डीभूत
Condensation=घनीभवन
Cone=शंकु
Conscious allegory=सचेतन रूपक
Content=विषय
Correspondence=संवादिता या तदनुरूपता
Cubism=घनवाद, त्रिपार्श्ववाद
Dermal Psyche=त्वक्-चेतना
Displacement=विस्थापन
Distorted substitute=विकृत स्थान
Duplication=प्रतिकृति
Engineering=आभियांत्रिकी

False reality=संवृति सत्य
First symphony=प्रथम स्वर-संगति
Fovea=अक्षि-कोटर
Functional=क्रिया-प्रधान
Harmony=संगति
Harmonic colour=संवादी वर्ण
Hieroglyphics=चित्राक्षर
Ideograph=भाव-चित्र
Imaginative Arts=कल्पनात्मक-कलाएं
Imagism=चित्रात्मकता
Impressionistic music=प्रभाववादी संगीत
Inaudible harmony=श्रवण-दुर्लभ स्वर-संगति
Indian Epistemology=भारतीय प्रमाणवाद
Landscape poetry=भूदृश्यांकन-काव्य
Latent dream thought=गुप्त स्वप्न-विचार
Legendary=निजन्धरी
Manifest dream-content=व्यक्त स्वप्न-वस्तु
Mechanism of dream or dream-work=स्वप्न-तंत्र
Melos=संगीत
Mental=मानसिक
Musical proportion=लयात्मक
Negative Empathy=अभावात्मक सहानुभूति
Noumenon=अदृश्य सत्, सत्‌चेतना
Objective Art=वस्तुतात्विक कला
Opsis=दृश्य गुण, चित्रात्मकता
Optic nerve=चाक्षुष स्नायु
Oscilloscope=दोलनवीक्ष
Otiose image=निरर्थक बिम्ब
Pageant=स्वांग लीला
Perceptual=प्रत्यक्षात्मक
Periphery=परिवृत्त
Phenomenon=दृश्य जगत्
Pictorial representation=चित्रात्मक पुनःप्रत्यक्ष
Plastic configuration=पिण्डीभूत मूर्तन

Pointillism = बिन्दु-चित्रण
Positive Empathy = भावात्मक सहानुभूति
Pretty = रंजक
Primordial image = आद्य बिम्ब
Primordial symbols = आद्य प्रतीक
Program music = क्रमिक संगीत
Psyche = मन
Representation = पुनःप्रत्यक्ष
Response = प्रत्यर्थता, पर्युत्सुकता
Rod = शलाका
Romantic = स्वच्छन्दतावादी
Schemate = विचार-चित्र
Sense-transference = बोध-विपर्यय
Sign = चिह्न
Sister arts = भगिनी कलाएँ, सहोदरा कलाएँ
Space = अन्तराल, देश
Standard = मानक
Subjective Art = आत्मतात्रिक कला
Substitute image = स्थानापन्न मनोबिम्ब
Symbolic reference = प्रतीक-सन्दर्भ
Synaptic = चेतोपागमिक
Tapestry = यवनिका
Texture = विन्यसन
Theme = विषय
Volume = विस्तार
Wave-lines = तरंगित रेखाएँ
World of Ideas = प्रत्यय-जगत्

सहायक ग्रन्थों तथा पत्र-पत्रिकाओं की सूची

(संस्कृत)

१. अथर्ववेद
२. अभिज्ञान शाकुन्तलम्
३. अमरकोष
४. अमरुकशतकम्
५. उत्तर रामचरित
६. ऋग्वेद
७. ऋतुसहार
८. कविकण्ठाभरण
९. कामसूत्र
१०. काव्यप्रकाश
११. काव्य-मीमासा
१२. काव्यादर्श
१३. काव्यालकार
१४. काव्यालकारसूत्र
१५. किरातार्जुनीयम्
१६. कुट्टिनीमामतं काव्य
१७. कुमार सभवम्
१८. केनोपनिषद्
१९. गीतगोविन्द
२०. तर्क-सग्रह
२१. ध्वन्यालोक
२२. ध्वन्यालोकलोचन
२३. नाट्यशास्त्र
२४. नैषध चरितम्
२५. प्रमेयकमल मार्त्तण्ड
२६. भामिनी-विलास
२७. महाभारत

२८ मानसार शिल्पशास्त्र
२९. रस गंगाधर
३०. ललितविस्तर
३१ वक्रोक्तिजीवित
३२. विक्रमोर्वशीयम्
३३ विष्णुधर्मोत्तर पुराण (चित्रसूत्रम्)
३४. शिल्परत्न
३५. शिशुपालवधम्
३६. शुक्रनीतिसार
३७. श्रीमद्भगवद्गीता
३८. श्लोकवार्त्तिक
३९ संगीत-दर्पण
४०. संगीत-रत्नाकर
४१. संगीत राग-कल्पद्रुम
४२. सांख्यतत्त्व कौमुदी-प्रभा
४३. सांख्य दर्शन
४४. साहित्य दर्पण

हिन्दी

१. अग्निपुराण का काव्यशास्त्रीय भाग, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली, १९५९।
२ अरस्तू का काव्यशास्त्र, सम्पादक, डॉ० नगेन्द्र, भारती भण्डार, प्रयाग, वि० संवत् २०१४।
३. आचार्य शुक्ल के समीक्षा-सिद्धान्त, डॉ० रामलाल सिंह, वाराणसी, संवत् २०१५।
४ आचार्य शुक्ल और हिन्दी आलोचना, डॉ० रामविलास शर्मा, विनोद पुस्तक मन्दिर, आगरा, संवत् २०१२।
५. आपेक्षिकता का अभिप्राय, मूल लेखक, डॉ० अल्बर्ट आइन्स्टाइन, अनुवादक—डॉ० भवानकर तथा सेठी, प्रकाशन शाखा, उत्तर प्रदेश, १९६०।
६. कला, हंसकुमार तिवारी, मानसरोवर प्रकाशन, गया।
७ कला : एक जीवन-दर्शन, काका कालेलकर, सस्ता साहित्यमंडल, १९३७।
८. कला और आधुनिक प्रवृत्तियाँ, रामचन्द्र शुक्ल, प्रकाशन शाखा, उत्तर प्रदेश, १९५८।
९ कला और संस्कृति, डॉ० वासुदेवशरण अग्रवाल, प्रथम संस्करण।

१०. कला और साहित्य, तारिणीचरण दास 'चिदानन्द', दिल्ली, १९६० ।
११. कला का विवेचन, सम्पादक, मोहनलाल महतो 'वियोगी', साहित्य निकुज सारन, १९९३ विक्रम ।
१२. कला क्या है ?—ताल्स्ताय, हिन्दी रूपान्तर, हिन्दी प्रचारक पुस्तकालय, वाराणसी, १९५५ ।
१३. काव्य और संगीत, लक्ष्मीधर वाजपेयी, प्रयाग, १९४६ ।
१४. काव्य और सगीत का पारस्परिक सबध, डॉ० उमा मिश्र, दिल्ली, १९६२ ।
१५. काव्य, कला तथा अन्य निवन्ध, प्रसाद, भारती भंडार, प्रयाग, सवत् २०१० ।
१६ काव्य मे अभिव्यजनावाद, डॉ० लक्ष्मीनारायण सुधाशु, तृतीय सस्करण ।
१७ काव्य मे उदात्त-तत्त्व, डॉ० नगेन्द्र, राजपाल एण्ड सन्स, दिल्ली, १९५८ ।
१८. चिन्तामणि, भाग १ और २, आचार्य शुक्ल, सरस्वती मन्दिर, काशी, सवत् २००६ विक्रम ।
१९. जीवन के तत्त्व और काव्य के सिद्धान्त, लक्ष्मी नारायण सुधाशु, ज्ञानपीठ, पटना ।
२०. ध्वनि और सगीत, ललितकिशोर सिह, ज्ञानपीठ काशी, प्रथम सस्करण ।
२१. प्राचीन भारत के कलात्मक विनोद, आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी, हिन्दी ग्रन्थ-रत्नाकर, बम्बई, १९५२ ।
२२. पाश्चात्य काव्यशास्त्र की परम्परा, सम्पादिका, डॉ० सावित्री सिन्हा, दिल्ली, प्रथम संस्करण ।
२३. बिहारी सतसई, साहित्य सेवासदन, बनारस, षष्ठ सस्करण ।
२४. भामह-विरचित काव्यालकार, भाष्यकार, प्रो० देवेन्द्र नाथ शर्मा, बिहार-राष्ट्रभाषा-परिषद्, पटना, १९६२ ।
२५. भारत की चित्रकला, श्री रायकृष्णदास, प्रथम सस्करण ।
२६. भारत-शिल्प के षडग, अवनीन्द्रनाथ ठाकुर, अनुवादक, महादेव साहा, इलाहाबाद, १९५८ ।
२७. भारतीय काव्यशास्त्र की भूमिका, डॉ० नगेन्द्र, ओरियटल बुक डिपो, दिल्ली, १९५५ ।
२८. भारतीय चित्रकला, श्री नानालाल चिमनलाल मेहता, हिन्दुस्तानी एकादमी, इलाहाबाद १९३३ ।
२९. भारतीय चित्रकला, असितकुमार हालदार, चन्द्रलोक प्रकाशन, इलाहाबाद १९५९ ।
३० भारतीय प्रतीक-विद्या, डॉ० जनार्दन मिश्र, विहार-राष्ट्रभाषा-परिषद्, पटना, १९५९ ।
३१. भारतीय मूर्त्तिकला, रायकृष्ण दास, नागरी प्रचारिणी सभा, काशी,

संवत् २००६।
३२. भारतीय वास्तुशास्त्र, डॉ० द्विजेन्द्रनाथ शुक्ल, प्रथम संस्करण।
३३ भारतीय साहित्यशास्त्र, बलदेव उपाध्याय, प्रथम खण्ड, काशी, संवत् २००७।
३४ मनोविश्लेषण और मानसिक क्रियाएँ, डॉ० पद्मा अग्रवाल, मनोविज्ञान प्रकाशन, बनारस, १९५५।
३५. मानव और संस्कृति, श्यामाचरण दुबे, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, १९६७।
३६. रस-मीमांसा, रामचन्द्र शुक्ल, काशी नागरी प्रचारिणी सभा, संवत् २००६।
३७. रस-सिद्धान्त : स्वरूप-विश्लेषण, आनन्द प्रकाश दीक्षित, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, १९६०।
३८ रामचरित मानस, तुलसीदास।
३९. वक्रोक्ति और अभिव्यंजना, रामनरेश वर्मा, ज्ञानमंडल, बनारस, संवत् २००८ विक्रम।
४०. विद्यापति, सम्पादक, मित्र-मजुमदार, नवीन संस्करण, २०१०।
४१ श्रीमद्भगवद्गीता रहस्य, लोकमान्य बालगंगाधर तिलक, अनुवादक, माधव रावजी सप्रे, पूना, १९५५।
४२ संस्कृत आलोचना, बलदेव उपाध्याय, प्रकाशन ब्यूरो, उत्तर प्रदेश, १९५७।
४३ संस्कृति का दार्शनिक विवेचन, डॉ० देवराज, प्रकाशन ब्यूरो, उत्तर प्रदेश, १९५७।
४४ सत्य शिव सुन्दरम्, डॉ० रामानन्द तिवारी शास्त्री, राजस्थान विश्व-विद्यालय, १९५७।
४५ साहित्य, संगीत और कला, कोमल कोठारी जोधपुर, १९६०।
४६ साहित्य और सौन्दर्य, डॉ० फतहसिंह, प्रथम संस्करण।
४७ साहित्यालोचन, डॉ० श्यामसुन्दर दास, इंडियन प्रेस, प्रयाग, संवत् २००८।
४८ सौन्दर्य-तत्त्व और काव्य-सिद्धान्त, डॉ० सुरेन्द्र बारलिंगे, अनुवादक, डॉ० मनोहर काले, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली, १९६३।
४९ सौन्दर्य-विज्ञान, हरिवंश सिंह, शास्त्री, काशी विद्यापीठ, १९३६।
५०. सौन्दर्यशास्त्र, डॉ० हरद्वारीलाल शर्मा, साहित्य-भवन, इलाहाबाद, १९५३।
५१ हिन्दी काव्यालंकार सूत्र, सम्पादक, डॉ० नगेन्द्र, दिल्ली, १९५४।
५२ हिन्दी के कृष्णभक्ति कालीन साहित्य में संगीत, डॉ० उषा गुप्ता, लखनऊ विश्वविद्यालय, विक्रमाब्द २०१६।
५३. हिन्दी शब्द-प्रकाश, डॉ० सत्यव्रत सिंह, चौखम्बा विद्याभवन, काशी, १९५५।
५४ हिन्दी वक्रोक्तिजीवित, सम्पादक, डॉ० नगेन्द्र, आत्माराम एण्ड सन्स, १९५५।

पत्र-पत्रिकाएँ

१. अवन्तिका, काव्यालोचनाक, पटना, वर्ष २, अक १, जून १९५४।
२. कला-निधि, वर्ष १, अंक १,२,३, काशी।
३. समालोचक (सौन्दर्यशास्त्र विशेषाक), आगरा।
४. सम्मेलन-पत्रिका, कला-अक, प्रयाग।
५. साहित्य (त्रैमासिक), पटना, वर्ष ६, भाग ७,८,१२।

बँगला

१. आर्य जाति शिल्प चातुरि, श्री श्यामा चरण, श्रीमानी, कॉलेज स्क्वायर, कलकत्ता, प्रथम सस्करण।
२. बागेश्वरी शिल्प प्रबन्धावली, अवनीन्द्र नाथ ठाकुर, कलकत्ता विश्व-विद्यालय प्रकाशन, १९४१।
३. भारत शिल्पेर षडग, अवनीन्द्र नाथ ठाकुर, विश्व भारती ग्रन्थालय, कलकत्ता।
४. यूरोपेर शिल्प-कथा, असित कुमार हालदार, कलकत्ता विश्वविद्यालय, प्रकाशन।
५. रवीन्द्र सगीत, शान्तिदेव घोष, विश्वभारती ग्रन्थालय, कलकत्ता।
६. रवीन्द्रायन, स० पुलिनबिहारी सेन, वाक् साहित्य, कलकत्ता।
७. रवीन्द्र नाथेर सौन्दर्य-दर्शन, प्रवास जीवन चौधरी, प्रथम सस्करण।
८. रूप-शिल्प, अर्द्धेन्दुकुमार गगोपाध्याय, प्रथम सस्करण, कलकत्ता।
९. सौन्दर्य-तत्त्व, डॉ० सुरेन्द्र नाथ दासगुप्त, प्रथम सस्करण।
१०. सौन्दर्य-दर्शन, प्रवास जीवन चौधरी, विश्वभारती ग्रन्थालय, कलकत्ता।

उर्दू

१. तारीखे जमालियात, अहमद सिद्दीक मजनू, अजुमन तरक्किए उर्दू, अलीगढ, १९५९।
२. शेरूल अजम, मौलाना शिब्ले नोमानी, मआरिफ प्रेस, आजमगढ, १९२३।

ENGLISH

Abstraction And Empathy, Wilhelmn Worringer, translated by Michael Bullock, Routledge & Kegan Paul, London, 1953.

A Critical History of Modern Aesthetics, The Earl of Listowel, George Allen & Unwin, London, 1933

A Dictionary of Psychology, James Drever, Penguin Books, 1956

Adventures of Ideas, A N Whitehead, Cambridge, 1933

Aesthetic, B Groce, translated by Austic Duglas, Vision Press, London, 1953.

Aesthetics And History, Bernard Berenson, London, 1950

Aesthetics And Psychology, Charles Mauron, translated from the French by Roger Fry and Katherine John, London, 1935

An Introduction to Biology, E J Hatfield, Oxford, 1948.

A General Introduction to Psycho-Analysis, Sigmund Freud, Perma Books, New York, 1956.

A History of Aesthetic, Bernard Bosanquet, George Allen & Unwin, London, 1949.

A History of Aesthetics, Kuhn and Gilbert, Macmillan Company, New York, 1939

A History of Criticism, Volume I, George Saintsbury, London, 4th edition

An Introduction to Modern Art, E H Ramsden, London, 1940.

An Introduction to Jung's Psychology, Frieda Fordham, Penguin Books, 1956

A Phenomenology of Mind, G W.F Hegel, translated by G B Baillie, George Allen & Unwin, London, 1955

A Propos of Lady Chatterley's Lover and other Essays, D. H Lawrence, Penguin Books, 1st edition

Aristotle's Theory of Poetry And Fine Art, translated by S H Butcher, Dover Publications, 1951

Art, Clive Bell, Chatto and Winders, London, 1920.
Art And The Ceative Unconscious, Erich Newmann, translated from German into English by Rolph Manhum, Routledge & Kegan Paul, London, 1959.
Art And Thought, edited by K. Bharatha Iyer, London, 1947.
Art As Experience, John Dewey, George Allen & Unwin, London, 1934.
Art And Experience, Prof. Hiriyanna, Mysore Kavyalaya Publishers, 1st edition
Arts And The Man, Irwin Edman, A Mentor Book, December, 1951.
A Study in Aesthetics, Milton H. Bird, Harvard University Press, Cambridge, 1932.
A Study on Vastuvidya, Tarapad Bhattacharya, Bankipore, Patna, 1947.

B

Baudelaire in 'French Symbolist Poetry', translated by C. F. MacIntyre, Berkeley, University of California Press, 1958.
Beauty And Other Forms of Value, S Alexander, London, 1933.
Beauty And Ugliness, Vernon Lee, John Lane Company, New York, 1912
Biographia Literaria, Coleridge, edited by Ernest Rhys, J. M. Dent & Sons, London, 1939.
Blake : A Psychological Study, W. P. Witent, Holis & Karter, London, 1946.
Blake Studies, Geoffrey Keynes, Rupert Hart—Davis, London, 1949.
Blake's Works, edited by Geoffry Keynes, Nonesuch Press, 1925

C

Cassel's Encyclopaedia of Literature, edited by S H. Stenborg, Volume I.
Catastrophe And Imagination, John McCormick, London, 1957.
Charles Baudelaire, translated by Geoffrey Wagner and an Introduction by Enid Starkie, London, 1946.

Classical Myths in English Literature, Dan S. Nortan and Peters Rushton, New York, 1952.
Coleridge on Imaginations, I A Richards, London, 1934
Coleridge's Literary Criticism with an Introduction by J. W Mackail, London, 1938.
Collected Papers on Psycho-Analysis, Ella Freeman Sharpe, The Hogarth Press, London, 1950
Commentary to Kant's Critic of Pure Reason, Norman Kemp Smith, Macmillan, London, 1961
Comparative Aesthetics, Dr. K C Pandey, Volume I & II, Banaras, 1950
Contemporary British Art, Herbert Read, Ist edition.
Contribution To Analytical Psychology, C G. Jung, Routledge & Kegan Paul, London, 1950, 1928.
Contribution to A Bibliography of Indian Art and Aesthetics, Haridas Mitra, Visvabharati, Santiniketan, 1951.
Creative Imagination, June E Downey, Kegan Paul, London, 1921
Creative Intuition in Art And Poetry, Jacques Maritain, The Harvill Press, London, 1954
Creative Mind, C Spearman, Nisbet & Co,, 1936
Criticism And Beauty, Arthur James Balfour, M.P , Oxford, 1910.

D

Dark Conciet, Edwin Honing, Faber & Faber, London, 1959
Dictionary by Littre (Dictionaire De La Langue Francaise, De E Littri, Paris, 1918)
Dictionary of World Literature, Joseph T. Shipley, Littlefield Adams, Paterson, 1962
Dreams And Nightmares, J. A. Hadfield, Penguin Books, 1954.
Dynamic Symmetry in Composition, J. Hambidge, New York, 1926

E

Encyclopaedia Britanica, Eleventh edition, 1910
English Bards and Grecian Marbles The Relationship between Sculpture and Poetry specially in the Romantic Period by Stephen A. Larrabee, New York, 1943

Essay on Criticism, Pope, edited by John Sargeaunt, Oxford, 1909.

Essays on Contemporary Events (a collection of Essays), Kegan Paul, London, 1948.

Experimental Psychology of Beauty, C W. Valentine, T. C. & E. C. Jack, London, Ist edition

F

Feeling And Form, Susanne K. Langer, Kegan Paul, London, 1953.

From Ritual to Romance, Jessie L. Weston, New York, 1957.

Freud · His Dream And Sex Theories, Joseph Jastrow, New York, 1948.

Fundamentals of Indian Art, S. N. Dasgupta, Bombay, Ist edition.

Further Speculations, T. E Hulome, Minnesote, 1955.

Further Studies in A Dying Culture, Cristopher Caudwell, The Bodley Head, London, 1950.

G

George Keyt, Martin Russell, Bombay, 1950.

H

Harmony Its Theory & Practice, Ebenzer Prout, Angener & Co., London, Ist edition.

Highways And Byways of Literary Criticism in Sanskrit, S. Kuppuswami Sastri, Madras, 1945.

History of Art, Jean Anne Vincent, Barnes & Noble, New York, 1958

History of Art, Elic Faure, translated from the French by Walter Pach, London, 1930.

History of Indian Epistemology, Dr. Jwala Prasad, Delhi-6.

History of Sanskrit Poetics, S. K. De, Calcutta, 1960.

History of Sanskrit Poetics, P. V. Kane, Bombay, 1951

I

Image And Experience, Graham Hough, London, 1960

Imagination, E J Furlong, George Allen & Unwin, New York, 1961.

Imagination And its Wonder, Arthur Lovell, Nichols & Co London, 1899.
Imagination in Landscape Painting, Philip Gilbert Hammerton, London, 1896
Indian Aesthetics, K. S Ramaswami Sastri, Srirangam, 1928
Indian Sculpture And Painting, E. B Havell, John Murrey, London, 1928

J

John Keat's Fancy, J R. Caldwell, Karnale University Press, 1945.

K

Ksemendra Studies, Dr Surya Kant, Poona, 1954

L

Language As Gesture, R P Blackmur, London, 1954.
Laoloon, Lessing, translated by E C Beasley, Ist edition
Lectures on Art, Ruskin, George Allen & Co , London, 1904.
Leonardo Da Vinci A Psychological Study of an Infantile Reminiscence, Sigmund Freud, translated by A A. Brill, Paul, London, 1948
Literature And Criticism, H. Coombe, Chotta & Windus, London, 1958
Literary Criticism A Short History, William K. Wimsatt and Cleanth Brooks, New York, 1959
Literary Criticism in Sanskrit And English, Prof D. S Sharma, Madras, 1950
Literary Symbolism, edited by Maurice Beebe, Wordsworth Publishing Company, San Francisco, 1960

M

Modern American Art, John I H Baur, Ist edition
Modern French Painters, Jan Gordon, Ist edition
Modern Man in Search of A Soul, C G. Jung, Kegan Paul, London, 1951
Music—The Listner's Art, Leonard G. Ratner, New York, 1957

Myths And Symbols in Indian Art and Civilization, Heinrich Jimmer, Pantheon Books, New York, 1953.

N

New World Dictionary of the American Language, Webster, New York, 1958.
Notes on Early Indian Art, Dr. Radha Kumud Mukerjee, Allahabad, 1939.
Nuttal's Standard Dictionary.

O

On the Indian Sect of The Jainas, John George Buhler, edited with an outline of Jain Mythology, J. A Burgress, London, 1903.
On The Sublime, Longinus, translated by H L. Havel, Every Mans Library, No. 901.
Oxford Lectures on Poetry, A. C. Bradley, Macmillan, London, 1950.

P

Painting And Reality, Etienne Gilson, London, 1957.
Paragone, Leonardo Da Vinci, translated by Irma A. Richter, London, Ist edition.
Philosophy In A New Key, Susanne K Langer, Cambridge, 1957.
Phsyiological Aesthetics, Grant Allen, London, 1877.
Poetic Imagery, Henery W. Wells, Columbia University Press, 1924.
Poetic Process, George Whalley, Kegan Paul, London, 1953.
Poetry And Experience, Archibald MacLeish, The Bodley Head, London, 1961.
Power of Mental Imagery, Warren Hilton, New York, 1927.
Principles of Indian Shilpasastra, Phanindra Nath Bose, The Punjab Sanskrit Book Depot, Lahore, 1926.
Principles of Literary Criticism, I. A Richards, London, 1955.
Psycho-Analysis And Art, K. Ahmad, Ajanta Press, Patna, 1953.

Psychological Studies in 'Rasa', Dr. Rakesh Gupta, Aligarh, Ist edition

Psychological Types, C G. Gung, translated by H. G Baynes, Kegan Paul, London, 1944

R

Realism And Imagination, Joseph Chairi, Barrie And Rockliff, London, 1966.

Relation In Art, Vernon Blake, Oxford University Press, 1925

Republic, Plato, Jowett's Translation, Paperbacks, Ist edition.

Revolution And Tradition In Modern Art, John I H. Baur, Ist edition

Rossetti, Lucien Pissarro, London, 1st edition

Rossetti, Dante and Ourselves, Nicolette Grav, London, 1945

S

Sadhana, Rabindranath Tagore, London, 1961.

Santayana And the Sense of Beauty, Willard E Arnett, Bloomington, 1957

Santayana's Aesthetics A Critical Introduction, Irving Singer, Cambridge, 1957.

Scepticism And Poetry, D. G. James, George Allen & Unwin, London, 1960

Science And Criticism, Herbert J Muller, New York, 1956

Science And Music, Sir James Jeans, Cambridge University Press, 1947

Selected Philosophical Essays N G Chernishavsky, Moscow, 1953

Shabar-Bhasya, translated into English by Ganga Nath Jha, Oriental Institute, Baroda, 1933.

Shakti And Shakta, Sir John Woodroffe, Madras, 1929

Some Concepts of Alankar Sastra, V Raghavan, Adyar, 1942

Some Problems of Sanskrit Poetics, S. K De, Calcutta, 1959.

Sound And Poetry, edited by Northrop Frye, New York, 1957.

Sound And Symbol, Victor Zuckerkandl, translated by Willard R. Trask, Pattian Books, 1956

Studies in Comparative Aesthetics, Dr Pravas Jivan Chaudhary, Santiniketan, 1953.

Studies on Jain Art, Imakant P. Shah, Jain Cultural Research Society, Banaras, 1955.
Studies in Sanskrit Aesthetics, A.C. Shastri, 1952.
Symbolism And American Literature, Jr. Charles Feidelson, Phoenix Books, The University of Chicago Press, 1962.
Symbolism : Its Meaning And Effect, A.N. Whitehead, University Press, Cambridge, 1928.
Symbolism A Psychological Study, Dr. Padma Agarwal, Banaras Hindu University, 1955.
Symbolisme from Poe to Mallarme, Joseph Chiari, London, 1956.
Symposium, Plato, The Penguin Classics, 1952.

T

Tanda Lakshanam [or The Fundamentals of Ancient Hindu Dancing], Venkata Narayanswami Naidu and others, Madras. 1936.
The A B C. of Indian Art, J. F. Blacker, Stanley Paul & Co., London, Ist edition.
The Achievement of T S Eliot, F.O. Mathiesen, Oxford University Press, 1959.
The Aesthetic Attitude, H. S. Longfild, Brace & Company, New York, 1920.
The Aesthetic Experience According to Abhinava Gupta, Raniery Gnote, Serries Orientale Roma XI, 1956.
The Appreciation of Art, Alfred C. Overtone, Allahabad, 1949.
The Art of William Blake, Enthony Blunt, Columbia University Press, 1959
The Beautiful · An Introduction to Psychological Aesthetics, Vernon Lee, Cambridge University Press, 1913.
The Beautiful, The Sublime & The Picturesque In Eighteenth Century British Aesthetic Theory, Walter John Hipple, Carbondale, 1957.
The Creative Impulse in Writing and Painting, H. Caudwell, Macmillan, London, 1953.
The Dance of Lord Shiva, Anand K. Coomarswamy, Ist edition.
The Descent of Man, Charles Darwin, Batts & Co , London, 1936

The Enjoyment And Use of Colour, Walter Sargent, New York, 1923.
The Forms of Things Unknown, Herbert Read, Faber & Faber London, 1960
The Foundations of Aesthetics, C K Odgen & I A Richards, London, 1922
The Humanities, Louise Dudley and Austine Fericy, Macgraw Hill, Book Company, New York and London, 1940.
The Imagery of Keats And Shelley, Richard Harter Fogle, Chapel Hill, 1949
The Importance of Scrutiny, edited by Erich Bentley, New York, 1948.
The Literary Symbol, W. Y. Tindall, Columbia University Press, New York, 1955
The Loves of Krishna in Indian Painting and Poetry, W Y Archer, London, 1957
The Meaning of Meaning, C. K Odgen and I. A Richards, Kegan Paul, London, 1956
The Modern Movement in Art, R H Wilenski, London, 1956
The Music of Poetry, T. S Eliot, Glasgow University, 1942
Theory of Literature, Rene Welleck and Austin Warren, New York, 1949.
The Outines of Mythology, Lewis Spence, Penguin Books, 1950
The Oxford Companion to English Literature, Compiled and edited by Sir Paul Harvey, Oxford, IIIrd edition
The Philosophy of Aesthetic Pleasure, Panch Pagesh Shastri, Annamalai University, 1940
The Philosophy of Art, Edward Howard Griggs, New York, 1913
The Philosophy of Art History, Arnold Hauser, Routledge & Kegan Paul, London, 1959.
The Philosophy of The Beautiful, William Knight, London, 1914
The Philosophy of Fine Art, Hegel, translated by Osmaston, G. Bell & Sons, London, Parts I, II, III & IV, 1920
The Philosophy of Literary Form, Kenneth Burke, New York, 1957.

The Philosophy of Modern Art, Herbert Read, New York, 1955.
The Philosophy of Rhetoric, I. A Richards, Oxford University Press, London, 1936.
The Philosophy of Symbolic Forms, Ernst Cassirer, translated by Ralph Manheim, New Haven, Yale University Press, London, 1953
The Pocket History of American Painting, James Thomas Flexoner, New York, 1950.
The Poetic Image, C D Lewis, London, 1947.
The Poetic Pattern, Robin Skelton, Kegan Paul, London, 1956.
The Principles of Art, R. G. Collingwood, Oxford at the Clarendon Press, Ist edition.
The Psychology of Imagination, Jean Paul Sartre, Rider & Company, London, Ist edition.
The Religion of Man, Rabindranath Tagore, The Hibbert Lectures for 1930.
The Road to Xanadu, John Livingston Lowes, Constable, London, 1951.
The Sankhya Karika of Isvara Krishna with an Introduction and Translation by S S. Suryanarayan Sastri, University of Madras, 1930.
The Science of Emotion, Dr Bhagawan Das, Adyar, Ist edition.
The Sense of Beauty, George Santayana, Dover Publication, New York, 1955
The Significance of Indian Art, Aurobindo, Bombay, 1947.
The Soul of Music, R. W. S Mendl, London, 1950.
The Story of Modern Art, Sheldon Cheney, New York, 1947.
The Symbolist Movement in Literature, Arthur Symons, E P. Dutton & Co , New York, 1958.
The Symbolic Process, John F Markey, Routledge & Kegan Paul, London, 1928.
The Theory of Beauty, E. F. Carritt, Methuen & Co , London, Ist edition.
The Transformation of Nature in Art, Anand K. Coomarswamy, Dover Publications, New York, 1956.
The True Voice of Feeling, Herbert Read, London, Ist edition.
Towards A Theory of the Imagination, S C Sengupta, Oxford University Press, 1959.

Two Lectures on An Aesthetic of Literature, B S Mardhekar, Bombay, 1944

V

Vision And Design, Roger Fry, Ist edition

Y

Yeats The Man and The Masks, Richard Ellmann, Macmillan & Co London, 1949

Magazines

Journal of The Indian Society of Oriental Art, Volume 10, 1942.
Scientific American, Volume 199, September, 1958
The 4 Arts Annual, Calcutta, 1936-1937
The Spectator, June and July, 1712

नामानुक्रमणिका